स्वप्नसिद्धि की खोज में

(लेखक की आत्मकथा का तीसरा भाग)
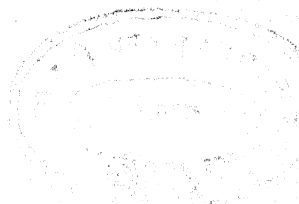
कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी

अनुवादक

प्रवासीलाल वर्मा मालवीय

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली   बम्बई   नई दिल्ली

प्रकाशक
राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड,
बम्बई

मूल्य पाँच रुपये

मुद्रक,
गोपीनाथ सेठ,
नवीन प्रेस, दिल्ली ।

सूची

पहला भाग

दूसरा भाग

१

प्रथम परिचय

अनेक पाठकों को ऐसा लगेगा कि यह भाग न लिखा गया होता, तो अच्छा होता। परन्तु इसमें उल्लिखित अनुभव, बचपन से सेवित कल्पना का परिपाक है। मेरे जीवन की जो-कुछ प्रेरणा और शक्ति है, उसका मूल भी इसी में है। इस भाग में उल्लिखित बातों का अनुभव जब मैं कर रहा था, तब मेरे मित्रों के प्राण निकले पड़ रहे थे, और निन्दकों को बड़ा मजा आ रहा था। इस निन्दा की आवाजें मुझे अब भी कभी-कभी सुनाई पड़ जाती हैं। परन्तु १९२२ से १९२६ तक, मेरा एक भी आचरण ऐसा नहीं था कि जिसका मुझे कभी पश्चात्ताप हुआ हो, या आज होता हो; मेरा एक भी काम ऐसा नहीं था, जिससे मुझे लजाना पड़े। ग्रीक कवि ऐस्काइलिस ने प्रोमेथियस से जो शब्द कहलाए थे, वे आज मैं कह सकता हूँ—

जो किया, वह मैंने किया,
स्वेच्छा से सत्कारपूर्वक,
स्वधर्म को सिर चढ़ाकर
इस कृत्य का अस्वीकार मैं
कभी नहीं करूँगा, कभी नहीं।[1]

इस भाग का आरम्भ मैंने तब किया था, जब सन् १९४५ में हम

---

१. Willingly Willingly I did it,
Never will I deny the Deed. —Aeschyles, *Prometheus*.

काश्मीर के पहलगाँव में थे। कुछ दिनों पहले ही लीला और मैं थिरकती, नाचती, कल्लोल करती आरू नदी के किनारे-किनारे अकेले घूमने निकले थे। अपूर्व एकात्मीयता का साक्षात्कार तब हम करते थे। हमारा छोटा-सा जगत् हमारी एकता पर रचा गया था। एक-दूसरे के बिना हम भविष्य की कल्पना करने में असमर्थ थे।

पीछे तेईस वर्षों का काटा हुआ पथ पड़ा था। इस पथ पर हमने सहधर्माचार का व्यवहार किया था। ऊर्मि, आकांक्षा, कर्तव्य और आदर्श का बढ़ता जा रहा संवाद हम साधते आ रहे थे। हम पर बहुत-सी विपत्तियाँ आई थीं। अनेक बार हमें काँटे चुभे थे। नित्य ही हम एक-दूसरे के हास्य और अश्रु के साथी बने थे। इस चौथाई सदी में हमारे बीच कभी कोई अन्तर नहीं आया था, और न कभी कोई भ्रम ही बीच में आकर खड़ा हुआ था। कभी-कभी जबकि हमें पारस्परिक एकता की कमी मालूम होने लगती, तब हमारे अविभक्त आत्मा पर बादल-सा छा जाता; परन्तु वह कुछ छींटे बरसाकर, एकता की कमी का ताप मिटाकर कुछ ही क्षणों में बिखर जाता।

उस समय हमें यह कल्पना करना कठिन हो गया कि १९२२ में हमारे बीच अन्तरायों का सागर लहराता था।

सन् १९१९ में लीला और मैं सबसे पहले कैसे मिले, यह बात 'सीधी-चढ़ान' में आ गई है। जब १९२२ के मार्च मास में मैंने 'गुजरात' नामक मासिक-पत्र निकाला तब हमारा परिचय अधिक नहीं था। २६ अप्रैल, १९२२ को उसने डुमस से 'श्री भाई कन्हैयालाल' को पत्र लिखा—बहुत ही तटस्थ भाव से।

> **आपका 'गुजरात' प्रकाशित हो गया होगा। कृपया ग्राहकों में मेरा नाम दर्ज करा दीजिएगा। 'गुजरात' का कार्यालय कहाँ है, यह मालूम न होने के कारण आपको पत्र लिखा है। कष्ट के लिए क्षमा कीजिएगा।**

साथ ही सौ० अतिलक्ष्मी को स्मरण किया गया और सरला, जगदीश

तथा उषा के प्रति शुभ कामना भेजी गई। उसके शिष्टाचार में तनिक भी कोताही या कमी न थी।

मैंने मई, १६२२ को 'बहन लीलावती की सेवा में' उत्तर लिखा, 'गुजरात' भेजा? "यह लिखना कि 'गुजरात' कैसा लगा। तुम इसके लिए कुछ लिख सकोगी?"—यह याचना थी। यह पत्र लिखते समय हृदय में ऊर्मि का आलोड़न जरा भी नहीं था, यह कहने के लिए मैं तैयार नहीं हूँ। फिर मैं महाबलेश्वर गया। वहाँ जून, १६२२ के पत्र के साथ 'कुछ रेखा-चित्र' में छपे हुए कुछ रेखाचित्र लीला ने भेज दिये। इस पत्र में उसने लिखा था—

> **एक बार आपने मुझे बिना माँगे 'Crack' ('चक्रम' या 'सनकी') की उपाधि दे दी है, अतएव आपके सामने अपने सनकी-पन का उदाहरण उपस्थित करते हुए जरा घबराहट मालूम होती है।···आप interesting (मनोरंजक) बहुत हैं। आप हमें मनुष्य के रूप में नहीं देखते; परन्तु वस्तुओं के रूप में जाँचते हैं। अतएव, घबराहट होनी ही चाहिए। आपके उपन्यासों के पात्रों की तरह, सभी में अपनी स्वस्थता बनाये रहने की सामर्थ्य कैसे हो सकती है? परन्तु जब तक आप सुन्दर उपन्यास लिखते हैं, तब तक आपको स्मरण किये बिना थोड़े ही रहा जायगा?**

यह पत्र मुझे महाबलेश्वर में मिला। इसे पढ़कर मेरे हृदय में जो तरंगें उठीं, उनको मैंने 'शिशु और सखी' में लिखा है। इस पत्र का उत्तर मुझे अपने पत्र-संग्रह में नहीं मिला। परन्तु शिष्टाचार के व्यवहार में भी अन्तर के भावों को स्पष्ट रूप से मैंने प्रकट किया होगा, ऐसा मुझे विश्वास है। स्नेह-सम्बन्ध करने का उसका जो निमन्त्रण था, उसका पूरा स्वागत उसने इसमें पढ़ा। उसे भी आनन्द प्राप्त हुआ—आवश्यकता से अधिक।

> **आपको पहचानने के तीन वर्षों बाद आपके स्वभाव के दूसरे रुख का तनिक-सा दर्शन प्रथम बार ही हुआ, और वह 'गुजरात' के कारण। वर्षों का सहवास होते हुए भी कितने प्राण यह सौभाग्य**

प्राप्त करने को भाग्यशाली न हुए होंगे? परन्तु यह कितनी मँहगी वस्तु है?

न जाने क्यों, कई बार मुझे ऐसा लगा था कि स्त्रियों के प्रति आपकी धारणा अच्छी नहीं है। आपके कल्पना-प्रदेश की सुन्दरियाँ बहुत ही सुन्दर होती हैं, यह ठीक है; परन्तु उन्हें सुन्दर बनाने में तो कलाकार को स्रष्टा का-सा आनन्द प्राप्त होता है। किन्तु कल्पना-मूर्ति वास्तविक जगत् में आने पर, स्त्रियों को रुलाने, रिझाने, फुसलाने और खिलाने के सिवा आपको कोई अधिकार है, शायद ही यह आपने अनुभव किया हो—अनुदारता के कारण नहीं, परन्तु स्त्रीत्व की परख न कर सकने के कारण। 'गुजरात' के उपन्यासकार ने स्त्रियों को अपने हृदय से निष्कासन — देश-निकाला—नहीं दे दिया है, यह मैं अब देख और समझ चुकी हूँ। (११-६-२२ ई०)

पत्र में अतिलक्ष्मी, सरला, जगदीश और उषा को स्मरण किया गया था।

मेरे पत्रों के द्वारा उसने मेरे हृदय को परखा। उसके पत्रों द्वारा मैंने अपने जीवन में प्रवेश करने की उसकी उत्कण्ठा पढ़ी। इस प्रकार 'आत्मा ने आत्मन् को पहचाना'। साधारणतया जब प्रेम का आरम्भ होता है, तब एक जन प्रेम में पड़ता है और दूसरा उसे पड़ते हुए झेलता है; परन्तु हम तो साथ ही पड़े और साथ ही झेले गए। एक महान् प्रबल शक्ति हमें एक दूसरे का बना रही थी।

इसके बाद हमारा साहित्य-विषयक पत्र-व्यवहार शुरू हुआ। "यदि कुछ न लिखोगी, तो भविष्य की जनता के दरबार में तुम्हें क्या दण्ड मिलेगा, यह लिखकर मैं तुम्हें घबरा डालना नहीं चाहता," मैंने लिखा (२८-२-२२)। लीला ने उत्तर दिया—

कुछ लोगों को परमेश्वर धृष्ठता करने की आज्ञा प्रदान कर देता है। उनमें से आप भी एक हैं—यह मानकर भविष्य

की जनता के दरबार में साक्षी देने बैठें, तो हम-सरीखों पर दया कीजिएगा। नहीं तो 'तनिक-सी चींटी साँप को खाय' के अनुसार हम सब इकट्ठे होकर, आप पर अनेक आक्षेप करके, आपके लिए आफत बन जायँगे। घबरा डालने की शक्ति का उपहार केवल आप ही को नहीं मिला है, यह अब स्वीकृत न कीजिएगा?"
(३. ८. २२)

लीला ने रेखा-चित्र का दूसरा मनका भेजा। मैंने जब उसके छपे हुए फार्म भेजे, तब उसने अनेक सच्ची-झूठी अशुद्धियाँ निकालीं।

बड़ों की भूलें निकालते हुए ज्यों बालकों को प्रसन्नता होती है, त्यों मैं आपके भय से मुक्त होने का इस प्रकार मार्ग खोजती हूँ। परन्तु इसके लिए कोई दूसरा अच्छा ढंग खोज निकालना होगा। कुछ बताइएगा? (१७. ८. २२)

इस प्रकार एक-दूसरे की मसखरी करके हम अन्तरायों का भेदन कर रहे थे।

बाबुलनाथ के सामने मैं दूसरी मंजिल पर रहता था। १६२२ के अक्टूबर में लीला के सौतेले पुत्र ने नीचे वाला फ्लैट किराए पर लिया। एक दिन रात को भोजन करके मैं सोफे पर लेटा हुआ ब्रीफ पढ़ रहा था और नीचे से लीला के गाने की आवाज ऊपर आ रही थी। मेरे हृदय के तार झनझना उठे।

यह बात मुझे अच्छी तरह याद है। दो वर्ष की उषा सदा की भाँति मेरी छाती पर औंधी पड़ी थी। यह उस समय बहुत छोटी, गोरी, सुन्दर और हृष्ट-पुष्ट थी। वह बोलती बहुत कम, रोती बिलकुल नहीं, और जब मैं रात को भोजन करके लेटा हुआ ब्रीफ पढ़ता, तब वह आकर मेरी छाती पर, मगर की तरह औंधी पड़ जाती और थोड़ी-थोड़ी देर में, बिना बोले, सिर उठाकर, सुन्दर आँखों से मेरे मुख की ओर, ब्रीफ के पत्रों की ओर या सामने बैठकर हिसाब लगा रही या कढ़ाई का काम कर रही अपनी माँ के सामने टुकुर-टुकुर देखा करती। कुछ देर वह इस प्रकार पड़ी रहती और फिर

छाती पर से अलग होकर अपनी माँ के पास या नौकरानी के पास चली जाती। इस प्रकार मेरी छाती पर चढ़कर सोना, वह अपना राज्याधिकार समझती थी।

उस दिन सन्ध्या समय अहमदाबाद से लौटकर लीला ऊपर सबसे भेंट कर गई थी।

उस समय लीला के जीवन या उसके गृह-संसार की मुझे बहुत ही कम जानकारी थी। परन्तु अपनी वृत्ति के विषय में मुझे जरा भी शंका न रही। छुटपन से ही मैंने 'देवी' का ध्यान और चिन्तन किया था, उसे खोज निकालने के असफल प्रयत्न किये थे। उसे प्राप्त करने के लिए हजारों बार ईश्वर से आक्रन्दपूर्वक विनय की थी। उसे ही अपने जीवन की स्वामिनी समझकर मैं कल्पना-विलास की प्रेरणा से जीवन बिता रहा था। वही 'देवी', मेरे ध्यान और चिन्तन के बल से, साक्षात् आकर खड़ी थी। तभी से यह भान मेरे मन पर अधिकार कर बैठा।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द की मेरी शक्ति लीला के विषय में अतीव सूक्ष्म बन गई। क्षण-क्षण उसके बाल, उसकी चाल, उसके कपड़े पहनने का ढंग मुझे दिखलाई पड़ने लगे। यही नहीं कि उसकी आवाज मुझे सुनाई पड़ती रहती, किन्तु वह नीचे अपने घर में या बाग में होती तब भी मेरी कर्णेन्द्रिय उसकी आवाज को चाहे जितनी दूर से भी सुन सकती थी। सीढ़ियों पर चढ़ते हुए पैरों की आवाज से मैं उसके पैरों की ध्वनि तुरन्त पर खसकता था। कई बार तो उसके आने से पहले ही मुझे यह भान हो जाता कि वह अभी आएगी। जागते हुए मुझे ऐसा लगा करता कि कोई कभी अनुभव न हुआ स्पर्श मुझे हो रहा है। मेरे खयाल से लीला एक विशेष प्रकार की सुगन्ध-सुवास ले आती थी। सच बात तो यह थी कि प्रणय ने मेरी सारी शक्तियों को तीव्र और असाधारण बना दिया था। उनमें से अनेक तो चौथाई सदी के सहचर्य से भी क्षीण नहीं हुईं।

१६२२ में मैंने जीवन में बहुत श्रम किया और बड़े प्रयत्न से अपना

संसार सुघड़ बनाया था। वास्तविक संसार को मैं अच्छी तरह जानता था। इसलिए इस क्षण मेरे जीवन में 'देवी' का साक्षात्कार हो, यह एक महान् भयंकर विपत्ति थी। यह मैं तुरन्त समझ गया। जो गगनचुम्बी लहरें मेरी रगों को कम्पायमान कर रही थीं, उन्हें मैं गलत नाम नहीं दे सका। प्रणय मुझे ग्रसित कर रहा था—त्यों ही, ज्यों दमयन्ती को अजर निगल रहा था। इस भयंकर अनुभव का विचार करने के लिए मैं अक्टूबर की छुट्टी में माथरान गया। लक्ष्मी अस्वस्थ थी, इसलिए बम्बई में ही रही। मैं जगदीश को साथ ले गया। मेरे पैर फिसल जायँ, तो उसके सहारे की मुझे आवश्यकता थी।

यह पन्द्रह दिनों के दुःख की कहानी कही जाने जैसी नहीं है। जिस मकान में मैं टिका था, उसका नाम था 'डेल'; मैं उसे अब तक 'हेल'—नरक—कहता हूँ। चित्त स्थिर करने के लिए मैं दिन में तीन बार ध्यान करने को बैठा। सारे दिन योगसूत्र का स्वाध्याय करता। भगवान् पातंजलि को कभी विचार भी न हुआ होगा कि उनके सनातन सूत्रों का ऐसा उपयोग होगा! सन्ध्या समय मैं पंखीवन—Bird wood Point—पर जाता था। इन वर्षों का यह मेरा प्रिय स्थान था। वहाँ बैठकर अनेक बार एकाकी हृदय की वेदना को मैंने निःश्वास रूप में बाहर किया था। पुनः वहाँ बैठकर मैंने बुद्धिमानी,कर्तव्य, स्वधर्म, भूत और भावी जीवन आदि का विचार किया था।

लीला स्वभाव और निष्ठा से कैसी थी, इसका मुझे खयाल नहीं था। मेरे साहित्यिक मित्र चन्द्रशंकर पंड्या, इंदुलाल याज्ञिक और विभाकर की वह मित्र थी। मनसुखलाल मास्टर उसे अपनी भानजी मानते थे। अपना संसार मुझे अभेद्य रखना था। पत्नी और बालकों के प्रति अन्याय नहीं करना था, समाज में प्रतिष्ठा नहीं खोनी थी और 'देवी' को भी नहीं छोड़ देना था।

आखिर मैंने संकल्प किया : एक—आठ वर्ष की उमर से ध्यान में लाई हुई 'देवी' आई थी, उसे त्यागकर, मैं 'आत्मघात' नहीं करूँगा; दो

—तप के बिना प्रणय-भावना नष्ट हो जायगी; अतएव मुझे भगवान् पातंजलि की आज्ञा के अनुसार कामेन्द्रिय-शुद्धि पर ही अपने सम्बन्ध को रचना चाहिए; तीन—अपने संसार के प्रति मुझे कर्तव्य-भ्रष्ट नहीं होना चाहिए।

यह संकल्प मैंने बड़े दीनभाव से किये। मेरे हृदय में आनन्द नहीं था विषय-लालसा नहीं थी, कर्तव्य की आरी मुझे दूर नहीं कर देनी थी। मुझे केवल प्रेम-धर्म का, जो मेरा 'स्वभाव नियत' धर्म—स्वधर्म—था, द्रोह नहीं करना था। उससे मुझे मर जाना अधिक अच्छा लगा।

मैं अच्छी तरह गढ़ा गया वकील, ऐसे पागलों-जैसे संकल्प कैसे कर सका? सम्भव है मेरे स्वभाव के दो पक्ष हैं। भावना सिद्ध करने की उत्कण्ठा उसका शुक्ल पक्ष है।

वजीर बिल्डिग के नीचे वाले फ्लैट के बरामदे में लीला अपना पचरंगी दरबार लगाती थी।

उसमें विद्वान्, प्रशंसक और गप्प लड़ाने वाले भी आते थे। चन्द्रशंकर का और हमारा मण्डल तो था ही। नरुभाई सोलिसिटर भी आते थे। मनसुखलाल मास्टर भी कभी-कभी आते थे। चेम्बर से लौटते हुए, रात को साढ़े सात-आठ बजे मैं इस दरबार में दाखिल होता। वहाँ साहित्य की चर्चा होती, हँसी-मजाक होता, खिल्लियाँ उड़ाई जातीं। कभी-कभी ऐसा भी होता कि हम लोग भोजन करके अपने घर में बैठे होते और लीला ऊपर आ जाती। 'गुजरात' को चलाने में हम सहयोगी बन गए थे; अतएव उसकी योजनाओं को बनाना-बिगाड़ना हमारा प्रिय विषय था।

ज्यों सूर्य के उगते ही पँखुड़ियाँ खिल जाती हैं, त्यों ही मेरा स्वभाव, शक्ति और कल्पना खिल उठे। अपने रोजगार और साहित्य में मुझे नई सिद्धियाँ मिलीं। लीला के प्रभाव को पहले मैंने 'प्रेरकता' शीर्षक निबन्ध में चित्रित किया। इसका पहला चित्र, 'स्त्री संशोधक-मण्डल का वार्षिक समारम्भ' नाम कहानी में दिया। हमारे सम्बन्ध का रूप पहले ही से भिन्न था। मैं बड़ा अधीर और अपना अधिकार जताने वाला था; अतएव मैं अपनी मालिकी का हक चलाने लगा, और लीला उसे स्वीकृत करने

लगी। 'गुजरात' की व्यवस्था करने के कारण, कई बार वह मेरे आने से पहले ही दरबार बरखास्त कर देती।

हमारे साथ लीला एक अंग्रेजी नाटक देखने गई, तब उसके टिकट के पैसे मैंने दिये। उसका नियम था कि जब वह मित्रों के साथ नाटक देखने जाती, तब अपने टिकट के पैसे वह खुद ही देती। वह ऐसा मानती थी कि इससे उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा होती है। नाटक देखने के दूसरे दिन उसने मुझे दस रुपये का नोट भेजा। मुझे बुरा लगा और मैंने नोट लौटा दिया। उसने अपना नियम आगे रख दिया। दो-तीन बार वह नोट नीचे गया और ऊपर आया। अन्तिम बार मैंने उस नोट के टुकड़े-टुकड़े करके लौटा दिये। मैं उसके अन्य मित्रों की पंक्ति में बैठने को तैयार नहीं था। बहुत वर्षों बाद जब हम साथ बैठकर अपने सम्भालकर रखे हुए पत्र इकट्ठे करने बैठे, तब उस नोट के टुकड़े निकले। उसने उन्हें सँभाल रखा था।

मुझे लीला के गृह-संसार की अधिक जानकारी नहीं थी। उसके पति लालभाई सवेरे दस-ग्यारह बजे उठते, दोपहर में अपनी गद्दी पर जाते, और बड़ी रात गये मौज से घर आते। उसका सौतेला लड़का मित्रों के साथ मौज करता था। लीला अपना सारा समय साहित्य-रसिक मित्रों के साथ पढ़ने, चित्रित करने या गाने में बिताती। उसके घर में चार दीवारें थीं और वह ऊपर से अच्छा छाया हुआ भी था; पर उसमें प्राण नहीं थे।

सोलिसिटर नरूभाई मेरे सगे भाई की तरह थे। दो वर्ष पहले जब उनका पुत्र माथरान में बीमार पड़ा था, तब लीला ने उसकी सेवा की थी। तभी से उनका परिचय था। एक दिन नरूभाई लीला को लेकर मेरे पास आए। लालभाई बड़ी विपत्ति में थे। वे स्वतः बड़े शिथिल और व्यसनी, लड़का अविचारी और सट्टे का शौकीन, मुनीम लोग लूटने वाले। अपनी पेढ़ी—दूकान—पर, पुत्र पर या मुनीमों पर जरा भी अंकुश रखने में लालभाई असमर्थ थे। उन पर अनेक दावे हो गए थे; पर इसकी किसी को परवा नहीं थी। अपने-आप ही प्रतिवर्ष समृद्धि क्षीण होती जा रही थी, और निर्धनतासिर पर आकर खड़ी थी। विपत्ति दूर करने का एक

ही मार्ग मुझे दिखलाई पड़ा। किसी योग्य व्यक्ति के हाथों में व्यवस्था सौंपी जाय, पिता, पुत्र और मुनीमों पर अंकुश रखा जाय और खर्च उचित-रूप से करके सब जल्दी ही समेट लिया जाय, तो प्रतिष्ठा और कुछ धन बचाया जा सकता है। सारे घर में काबिल एक लीला ही थी, इसलिए उसे हिस्सेदार बनाकर लालभाई ने उसे व्यवस्था सौंप दी। उसे कोई विश्वासपात्र आदमी न मिला, इसलिए मेरे कहे अनुसार शंकरप्रसाद रावल को मुनीम नियत कर दिया। यह मेरे बचपन के स्नेही और साहित्य के रसिक थे, इसलिए मुनीम की गद्दी पर बैठे-बैठे भी हमारी साहित्य-प्रधान मैत्री की कौमुदी में आनन्द से विचरने लगे।

भूलेश्वर में दुकान पर जाना और ठिठोली करते मुनीमों के साथ काम करना लीला को न रुचा। कुछ दिन बाद अपरिचित और कुत्सित स्वभाव वाले पुरुषों के वातावरण से लौटते हुए उसकी आँखों में आँसू भर आते थे। परन्तु वह स्वभाव से बहादुर और फिर शंकरप्रसाद की मदद काफी; इसलिए इसकी नैया डगमगाने लगी। एक दिन शाम को मेरे चेम्बर में नरूभाई अपने असीलों को लेकर आए। हमारी बातचीत खत्म होते ही लालभाई अपनी पेढ़ी—दूकान—पर चले गए और लीला ने अपनी मोटर में मुझे साथ आने को निमन्त्रित किया।

वह सन्ध्या मेरे हृदय पर अंकित हो गई है। तेईस वर्ष की इस युवती की साहित्य-रसिकता, व्यवहार-बुद्धि, आत्मगौरव और अदिगता का मुझे परिचय था। साथ ही उसके भयंकर एकाकीपन का भी कुछ दर्शन हो गया था। पहली बार जब मोटर में हम अकेले मिले, तब अपरिचित क्षोभ ने हमें अवाक् कर दिया। लीला ने साधारण बातचीत आरम्भ की। फोर्ट से हम लोग वरली की ओर घूमने गए। बाला और एक वृद्ध-सम्बन्धी दम्पती के साथ वह काश्मीर किस प्रकार हो आई, गतवर्ष बाला के साथ दक्षिण का कैसे पर्यटन किया—यह सब बातें उसने एक साँस में कह डालीं।

हम दोनों बातचीत करने का उपक्रम करते, किन्तु दोनों के हृदय में अजब-सा भावोद्रेक था। हम वहाँ से हैंगिंग गार्डन आए और घूमने को

उतर पड़े। जैसे आकाश के ऊपर हम खड़े हों, इस प्रकार नीचे बिजली की बत्तियाँ तारों की तरह चमक रही थीं। बातचीत करते-करते हम लोगों के बीच चर्चा छिड़ गई कि स्त्री और पुरुष के बीच मित्रता हो सकती है या नहीं।

पुरुष स्त्री में केवल विषय-तृप्ति खोजता है, वह स्त्री के साथ समानता की भूमिका पर मैत्री नहीं रच सकता, पुरुष स्त्री को तुच्छ समझता है—ऐसे, पढ़ी-लिखी स्त्रियों को सदा प्रिय लगने वाले, विषयों की चर्चा लीला छेड़ती थी।

"तुम्हें पुरुषों का बहुत कटु अनुभव हुआ मालूम होता है। कोई मित्र द्रोही तो नहीं हो गया? मित्रता टूट गई हो, तो लाओ जोड़ दूँ," कुछ मज़ाक में मैंने कहा।

लीला बाघिन की भाँति मेरी ओर घूमी। "मुझे किसी की मदद या मेहरबानी नहीं चाहिए," उसने कहा। मुझे अपनी मूर्खता तुरन्त समझ में आ गई। 'I am sorry' मैंने कहा। मिनट-भर कोई न बोला और हम हँस पड़े। बिना बोले हम एक-दूसरे से परिचित हो गए हैं—यह प्रतीति होते ही क्षण-भर के लिए हमने आनन्द-मूर्च्छा का अनुभव किया और वहाँ से हम लोग लौट आए।

यह भान होने से मुझे बड़ा दुःख हुआ। 'जीर्ण मन्दिर'[1] का पहला मनका मैंने लिख डाला। इसमें, जीर्ण मन्दिर के रूप में मैंने नये यात्री से रोकर विनय की थी कि तू मेरी युगों की शान्ति को भंग न करना। यह लेख मैंने लीला को दे दिया।

> **अपनी अपूर्वता के काल में हृदय में उतारा हुआ नाद अब मैं कैसे सुन सकूँगा? उस नाद में मोह है, उत्साह है, मद है, पागलपन है। मुझसे अब वह नहीं सुना जायगा। वह नाद विस्मृत प्रतिध्वनियों को जगाएगा। इससे मेरे मनोरथों की भस्म**

---

१. लीलावती मुँशी—'जीवन माँ थी जड़ेली' में यह लेखमाला कुछ परिवर्तन के साथ छपी है।

में स्फुरण पैदा होगा। विनाश की प्रतीक्षा करती मेरी आत्मा तड़प-तड़प उठेगी। मेरा जला हुआ हृदय, फिर से जलकर खाक हो जायगा भाई, ऐसा निर्दय आचरण क्यों?

दूसरे दिन यात्री को उत्तर के रूप में उसका दूसरा मनका उसने लिखा।

मन्दिरराज, इतना रुदन क्यों कर रहे हो! भटकता यात्री विश्राम के लिए तुम्हारे पास न आएगा, तो जाएगा कहाँ?··· तुम्हारे घंटानाद की प्रतिध्वनि मन्दिर में ही नहीं, परन्तु मेरे अन्तर में भी होती है। अकेले रह गए देवता में भी इससे चेतन का स्मरण होता दिखलाई पड़ता है। तुम्हारे एक-एक पत्थर में लिखी गई कुछ अत्यन्त पुरानी कहानियों में सजीवता आ जाती है। अब भी तुम इन्कार करोगे?

तुम्हें भय होता है? तुम्हारे गौरव की क्षति होगी, ऐसा तो तुम्हें नहीं लगता? अपनी विशालता में मुझ-से एक प्रवासी को तुम नहीं समा ले सकते हो?

इस प्रकार पत्रों द्वारा मानसिक एकता उत्पन्न करने का प्रयोग हमने शुरू किया।

मैं कोर्ट जाने के लिए नीचे उतरता, तब बाहर की गेलेरी में लीला बैठी ही दिखलाई पड़ती, इसलिए दो मिनिट के लिए मैं मिल लेता। शाम को कोर्ट से लौटते समय आधा घंटा वहाँ हम बैठते। कभी-कभी रात को वह ऊपर आ जाती। हम साहित्य की चर्चा करते, साहित्य में हमारा सह-धर्माचार कैसे बढ़े, इसकी योजना करते। प्रत्येक वस्तु की चर्चा की जाती और मित्रों का मखौल उड़ाया जाता। इस प्रकार बिना बोले जगत् को एक दृष्टि से देखने की हमें आदत पड़ने लगी। मेरी चित्रमय कथन-शक्ति ने मर्यादा त्याग दी। वह दरबार लगाकर बैठती, इसलिए मैं उसे 'डुगडुगी माता' कहता या High Priestess—महाअधिष्ठात्री—कहकर सम्बोधन करता। सफेद खादी की साड़ी पहनकर और रुद्राक्ष की माला धारण करके वह दिल-रुबा या वीणा बजाती, पास ही पुस्तक भी पड़ी होती; इसलिए कभी-कभी

मैं उसे 'वीणापुस्तकधारिणी' की उपाधि देता। मैं किसी समय उज्जयिनी का कवि था और वह पुजारिन, यह तुक्का भी छोड़ा गया। हमारी आत्मा एक है; सर्जनकाल में उसके दो भाग करके सर्जनहार ने समय के प्रवाह में फेंक दिये और अनेक अवतारों के बाद हम फिर मिले। मेरी यह कल्पना केवल तुक्का न रह गई, परन्तु दृढ़ धारणा में बुनी जाने लगी। इनमें से अनेक कल्पनाओं को मैंने 'शिशु अने सखी' में शब्द-शरीर दिया है।

लीला और मैं बहुत ही चुटीला हँसी-मजाक करते थे। उसके अच्छे अध्ययन के कारण हम विविध विषयों पर बातें कर सकते थे। मेरी आकांक्षाएँ वह समझ जाती और उनमें दिलचस्पी लेती थी। सहयोगी के बिना अभी तक मेरा हृदय तड़पता था, अब उसमें अपरिचित शक्ति और उत्साह का संचार हुआ। उस समय मेरी अधीरता और गर्व का पार नहीं था, इसलिए मैं कई बार चिढ़ जाता और मुझे अनुकूल करने के लिए यह विद्रोही किन्तु प्रेम-विवश युवती भगीरथ प्रयत्न करने लगी।

अपने 'प्रिय आत्मा को' पत्र लिखकर वह अकेली-अकेली उसे समझाती है—

प्रिय आत्मा···! शुष्क जीवन से तू थक गया था। एक संवादी आत्मा के हृदय में कुछ स्थान प्राप्त करके तुझे यह शुष्कता भुला देनी थी। तेरी यह इच्छा पूर्ण हुई। यह आत्मा तेरी सर्वस्व है और तू उसका सर्वस्व है, यह बात सच न हो, तब भी तू तो यह मानता ही है। यह बात झूठ साबित हो, उससे पहले तू मर मिटना···

वह भी स्पष्टदर्शी थी।

तू जीवन के प्रति विद्रोह करता है। साथ ही तुझे जीवन-साथी की आवश्यकता है। अपने एकाकीपन का गौरव तू फिर नहीं ला सकता और वह फिर लाएगा तो तू मरणासन्न हो जायगा। सहचार के बिना तू जी नहीं सकता और सहचार से तुझे दुःख होता है।

मैं और लक्ष्मी अपने मित्र गुलाबचन्द जौहरी के साथ इस समय विलायत जाने का विचार कर रहे थे। मास्टर मनसुखलाल ने आकर एक दिन कहा कि हम लीला को भी साथ ले जायँ। 'उसे जाने की बड़ी इच्छा है।' बहुत समय से आकांक्षित यात्रा का रूप-रंग बदल गया और हम दोनों यह बातें करने बैठ गए कि यूरोप जाना हो, तो क्या-क्या देखा जाय। हमारी मैत्री हमारे जगत् में प्रसिद्ध हो गई, और वह रस ले-लेकर हमारी बातें करने लगा।

२

पत्र-जीवन का प्रारम्भ

भावनगर के देसाई परिवार का झगड़ा हाईकोर्ट में पहुँच गया था। उसके साक्षियों की जाँच के लिए कमीशन भावनगर गया। एक पक्ष की ओर से सोलिसिटर मंचरशाह ने मुझे नियत किया। मैं भावनगर को रवाना हुआ, तबसे हमारा पत्र-जीवन प्रारम्भ हुआ। दिन में दो-दो, तीन-तीन पत्र लिखना, आधे लिखे पत्रों में घण्टों कुछ और बढ़ाते जाना, बम्बई में रहने पर भी ऊपर-नीचे पत्र भेजना हमारा जीवन-क्रम हो पड़ा। वास्तविक जीवन में हम केवल शिष्टाचार के यन्त्र बने घूमते थे, और पत्रों में और पत्रों द्वारा हम जीते थे। इन पत्रों में तादात्म्य-साधना की साध है, धृष्टता है और व्यंग्य-विनोद भी है। कहीं-कहीं सुन्दर साहित्य है, और समकालीन संसार का प्रतिबिम्ब भी है।

इस प्रकार प्रणय-वसन्त के पक्षी बनकर अपनी कल्पना के गगन में हमने विचरण किया।

इन पत्रों में हमारे अविभक्त आत्मा के आनन्द या आक्रन्द के स्वर हैं। हमने मुक्तकण्ठ से गाया—कोई सुने इसलिए नहीं, गीत गाने के परम उल्लास के लिए। हम इसे रोक नहीं सके। यह समृद्धि हमारी नहीं, जिस शक्ति ने हमें यह गीत गाने की प्रेरणा की, उसकी है।

यह पत्र प्रकाशित किये जाएँ या नहीं, इस पर हमने बहुत-बहुत विचार किया।

मैं पहली दिसम्बर की रात को भावनगर के लिए रवाना हुआ। मध्य-रात्रि के बाद लीला उठी और 'प्रिय बाल' को सम्बोधन करके पत्र लिखा——

मैं चौंककर जाग पड़ी। मैं स्वप्न देख रही थी कि हम छोटे बालक थे, और एक द्वीप में रहते थे। यह विचार मेरे मन में घुला ही करता है। ऐसा हो पाता, तो कितना अच्छा होता! इसमें कितना-कितना अधिक अर्थ होता!

तुम तो इस समय सो रहे होगे। आधा स्वप्न देखते, आधा हँसते मैं तुम्हारी कल्पना करती हूँ। चन्द्रिका तुम्हारे मुख पर खेल रही है। स्वप्नों का अच्छी तरह आनन्द लेना। (१. १२. २२)

परन्तु यह पत्र लीला ने मुझे नहीं भेजा। कई महीनों बाद मुझे यह पढ़ने को मिला। मैं ट्रेन में लीला के ही विचार करता था। जगत् में वह थी, और इस कारण जगत् जुदा ही तरह का बन गया था। रास्ते में बढ़वान स्टेशन पर मेरे मित्र आचार्य मिले। उन्होंने ध्रांगध्रा में बैठे हुए मेरे 'पतन' की बातें सुनी थीं। लोगों के मुँह-लगी स्त्री की मैत्री छोड़ देने के लिए उन्होंने मुझसे बहुत ही अनुनय-विनय की।

भावनगर पहुँचकर मंचरशाह और मैं नाकूबाग में ठहरे और मैंने अपने टाइपिस्ट से अँग्रेजी में 'प्रिय लीला बहन' को पत्र लिखवाया। उसी दिन मैंने दूसरा पत्र गुजराती में लिखा——

क्या लिखूँ? लिखते कलम टूट जाय तो? तुम्हारे अनेक मित्रों में से एक ही मित्र से पत्र पढ़ने की फुरसत मिलेगी? महा-अधिष्ठात्री के दरबार का समय हो जाय तब? कानून के पण्डित की शान्त और स्वस्थ कलम को शोभा न देने वाला पत्र लिखा जाय तब?

स्टेट के बँगले में ठहरे हैं मैं और मेरे शुष्क सोलिसिटर मंचर-शाह। सब प्रकार की सुविधा है, परन्तु बम्बई को कहीं भावनगर में खींचा जा सकता है? माथा फिरा देने वाली महत्ता मुझे दी जाती है। माथा फिर भी जाता है सचमुच। परन्तु जुदा ही कारण

से गोल्डस्मिथ के मुसाफ़िर की पंक्तियाँ याद आती हैं—'एकाकी और स्वजनहीन, म्लान और मन्दगामी'।

फिर व्यंग्य और विनोद। और फिर गम्भीरता आ जाती है—

कल से भावनात्मक और वास्तविक सृष्टि के बीच सामंजस्य स्थापित करने के कुछ प्रयत्न आरम्भ किये हैं···यूरोप की यात्रा के विषय में जुदे ही विचार आते हैं। अभी कुछ नहीं सूझता, परन्तु नया तत्त्व उसमें प्रविष्ट हुआ है। मेरे प्राणों पर चाहे जितने अत्याचार हों, परन्तु सत्य मार्ग दिखलाने के लिए अपनी बुद्धि से अनुनय-विनय कर रहा हूँ। महीने-भर पहले तो सरलता से निश्चय किया था, परन्तु अब वैसा नहीं हो सकता। जीवन के महान् प्रश्न, दूनी जवाबदेही, आत्मसिद्धि के निमन्त्रण, नया दृष्टिबिन्दु, अन-सिद्धि स्वप्नसिद्धि करने की आशा, उग्र कर्त्तव्य—उज्जयिनी में विचरण कर रहे बेचारे एक गुजराती कवि के मस्तिष्क पर इस प्रकार असह्य-भार आ पड़ा है। (३. १२. २२)

यूरोप की सह-यात्रा के स्वप्न हमें आकर्षित कर रहे थे। हमारे गृह-संसार पर उसका क्या असर होगा, इसकी भविष्यवाणी का अन्दाज़ भी हम वक्रोक्ति और मज़ाक द्वारा एक-दूसरे पर करते गए।

सारे दिन का कार्यक्रम लिख डालने की प्रथा तभी से हमने स्वीकृत की। कहीं ऐसा न हो कि ज़रासी बात भी दूसरे से अज्ञात रह जाय! लीला ने लिखा—

आपके जानेके बाद तुरन्त ही यह सूझा कि आपसे कितनी ही बातें कहनी रह गई हैं। रात को दो बजे अचानक आँख खुल गई। और रजतधारिणी चाँदनी के जाली में से ही जब दर्शन किये, तब ट्रेन की काच वाली खिड़की से किसी के मुख पर पड़ रही इसकी किरणें कैसे-कैसे स्वप्नों की प्रेरिका बनती होंगी, सहज ही यह विचार हो आया। ऐसी ही चाँदनी में, किसी गिरिमाला के शिखरों से पार उड़ते हुए, या रमणीय सरोवर के किनारे नृत्य

करती तरंगमाला को निहारते हुए, अथवा छोटी सी बह रही नौका में, इस चाँदनी में एकरूप हो रही किन्हीं भाग्यवान् आत्माओं की, मैंने इस जाली के सामने खड़े रहकर कल्पना की।

न जाने क्यों, साथ रहकर ल्यूसर्न सरोवर देखने के लिए ही हम जी रहे हैं, ऐसा हमें खयाल हो गया था। इसे हम 'नवाँ परिच्छेद' कहते थे। साथ ही लीला ने वचन भी माँगा—अपनी लाक्षणिक रीति से।

क्या अपनी कल्पना की भव्य मूर्तियों के साथ तुलना करते हुए इस नई दुनिया की अपूर्णताएँ आपको नहीं खलतीं? नवीनताएँ जब लुप्त हो जायँगी, तब यह अपूर्णताएँ अधिक बड़ी मालूम होंगी, ऐसा नहीं लगता? मुख पर का घूँघट बहुत बार अपूर्णताओं को ढक लेता है, परन्तु सदा-सर्वदा यह घूँघट नहीं रखा जा सकता। आपको कैसा लगता है? अवश्य लिखियेगा।

(५. १२. २२)

विलायत के स्वप्न तो आते ही रहे। लीला ने लिखा—

आज रात को मुझे सपना आया। विलायत में मेरी कारेली[1] से मिलने गए थे। मैं अकेली ही, समझे? मेरे साथ साथी तो थे ही, परन्तु वे कहीं मेरे साथ जा सकते थे? और वहाँ मुझे आपकी पारसी मित्र मिली। शिरीन[2] जैसी नहीं थी। उसने बातें तो खूब कीं, परन्तु उसकी मोटी नाक के सिवा मुझे इस समय कुछ भी याद नहीं है। कल रात को आपके लाड़ले के साथ कितनी—क्या बताऊँ?—बातें कीं, साहित्य-चर्चा की, माथापच्ची की, या जो भी कहिए। मुझे यह लड़का कुछ अच्छा लगता है, पर यह बात उससे कहने की नहीं है। **(६. १२. २२)**

दूसरी रात को लीला फिर पत्र लिखती है—

दुकान का काम पुरानी गाड़ी की तरह धीरे-धीरे चल रहा

---

१. प्रसिद्ध अँग्रेजी स्त्री उपन्यासकार।

२. मेरे उपन्यास 'वैर का बदला' की एक पात्र।

है···मैं बहुत ही अकुला गई हूँ; काम से नहीं। यह सब छोड़कर जंगल में चले जाने को मन होता है। मानो किसी को कोई मतलब न हो और अपने ही स्वार्थ के लिए मैं यह कर रही हूँ!···सारे कोरे पन्ने पर बिना लिखे पढ़ने की कला आती है? मेरे लिखने की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह पढ़ने की आपकी कल्पना में शक्ति है। कल्पना कर लीजिएगा। (७. १२. २२)

यह पत्र दो मित्रों के थे, यह ठीक है; परन्तु हमारा अद्वैत शब्द-शब्द से व्यक्त होता था। मैंने उत्तर दिया—

यहाँ के लोग बहुत रंग-बिरंगे हैं। कई अनुभव सुन्दर हुए हैं। जिस प्रकार जानवरों के संग्रह-स्थान से सिंह को आता देख रहे हों, इस प्रकार 'कान्त[१]' मुझे पाँच मिनट तक देखते रहे। कल मैंने Gujarat, What It Stands For पर भाषण दिया। श्रोताजन फ़िदा हो गए। रोज़ चाय, सभा-सम्मेलन और भोज इतने चलते रहते हैं कि निद्रारानी भी सन्तुष्ट हो जायँ। आज 'कान्त' के यहाँ जाना है। मैंने सुकन्या[२] की नैतिक हत्या की है, ऐसा वे मुझसे कहना चाहते हैं। यहाँ के कॉलेज में पृथ्वीवल्लभ[३] नाटक किया गया था। 'काम-चलाऊ धर्मपत्नी'[४] के लेखक से नीतिमान साहित्य लिखने का आग्रह करने के लिए लोग मिलने को आतुर हैं। जैन लोग आते हुए सकुचाते हैं, क्योंकि मैंने आनन्दसूरि[५] से हत्या कराई है। मुझे पता नहीं था कि बाबुलनाथ में बैठे-बैठे मैंने भावनगर से इतनी मित्रता गाँठ ली है। कल जब वेदों के समय से लेकर गाँधीजी तक आर्य वीरों का दर्शन कराया, तब मेरी मान-

१. प्रसिद्ध कवि मणिशंकर भट्ट।
२. मेरे 'पुरन्दर पराजय' की नायिका।
३. मेरा उपन्यास।
४. मेरी एक कहानी।
५. मेरे 'पाटन की प्रभुता' उपन्यास का एक पात्र।

सिक दशा में उन्हें कुछ श्रद्धा हुई ·······

विलायत-यात्रा का कुछ भी समझ में नहीं आ रहा है। रात और दिन विचार और कल्पना-विलास दोनों के प्रवाह चलते हैं। जब तक मुसाफिरी केवल सैर की चोज थी, तब तक तो ठीक था। लोग भी हँसते और मैं भी हँस सकता था। किन्तु जीवन का महान् गम्भीर प्रश्न उपस्थित हो गया है। 'नवाँ परिच्छेद' धारणा से भिन्न लिखा गया। 'वीणापुस्तकधारिणी' का क्या ?

तुम्हारी उभरती हुई शक्ति के लिए व्यवसाय में बहुत गुञ्जाइश है। यह अशान्ति का भी उपाय है और वर्षों बाद जब फोर्ट के किसी ऑफिस में तुम Business Woman की तरह बिराजोगी, तब रेवा-तीर पर बसे हुए किसी अनजान और वृद्ध लेखक की झोंपड़ी का निर्वाह करने के लिए दान भेजने को किसी निजी कारिन्दे को बहुत ही रोब से तुम हुक्म दे सकोगी। उस समय बड़े-बड़े लोग नवयुग की स्त्री के स्मित के लिए परस्पर जान ले लेने की कोशिश कर रहे होंगे और कल्पना-विलासी नर्मदा के नीर में खड़ा रहकर गाएगा—

शुक्लां ब्रह्मविचारसारपरमामाद्यां जगद्व्यापिनीम् ।
वीणापुस्तकधारिणीम्······

वास्तविक सहचार हृदय की विशालता, अन्तर की गहरी समझ, विशुद्ध हृदयता और मित्र के दोष को चला लेने पर ही नहीं, किन्तु उसे ही प्रिय बना लेने की कला पर रचा जाता है। तुम देख सकोगी कि इसी कारण यूरोपियन और भारतीय के बीच विवाह या मैत्री-सम्बन्ध में चिरस्थायित्व कभी नहीं देखा जाता और इसीलिए अधिकांश लोगों की मैत्री अल्पजीवी और भार-स्वरूप बन जाती है।

कई बार ऐसा लगता है, मानो मैं उपन्यास का परिच्छेद लिख रहा हूँ। मेरी कल्पना चार घोड़ों पर सवार होकर दौड़ी है। तुम

'विधि के लाड़' के विषय में लिखती हो, परन्तु कुछ दिनों का नशा जब उतर जायगा, तब उत्तर दूँगा। यदि यह सौभाग्य कहलाता हो, तो उसे देखकर मैं काँप रहा हूँ। सौभाग्य के पीछे घूम रही वैरदेवी (Nemesis) ने तो मुझे कहीं पकड़ नहीं लिया? अभी सब-कुछ असम्बद्ध मालूम होता है। तुम नहीं समझ सकोगी। महा-अधिष्ठात्री के रूप में तुम्हें दूसरों के जीवन कुचल डालने की आदत है। किसी दिन जुदे दृष्टि-बिन्दु से जीवन देख सकोगी।

जैसी दीनता से मैंने लीला की मैत्री स्वीकृत की थी, वैसी ही दीनता से उसने मेरी स्वीकृत की।

मैं अकृतज्ञ तो नहीं हूँ, यह कहने का साहस कर सकती हूँ। जो मन्दिर अब खण्डहर बन गया है, उसके समागम से जीवन में बहुत प्रकाश फैला है, यह मैं स्पष्ट देख सकती हूँ। मेरे पहले के जीवन की भी क्या आपको कुछ खबर है···?

···हमारे बीच बहुत साम्य है। परन्तु बहुत-सी चीजें ऐसी हैं कि आप उन्हें कैसे निभाएँगे?····मैत्री तो समान की ही टिक सकती है। क्या ऊँचे उड़ते हुए आपको ये बन्धन बाधक नहीं होंगे?

आपकी कल्पना में एक प्रकार का ऐसा जादू है कि उससे छूटा नहीं जा सकता और आपकी फ़िलासफ़ी—दार्शनिकता—पर भी मैंने विचार शुरू कर दिया है···परन्तु आपकी तरह मुझे भय नहीं होता। अपने पर मुझे विश्वास है और आप पर मुझे अविश्वास होता ही नहीं। हम शायद ऊधमी बच्चे होंगे, परन्तु नीचे कभी नहीं गिरेंगे। आप आकाश में बसते हैं या पृथ्वी पर?

(६. १२. २२)

इस प्रकार नित्य की अटूट पत्रधारा बहती चली···इसमें अनेक प्रकार की झलक थी। मैंने लिखा—

दो हीरे परखने वाले थे। दो हीरे उनके हाथ चढ़े। सारा दिन उन्होंने हीरों के एक-एक परसे को चमकाकर नई किरणें निकालने

का प्रयत्न किया। फिर उनका क्या हुआ, यह याद नहीं। हीरे परखने वाले या तो अन्धे हो गए या हीरे काँच निकले। दोनों ने काँच तोड़ डाले और साथ ही उनके हृदय भी टूट गए...

इस समय विद्वत्ता दिखाने की धुन में हूँ, श्रवण करने को तैयार हो जाओ—नहीं तो कागज फाड़ डालो। गीता में कहा है—

स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति

अधिष्ठात्री, मगन भाई[1] के आदेशानुसार 'रेखाचित्र' और 'मृगजल'[2] लिखना छोड़ दो। और मनोहर मुस्कान से बन्दर नचाना बन्द कर दो। भभूति लगाओ और मन्दिर जाना आरम्भ करो।

'हरि भजले रे बारम्बार, उमरिया थोड़ी,
उमरिया थोड़ी'—

का पारायण करो।

नाड़ी फड़के बिना पढ़कर लिखा जा सके, वही साहित्य है। इसलिए ऐसी बिल्लियाँ चित्रित करो। और मैं 'गुजरात' बन्द कर दूँ, साहित्य-संसद को समाप्त कर दूँ, 'राजाधिराज'[3] को लिखना छोड़ दूँ और वेदान्त पर भाष्य लिखने लग जाऊँ। हे भगवान्! यह निर्जीव मशीनें जीवन का मन्त्र कब सीखेंगी?

(१०. १२. २२)

शायद मैं विलायत न जा सकूँ और लीला अकेली जाय, यह भय मेरे प्रत्येक पत्र में दिखाई पड़ता है। यही पत्र मैंने लिखा—

फिर कितना अच्छा होगा? जहाज़ पर से किसी की सूचना के बिना, स्वातन्त्र्य की रक्षा करते हुए, अधिकार और स्वामित्व के

---

१. स्व. श्री मगनभाई चतुर भाई पटेल, कमीशन के समक्ष एक बैरिस्टर।

२. लीला की एक कहानी।

३. मेरा उपन्यास।

झगड़े के बिना सृष्टि का अवलोकन करना; यूरोप में अकेले मनस्वी-पन से एकान्त में रहना और नये स्त्री-पुरुषों के जीवन एकाकी दृष्टि से देखना; स्त्रियों की स्वतन्त्रता और स्वाश्रय को सिद्ध करके पुरुषों की ओर तिरस्कार पैदा करना; और छः महीने या साल-भर अकेले भटककर आनन्द का अनुभव करना—इसके बाद फिर देखना तो !

इस प्रकार जीवन का एक-एक तार एकतान होता गया। भावनगर की प्रशंसा के नशे में चकनाचूर मैं लिखता ही गया—

सभा में हो आया। 'कान्त' सभापति थे। उन्हीं के कुछ शब्द लिख रहा हूँ। उन्होंने कहा—"मैंने मुन्शी को सात दिनों बाद देखा और उनकी मनोहर मूर्ति, मानसिक सौन्दर्य और उनकी विविध रंग-भरी बातों ने मेरा हृदय जीत लिया है। मुझे उनके प्रति अत्यधिक स्नेह हो गया है।"

क्या सोचा? जरा समक्ष का पक्ष उपस्थित करके राई नोन उतारो। फिर मेरा भाषण। मगनभाई की उलटे उस्तरे से सफाई। पुरानी साहित्य-पद्धति पर कोड़े। नव-साहित्य-युग के आरम्भ का चित्र। युग नानालाल से शुरू हुआ···और सौ० लीला बहन तक पहुँचा। कह दूँ? जरा कठिनाई से नाम गले से निकला। युवकों के उत्साह का पार न था।

'कान्त' प्रसन्न हैं। "आपके साथ आने की आज्ञा है?" उन्होंने पूछा। "अवश्य बड़ी प्रसन्नता होगी।" हम गौरीशंकर सरोवर गये—मैं, वे और विट्ठलराय विद्याधिकारी। नानालाल और नर-सिंहराव की धज्जियाँ उड़ाईं। 'कान्त' ने एक कविता सुनाई—"मेरी मनोहारी माशूका।" चन्द्रशंकर की धज्जियाँ उड़ाते घर आए। लीला की अस्वस्थता का हाल जानकर मैंने लिखा—

अपने हृदय में खिन्नता क्यों आने देती हो? अविश्वास होना स्वाभाविक है, परन्तु विश्वास उत्पन्न करना तुम्हारा काम है।

किसी की खातिर नहीं, स्वार्थ की खातिर नहीं, परन्तु तुम्हारी अपनी महत्ता की खातिर। मैं परमार्थी नहीं हूँ। क्षुद्र स्वार्थ के लिए गौरव या अपनी प्रतिष्ठा खोने को मैं कभी नहीं कहूँगा, परन्तु प्रिय बहन, You owe something to yourself। दूसरा जहाँ से भाग जाय, वहाँ खड़े रहना क्या गौरव की बात नहीं है? जहाँ कोई रसायन सिद्ध न हो सके, वहाँ रसायन सिद्ध करना बड़ाई की बात नहीं है? सेठजी को विश्वास दिला दो कि उनके धन की तुम्हें परवा नहीं है और सौतेले पुत्र का अहित करने की तुम्हें गरज नहीं। परन्तु संयोग से यदि तुम्हें दुकान के उद्धार का काम सौंपा हो, तो तुम्हें वह पूरा करना चाहिए। धन का तिरस्कार ठीक है, परन्तु धन बचाकर फिर उसका तिरस्कार क्या अधिक अच्छा नहीं है? अधीर हो जाने में सार नहीं है। क्या इन आठ दिनों में मैं अधीर न हुआ हूँगा?

'जंगल में जाने की इच्छा होती है।' एक दिन वहाँ भी चला जायगा, परन्तु जैसे तुम सोचती हो, वैसे नहीं, समझीं? किन्तु तुम्हारे शब्दों में सन्निहित मनोदशा को मैं समझ सकता हूँ। मीलों की दूरी पार करके मैं बाबुलनाथ आ सकूँ, ऐसी इच्छा होती है। जंगल में एक ही प्रकार जाया जा सकता है—जीवन में रह-कर, जीवन को जीतकर; प्रतिकूल जीवन में भी जंगल का स्वास्थ्य और शान्ति साधकर।

वर्षों पहले, मुझे भी प्रतिदिन ऐसा ही होता था। इससे भी भयंकर निराशा होती थी; इससे भी अधिक दारुण प्रश्न हृदय को जलाता था—"यह संयम, यह दुःख किसलिए, किसके लिए सहे जायँ?" रात-रात-भर जगा, पर जवाब नहीं मिला। परन्तु अन्त में "क्या मैं कायर हो जाऊँगा?" इसी प्रश्न ने मेरी निराशा का भेदन किया। मल्लयुद्ध का प्रश्न था। मैं जीतूँगा या निराशा, और निराशा को मैंने जीत लिया।

मैं यह उदाहरण अभिमान से नहीं दे रहा हूँ। तुम मेरी अपेक्षा अधिक संस्कारशील हो और इस कारण तुम्हें अधिक जवाबदेही रखनी चाहिए। तुम्हारी जैसी प्रतापी और उन्नत आत्मा हिम्मत हार जायगी, तो फिर मनुष्य-हृदय में श्रद्धा कैसे रहेगी ? मेहरबानी करके जब तक मैं वहाँ नहीं हूँ तब तक हिम्मत न हारना और श्रद्धा को खण्डित न करना। फिर निश्चय करेंगे कि कायरता को कितनी प्रधानता दी जाय। क्षमा करना। बड़े भाई की-सी प्रतिष्ठा मैं अपने हाथों अपने सिर ले लेता हूँ। परन्तु हिम्मत हारोगी, तो मेरी महा अधिष्ठात्री के संघ को कितनी ठेस पहुँचेगी ? Never say die.

यह मैं क्यों लिख रहा हूँ, यह मेरी समझ में नहीं आता। धनी को सूझे ढकने में और पड़ोसी को सूझे श्वास में। परन्तु···परन्तु लिखा किसको जा रहा है, यह भी समझ में नहीं आता। आगामी पत्र में क्या मैं आशावाद की आशा न करूँ ? जो करना हो, सो करना। मस्तक या हृदय जो तोड़ना हो, तोड़ देना; परन्तु अपनी शक्ति को शोभित रखना। अपनी दृष्टि से ही तुम्हें अपने योग्य होना चाहिए। 'किसलिए—किसके लिए ?' तुम पूछोगी। परन्तु मैं उत्तर न दूँगा।

जो पूछता है, वह भूलता है—
जो उत्तर देता है वह भी भूलता है—
कुछ नहीं कहना चाहिए।[१]

मैं किसलिए लिख रहा था ? किसी परीक्षा के लिए ? या समझाने के लिए ? या लीला को निर्धनता से बचाने के लिए ? जो पूछता है वह भूलता

---

१. Who asks doth errs,
Who answers errs;
Say nought. Arnold—Light of Asia.

है, जो उत्तर देता है, वह भी भूलता है। मैंने आगे लिखा—

तुमने ईर्ष्या के विषय में लिखा, वह समझ लिया; परन्तु जहाँ यह नहीं होती, वहाँ सत्य भी नहीं होता और स्वत्व भी नहीं। इसे महाअधिष्ठात्री समझती है। प्रौढ़ आत्मा की यह निर्बलता है; और उसमें भी ऊर्ध्वगामित्व है। डुगडुगी माता, कई दिनों से जीवन का रंग जुदा ही क्यों दीख पड़ता है, यह समझ में नहीं आता। काम करने का उत्साह आ गया है, कर्त्तव्य-परायणता में रस पैदा हो गया है। यह उत्साह और रस क्या सचमुच स्वप्न है? चिरस्थायी है या मृगजल? पागलपन है या बुद्धिमत्ता की पराकाष्ठा? इसका उत्तर कौन देगा? उत्तर कहाँ से आएगा? कहाँ से? प्रतिध्वनि ही उत्तर देती है—कहाँ से, कहाँ से?

सौ० लक्ष्मी को कुछ बुखार आता था। आखिरी दिन चल रहे थे, इसलिए शान्ति से बातें नहीं हुईं। तुम्हें क्या हुआ, कुछ पता नहीं। She is a little heroine (वह एक छोटी-सी वीरांगना है) मेरी दुनिया को भलाई के भार से मात करती है—She is too good for me. मैं भाग्य से ही उसके लायक हूँ। क्या मेरी यह छोटी-सी दुनिया ज्यों-की-त्यों रहेगी? (११-१२-२२)

पुनश्च—

अब दस मिनट में नहाया-खाया, गवाहियों की जाँच··· यह सब चमत्कारिक-सा होता लगता है। अब स्वास्थ्य। *यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्। ततस्ततो नियम्यैतत् 'साद्यमेव विचारयेत्'*—

अन्तिम चरण श्रीमाली संस्कृत है। 'श्री भाई मुन्शी' के सम्बोधन से मैं कैसा वृद्ध मालूम होता हूँ। श्री १०१ जोड़ना रह गया!

लेख के सम्बन्ध में जो सूचना दी, उससे बुरा न मानना। तुम केवल साहित्य-गगन की तारिका होतीं, तो यह न लिखता। परन्तु तुम सही हो या गलत, यह भी अभी समझ में नहीं आता।

डुमस की बालू के स्मरणों की तरह कल्पना-साधिता हो ?[1] या स्वर्ण युग की उज्जयिनी के भव्य मन्दिर में व्याघ्रचर्म पर बैठी, हृदयों को जोड़ती अधिष्ठात्री की तरह कल्पना-निर्मित ? मूर्ख, बहुत हो चुका, थम जाओ ! (१२-१२-२२)

अपने उस समय के सम्बन्ध को हम 'दूसरा परिच्छेद' कहते थे—

'दूसरे परिच्छेद' के विषय में प्रश्नों का उत्तर पत्र में देना कठिन है। किसी समय भली-भाँति विचार करूँगा। इस समय निम्न-लिखित सिद्धान्त निर्विवाद लगते हैं—

(१) प्रवाह प्रबल है, इसमें स्वार्थ से कोई नहीं बहा; उसमें से एक जन ने भाग निकलने का प्रयत्न किया था। (२) किसी को क्षुद्रता का शौक नहीं; किसी को भावना भ्रष्ट होने की इच्छा नहीं—और यदि मनुष्य-सम्बन्ध में सत्य, सौन्दर्य या शुद्धि हो, तो वह यहाँ दिखलाई पड़ती है। (३) यदि साहचर्य सृष्टि-क्रम हो तो सामग्री, भावना या पवित्रता की दृष्टि से, इससे अधिक अच्छा उदाहरण नहीं मिलता।

सारी रात नींद नहीं आई। 'सँभल सकेगा ?' यह शब्द कानों में गूँजा करते हैं। बचपन से मैं ऊँचाई पर उड़ने के व्यर्थ प्रयत्न करता हूँ। एक नहीं अनेक जनों ने मुझे खींचा, गिराया और निर्बल किया। यह इतिहास लम्बा है। परन्तु जब तक आगे वाले व्यक्ति ने ठुकराकर मुझे दूर नहीं किया, तब तक मैंने भी उसे नहीं ठुकराया। जितनों के लिए हो सका, उतनों को प्रेरित करने, पोषित करने और उठाने के लिए प्रयत्न किया है—स्वार्थी, अहं-कारी और क्रोधित होकर भी। और किसी ने बदले में मुझे कुछ नहीं दिया। कड़वी-से-कड़वी कृतघ्नता का भी मैंने अनुभव किया है। तब यह तो···कलम, रुक जा !

एक बात कुछ भय पैदा करती है। या तो अस्वस्थता छिपाने

---

१. इसमें छुटपन की मैत्री का उल्लेख है। देखिए 'आधे रास्ते।'

के लिए, या अशान्ति दूर करने के लिए तुमने स्वभाव बहुत ही मौजी बना लिया है। और मेरे दो दूषण हैं। एक—कठोरता, भावनामयता, कृत्रिमता और आडम्बर; दूसरा—बाप-दादों से मिला हुआ उद्धत, ढीठ, सर्वग्राही वह स्वभाव जो अकेला स्वामी बनने का प्रयत्न करता है। मेरा स्वभाव उद्दण्ड जंगली जैसा है। बाहरी दुनिया को न खलने वाली ही उस पर आब है। यह स्वभाव अपनी आत्मीय दुनिया से न छिपा सकना स्वाभाविक है। जब इन दो दूषणों को देखोगी, तब इस समय का अनुमान असत्य सिद्ध होने लगेगा या नहीं, इस पर तुम्हें विचार करना है।

एक व्यक्ति से तुम्हारे विषय में बातें हुईं। 'यह स्त्री अद्भुत है' उसने कहा। मैंने मन-ही-मन कहा— 'You blooming idiot! उसे तू क्या जाने? उसके विषय में कहने का तुझे क्या अधिकार है?' पर प्रत्यक्ष रूप से कहा—'हाँ बहुत ही।' Good-night, High-priestess.

(१२-१२-२२)

इस प्रकार हम कौल-करार करने लगे। लीला ने दूसरे दिन लिखा—

मनु महाराज, (इस नाम से वह मुझे सम्बोधित करती थी) न जाने क्या-क्या क्रोध आता था? आपका पत्र आना चाहिए, मानो यह मेरा हक हो, ऐसा लगता है, और जब कल पत्र नहीं आया, तब सारा क्रोध मैंने सारंगी पर उतारा। मेरी आँखों से आँसू नहीं निकले, इसलिए उस बेचारी को रुलाया। मेरी स्वस्थता की निन्दा करने वाले और मुझे हृदयहीन समझने वाले किसी ने मुझे देखा नहीं, यह अहोभाग्य। अन्त में मैंने निश्चय किया कि आपको अब चार दिन तक एक अक्षर भी न लिखूँगी। आज सवेरे आपका पत्र आया और मेरा सारा निश्चय पानी में मिल गया। कैसे खराब हो कि कुछ भी नहीं करने देते? न लिखने को सूझता है, न निश्चय का पालन होता है। आपसे बदला लेने के लिए अब मुझे कोई उपाय खोज निकालना होगा। आप पर अधिक

क्रोध हो आने का कारण यह है कि आप मेरी सारी निर्बलता देख जाते हैं।...आपका पत्र केवल दो ही बार पढ़कर मैं यहाँ आई हूँ। परन्तु ऐसा लगता है कि भाप की तरह सब-कुछ मस्तिष्क में से उड़ जाता है। उसी प्रकार जैसे द्राक्षासव पीने के बाद उसका स्वाद भूल जाय, परन्तु उसकी खुमारी-सी रह जाय।

(१३. १२. २२)

३

रत्नों की खोज में

दूसरे दिन लीला ने लिखा—

भारंड पक्षियों के पंख पर बैठकर पुराकाल में लोग रत्नद्वीप में रत्न खोजने जाया करते थे। मैं आपकी कल्पना के पंखों की सहायता से दिव्य लोक के दर्शन करती हूँ। कम परिश्रम से, और उनकी अपेक्षा अधिक रत्न मिल जाते हैं, यह है इन पंखों की अच्छाई। रंक के भाग्य में यह रत्न टिकेंगे? मुझे इस समय एक राज्य मिला है, उसमें मैं आनन्द से विचरण किया करती हूँ। उसे सुधारती, सँवारती हूँ और उसकी शोभा देखकर सन्तोष पाती हूँ। उसमें अपने मन के मार्ग, चौक और ऊँचे-ऊँचे महल बनाती हूँ। उसके गवाक्ष की बेलों पर इच्छानुसार फूल खोदती हूँ और रंग भरती हूँ। मुझे लगता है कि ऐसा सुन्दर नगर किसी ने नहीं बनाया होगा। (१४. १२. २२)

मैं भी भावनगर में मुकदमा लड़ता, मिष्टभाषी लोगों की प्रशंसा के अर्घ्य लेता, 'कान्त' के साथ रोज काव्यमय तुक्के उड़ाता और 'रत्नद्वीप' में रत्न खोजा करता। जब तक बनता, पत्र लिखा करता। उनमें कई बार क्रूरता से मैं शब्दों के कोड़े भी मारता। "दिनों-दिन आपके बाणों की धार कठोर होती जाती है। एक की अपेक्षा दूसरा अधिक गहरा उतरता जाता है," लीला ने लिखा था। "परन्तु भाई, ऐ भाई, कैसा आभार मानूँ इस एकाकीपन और

निराधारता के आवरण को भेदने वाले का ? एक बार तो कृत्रिमता त्याग दूँ ?"
(१६. १२. २२)

उसके हृदय में और दूसरे भी संशय उत्पन्न हुए—

परन्तु इसका परिणाम क्या होगा ? मुझे यह यथार्थ लगता है कि मैं घर नष्ट करने को ही पैदा हुई हूँ। किसी के सुखी और शान्त जीवन में इससे तूफान तो नहीं आएगा ?

मैं मोह के वशीभूत हो रही हूँ, यह कहना तो बहुत सरल मालूम होता है। परन्तु, वास्तव में, किसे परवा है यह देखने की कि मैं क्या हूँ ? बचपन में मेरे हृदय में प्रतिष्ठित की हुई कल्पना-मूर्तियों को निर्दयता से तोड़ डालते हुए किसी को दया नहीं आई थी। अंकुरित होने से पहले ऊपर हथौड़े चलाते हुए भी किसी ने पीछे फिरकर नहीं देखा था। जो अन्धकार मेरे आस-पास उत्पन्न किया, उसी में मुझे अनन्तकाल तक जीवन बिताना चाहिए—यह दुनिया का शासन है।
(१६. १२. २२)

उसी दिन उसने दूसरा पत्र लिखा—

जहाँ दो सरिताओं का संगम होता है, वहाँ छोटा प्रवाह बड़े में मिल जाता है। उसी प्रकार जब दो व्यक्तित्वों का सम्बन्ध हो जाय, तो जिसका व्यक्तित्व कम शक्तिशाली हो वह अधिक शक्ति-शाली में मिल जाता है। मुझे भय है कि मैं अपना व्यक्तित्व दूसरे में खो डालने वाली हूँ। खोने लगा होगा, शुरूआत हो गई होगी तो किसे खबर ? इससे दुःख होता है। अपने व्यक्तित्व की रक्षा करने का मैं प्रयत्न करती हूँ, फिर भी उसके खोने में ही मज़ा आता है। दूसरे के व्यक्तित्व में डुबकी लगाते हुए मैं विशुद्ध होती हूँ कि नहीं, इसका मुझे पता नहीं लगता।

मैंने तो बिना आज्ञा के स्वामित्व स्वीकार ही कर लिया था।

···परन्तु दुकान के लिए रुपयों की व्यवस्था करने को जब उस दलाल के यहाँ गये, तब मेरे दुःख को देखा था ? खबरदार,

यदि सहानुभूति की किसी से याचना की, या ज़रूरत दिखलाई या किसी मूर्ख को वह देने दी। खबरदार, यदि 'वीणा पुस्तकधारिणी' के अभेद्य गौरव को लांछन लगने दिया। यह 'ईश्वरी' आपकी या आपके दरबार की नहीं है। इसका गौरव भी आपका अकेले का नहीं है। इससे आपके 'मनुमहाराज' का गौरव नष्ट हो जायगा—मेरे खयाल से। इस विषय में उनकी आपको शपथ है।

(१६. १२. २२)

बीच में एक छुट्टी वाले दिन हम पालीताना हो आये। इसकी सूचना मैंने लिख भेजी।

कल शाम को रेल से पालीताना जाते हुए सारा समय बहुत ही बेचैनी-भरा और बड़ा एकाकी मालूम हुआ। इस प्रकार की अस्व-स्थता का परिणाम क्या होगा, समझ में नहीं आता। रात को पालीताना के राजमहल में थे। मध्य रात को दो बजे के बाद कुछ भी अच्छा न लगा। सवेरे उत्साह था। शत्रुंजय की चढ़ाई की। स्टेट के अधिकारी की हैरानगी के बावजूद यह एडवोकेट पाँव पैदल पहाड़ पर चढ़ने लगा। रास्ते में उसने अवसर देखकर 'पाटन की प्रभुता' आदि से प्राप्त होने वाले आनन्द की बात की। प्रत्येक जगह मुंजल, मंजरी और काक के भक्त मिले हैं।

फिर एक पुजारी जी मिले। आध घण्टे उनसे उपदेश सुना और कहानी के लिए उनसे आवश्यक जानकारी प्राप्त की। पहाड़ पर चढ़ रही एक स्त्री, साहबी टोप लगाये हुए एक मनुष्य को जोर से 'माता मारू देवी ना नन्द'[1] गाते सुनकर पहाड़ से फिसल-कर गिरते हुए जरा ही बच गई। फिर जैनों के भक्ति से सींचे हुए पाषाण देखे।

मंचरशाह वगैरह को छोड़कर मोटर से सिहोर गये। एक ग्राम्य कवि से परिचय हुआ। चाय के साथ चेवड़ा खाया। फिर पुराने सिहोर

---

१. आदिनाथ का एक स्तवन

के खण्डहरों में पहुँचे। वहाँ से खड़ी, बिना रास्ते की पहाड़ी पर, पुराने मन्दिर का स्तम्भ देखने को चढ़ा—चार बजे। बहुत ही अच्छा दृश्य था। बूट और मौजे निकालकर नंगे पैरों उतरने का किस्सा भयंकर है। सुन्दरी स्त्रियों के हाथों-जैसे सुन्दर पैरों में कंकड़-पत्थर और काँटों से हुआ रक्तपात। चढ़ाई के उत्साह और आनन्द में एक ही लोहे की मेख—किसी साथ-साथ हँसने और उतर आने वाले की अनुपस्थिति।

सीता का त्याग करते हुए राम ने वाल्मीकि का जो श्लोक कहा था, वह याद आ गया। श्लोक ठीक से याद नहीं है। त्याग का क्या प्रभाव होगा यह पूछते हैं। सीता, तुम तो पृथ्वी की पुत्री हो, परन्तु मैं ऐसे दशरथ का पुत्र हूँ जिसने मेरे वियोग की बात सुनकर प्राण त्याग दिए। (१६-१२-२२)

मैंने 'अविभक्त आत्मा' के दर्शन करना आरम्भ कर ही दिया था; इसलिए लीला के पत्र का मैंने उत्तर दिया—

'व्यक्तित्व के लोप' का भय महा अधिष्ठात्री को शोभा दे सकता है, दरबारियों के साथ। जीवन में बहुत से अवसर, बहुत से सम्बन्ध ऐसे होते हैं कि व्यक्तित्व का लोप होने देना, बड़े-से-बड़ा लाभ और आनन्द दोनों हो पड़ते हैं। प्रताप, हठ, गर्व या बड़प्पन का बख्तर—कवच—लड़ाई में बड़ा अच्छा और उपयोगी हो सकता है, पर घर आकर यदि उसे न निकालें तो घर और समरांगण में क्या अन्तर रह जायगा? जब स्वतन्त्र व्यक्तित्व का लोप होता है, तब तारक-युगल का समग्र व्यक्तित्व प्रकट होता है और तभी चिर-स्थायी मैत्री की नींव पड़ती है।

व्यक्तित्व का लोप 'होता जा रहा है' यह भ्रम है। वह तो कभी से हो गया। कब से, बताऊँ? रॉयल ऑपेरा-हाउस के सामने मोटर बिगड़ गई थी, याद है? फिर कुछ अनमने चित्त और कृत्रिम हास्य से तुम काश्मीर की यात्रा की बातें करती रही थीं। अभि-

मानिनी वार्तालाप-चतुरा का वह अन्तिम पानीपत था।"... उसी समय बेचारे इस व्यक्तित्व ने प्राण त्याग दिए।

अपने व्यक्तित्व का इतिहास बताऊँ? यह कि वह कब दफनाया गया? अब ऐसा अवसर लाना है कि मेरी निर्बलता को लक्ष्मी भी देख ले। विनाशिनी की विनाशक प्रवृत्ति को नया स्वरूप देने का भगीरथ कार्य मेरे माथे आ पड़ा है। मुझे इसमें अजब श्रद्धा है। ऐसा लगता है कि वह मुझे बिना समझे न रहेगी—नहीं रहेगी। अपनी श्रद्धा से असम्भव चीज़ को क्या मैं सम्भव नहीं कर सकता? वह निर्दय मुझे करने देगी तो उसके जलाने के लिए मेरा जैसा उत्ताप है, वह उससे भी अधिक अच्छा हो जायगा। मेरी भक्ति उसकी विनाशक शक्ति और सती की संरक्षक-वृत्ति दोनों को जीत लेगी। मेरी बहन! विनाशिनी के बिना आत्मसिद्धि नहीं दिखलाई पड़ती। उत्ताप को बिसारकर कृतघ्न बनने में मानवता नहीं दीख पड़ती।...

देवलोक-विहारिणी मन्दाकिनी के स्वच्छन्द स्वभाव को कौन बदल सकता है? मंदाकिनी अवनी पर उतारकर भगीरथ को पतितों का उद्धार करना है। एक योगी, कामदेव को भस्म करके, शैलबाला के साथ विचरण करते हुए भी, जटा फैलाकर, सुरगंगा को सिर पर धारण करने का साहस कर रहा है। गंगा ने अवतरण किया जटा में, पृथ्वी को पावन करने के लिए। पार्वती रहीं अंक में, संसार का संरक्षण करने को। न शंकर का प्रभाव खण्डित हुआ और न उनकी शक्ति ही घटी। चितेरे! अपनी कूँची चला, नहीं तो उसका रंग सूख जायगा। (१८-१२-२२)

यह निश्चय हुआ था कि भावनगर से लौटते हुए मुझे अहमदाबाद में उतरना चाहिए। लाल भाई की दुकान के सम्बन्ध में कुछ काम था। इतने ही में अचानक मुकद्मा खत्म हो गया।

जहन्नुम में जाय यह लिखना। हुर्रा-हुर्रा, डियर चाइल्ड!

कल केस खत्म हो जायगा। परसों कूच करूँगा, इसलिए शुक्रवार को सवेरे सवारी जूनागढ़ जायगी। शनिवार २२वीं को गिरनार, २३वीं को उपरकोट, २४वीं को या तो प्रभास या ट्रेन में।

लीला का मनोमन्थन भी चल रहा था।

समुद्र अपने हृदय की विशालता से कैसी भी क्षुद्र वस्तु को अपने हृदय की महान् वस्तुओं के साथ ही स्थान देता है, परन्तु इससे क्षुद्र वस्तुओं की क्षुद्रता कम नहीं होती। समुद्र की महत्ता इससे बढ़ती है, पर उन वस्तुओं के लिए क्या कहा जाय? अकेले जिया नहीं जा सकता। किसी में समा जाना आता नहीं। यह दुख किससे कहा जाय? इतना चलने के बाद पीछे लौटने का रास्ता बन्द हो गया मालूम होता है। आगे क्या आएगा, कुछ खबर नहीं। अनन्त कार्य-चक्र बनने का प्रयत्न करने वाले मुमुक्षु को निर्जनता से आश्चर्य नहीं है, न क्षोभ है। परन्तु हारे-थके, शरण में आये हुए यात्री का क्या होगा, यह कुछ नहीं सूझता। (२१-१२-२२)

२२वीं को लीला अहमदाबाद गई और लिखा—

घर में आने पर कुछ भी अच्छा नहीं लगता। कुछ उजाड़-सा लगता है। मीरा की तरह किसी यदु-कुल-भानु की भक्ति में मन लगा होता और अच्छा न लगता, तो कोई बात नहीं थी। सदेह स्वर्ग ले जाता। पर यह तो किसी अनजाने गाँव में आकर बसने-जैसा लगता है।

भक्तों को संसार क्यों नीरस लगता है, यह अच्छी तरह समझ में आ गया। मुझे अब परमात्मा को खोजकर उसका ध्यान शुरू कर देना है। (२२-१२-२२)

उसी रात को दूसरा पत्र लिखा—

मनुष्य-मात्र कथनात्मक प्राणी क्यों है? केवल मस्तिष्क में अनुभव करके ही उसे सन्तोष क्यों नहीं होता? क्यों उससे कहना

पड़ता है? और आगे की दूरी का विश्वास होने पर भी उसे सुने बिना चैन क्यों नहीं पड़ता?

वह विलासी चन्द्रमा अपने घड़ी-भर के खेल को समाप्त करके चला गया है। उडुगण का प्रकाश आँखों के साथ हृदय में भी पैठता है। कोई शैतानी करने वाला प्रियजन, बरफ़-जैसे शीतल जल में अँगुलियाँ डुबोकर, हम सो रहे हों तब हाथ लगाकर चौंका दे, इस प्रकार खिड़की में से आ रही ठंडी हवा ज़रा चौंकाकर चली जाती है। जाड़ों की ऐसी ठंडी रात, बातें करने के ही लिए हो, ऐसा नहीं लगता। (२२-१२-२२)

महादेवजी अकेले कैलाश में विराजते और वहाँ भी नागों का साथ! और विष के घूँटों को पीकर शक्ति प्राप्त की थी। मैं सुन्दर था और जगत् में रहता था, इसका भान मुझे १९वीं तारीख को भाई आचार्य ने कराया। वह पुराने और ज़माने को देखे हुए थे। प्रत्येक वस्तु को वह सांसारिक दृष्टि से ही देखते थे। उनका कोड़ा मुझ पर पड़ा।

उन्होंने लिखा—

हमारी जो बातें हुई थीं, उनसे मुझे विश्वास हो गया है कि तुम्हें जहाँ तक हो सके संयम रखकर इस मनोदशा को निर्मूल कर देना चाहिए—स—ने जो तुम्हारे आसपास व्यूह रचा है वह बहुत ही सुन्दर और विचारपूर्ण है। इससे वह अनेक ध्येय साध सकेगा। यह व्यूह जितना अद्भुत है, उतना ही घातक है और तुम्हारे लिए शोचनीय भी। इसे उठते ही दाग देना चाहिए। उसे तुम्हें कुचल डालना चाहिए। (१८-१२-२२)

इस पत्र के कोड़े की फटकार मुझे बड़ी तीखी लगी। शरीर झन-झना उठा। जगत् की कठोरता का मुझे तीव्र भान हुआ। यह मित्र मेरे साथ न्याय न कर सके, इससे मुझे बड़ी व्यथा हुई। परन्तु जगत् का जहर निगलने के लिए मैं तैयार हो गया।

मैंने उन्हें लिखा—

अपनी हमेशा की आदत के अनुसार मैंने केवल तुम्हें सूचित किया था कि मेरे जीवन में एक नया तत्त्व आ गया है। १६०४-५ में मेरे हृदय की महाव्यथा को जीतने में तुमने सहृदयता से जो सहायता की थी, वैसी ही सहायता की मैंने याचना की थी; परन्तु तुम्हारे पत्र से मुझे यह दिखलाई पड़ गया है कि हमारे जीवन का संवाद अब भंग हो गया है।

मैंने अपनी प्रामाणिकता गँवा दी है, इसकी चिन्ता न करना। मैं जैसा अपना निरीक्षण कर रहा हूँ, वैसा तुम भी नहीं कर सके। मेरी मनोदशा का तुम्हारा विश्लेषण ठीक हो, तब भी कौन बात है? एक सत्य, एक परम आवश्यक सत्य, मेरे सामने खड़ा है, मेरे जीवन में घर बना बैठा है। उसका क्या होगा? तुम्हारे कथनानुसार मैं उसे दाग़ नहीं सकता। जैसा तुम समझते हो, मैं उसे अधम रूप धारण करने दूँ, यह असम्भव है। मैं उसे अपनी विधि से ही अपना सकता हूँ—भले ही वह विधि विचित्र हो। मेरे हृदय में पूज्य भाव और प्रेम दोनों के सूक्ष्म तार हैं। बहुत लोग नहीं जानते, पर तुम जानते हो। इन तारों की झंकार में मुझे विश्व-संगीत का माधुर्य सुनाई पड़ता है। यह सुनाई न पड़ता तो मैं अपना सम्बन्ध न सँभाल सकता।...... के पीछे वर्षों न गँवा देता। बचपन के एकमात्र स्मरण को अचल श्रद्धा से न पूज सकता। इन सब सम्बन्धों को मैं सर्वोपरि समझता हूँ।

वही वृत्ति आज मुझे फिर से पूजा करने को प्रेरित करती है। यदि यह भाव केवल मेरे अकेले ही के हृदय में होता तो मैं मौन मुख उसे सहा करता। परन्तु उस ओर भी यही भाव हैं—इस समय तो—और वह भी मेरी ही तरह तीव्र। यह हो सकता है कि मैं स्वप्न देख रहा होऊँ, और तुम जो कह रहे हो वह सच भी हो। और वह व्यक्ति केवल रसिकता का खेल कर रहा हो, या हृदयहीन और महत्त्वाकांक्षी राक्षस का कार्य कर रहा हो। परन्तु मेरे हृदय

के भाव ऐसे हैं कि मैं उसे दागने जाऊँ तो मृत्यु से भी भयंकर मेरी दशा हो जाय। क्या मैं जीवन-धर्म को भ्रष्ट कर डालूँ ?

मैं तुमसे केवल न्याय माँग रहा हूँ। हम पुरुष और स्त्री हैं, यह ठीक है। परन्तु हम लोग ऐसा एक भी शब्द नहीं बोले, जिसका मित्र लोग गर्व से उच्चारण न कर सकें। तुच्छ जगत् एक ही बात मान बैठा है—स्त्री और पुरुष पशु-वृत्ति को सन्तुष्ट न कर सकें तो उन्हें मित्र नहीं बनना चाहिए। यह मान्यता स्वीकृत करके, राक्षस बनकर, क्या मुझे दोनों के जीवन को विष बना डालना चाहिए ?

मुझे विश्वास था कि आचार्य यह न्याय नहीं करेंगे, पर यही एक मित्र मेरे हृदय के समस्त भावों को जानता था और इसीलिए मैं उससे याचना कर रहा था।

इस घटना के अन्त में दुख ही है, यह मैं जानता हूँ। मेरे वैविध्य की शोभा जब नष्ट हो जायगी, तब सामने वाले व्यक्ति की वर्तमान मनोदशा नहीं रह जायगी, यह मैं जानता हूँ। मनु काका की माँ बनने के मेरे प्रयत्न अकथ्य वेदना और अधमता के वर्षों के अनुभव में परिणत हो गए थे। इससे क्या हुआ ? क्या अपने जीवन को मैं अरण्य बना दूँ ? यह तो मूर्खता की परिसीमा हो जायगी। इस समय मैं इस भावना को 'दाग़ने' चलूँ तो पाँच वर्षों तक जीवन कुचला रहेगा। और यदि मैं न 'दागूँ' और यह स्वप्न चलता रहे तो वर्षों तक जो सिद्धि मुझे नहीं मिली, वह अवश्य मिल जाय। मैं अधिक अच्छा काम कर सकूँ, मेरा दृष्टि-विस्तार हो जाय, मेरा उत्साह बढ़े और मेरा जीवन अधिक समृद्ध हो जाय।

मेरी आँखों के पटल अलग हो जायँ, या वह मेरा द्रोह भले ही करे। मैं केवल हृदय शून्य हो जाऊँगा। मेरी प्रतिष्ठा को आँच आएगी और मैं आत्म-तिरस्कार में डूब मरूँगा। यह सच है।

परन्तु अपनी भावना के अनुसार जीवन का लाभ तो मैं उठाऊँगा; और वैराग्य तीव्र होगा तथा आत्म-नियमन बढ़ेगा, वह मुफ्त में। मौत भले ही आ जाय। उसे मैं धिक्कारता ही आया हूँ, क्या इसे तुम नहीं जानते?...

परन्तु यह पत्र दूसरी जनवरी को लिखा गया। २२ दिसम्बर और इस तिथि के बीच तो युग बदल गया।

लीला का ध्यान करता हुआ मैं भावनगर से जूनागढ़ गया। इससे पहले मैं सौराष्ट्र नहीं गया था। इसलिए गिरनार देखने का मुझे बड़ा मोह था। उपरकोट के स्मरण और खेंगार तथा राणक का अद्भुत प्रेम मैंने 'गुजरात के नाथ' में चित्रित किये थे। अतएव मुझे ऐसा लगा कि गत जीवन में किये विहार के स्थान पर मैं पैर रख रहा हूँ।

काठियावाड़ की रेल का मुख्य लक्षण है गन्दगी और अव्यावहारिकता। एक-मात्र फर्स्ट क्लास में, बीच के किसी स्टेशन से, किसी दूसरे क्लास के चार यात्री घुस बैठे थे। उन्हीं के बीच स्टेशन-मास्टर ने मुझे जगह कर दी। पेशाब की दुर्गन्ध सारे डिब्बे में फैली हुई थी।

ज्यों-त्यों करके सवेरा हुआ और एक छोटा-सा पहाड़ दिखलाई पड़ा। हिमालय मैंने देखा था, इसलिए ऐसा लगा कि गिरनार-पर्वतमाला की यह एक अगली, छोटी पहाड़ी होगी। परन्तु गाड़ी रुक गई और प्रोफेसर भट्ट तथा डॉक्टर कोठारी स्टेशन पर दिखलाई पड़े। जूनागढ़ आ गया। और जो पहाड़ी दीख रही थी, वही गिरिराज गिरनार! कोठारी लीला के मित्र थे। उसने उन्हें पहले ही से लिख दिया था, इसलिए मैं उन्हीं के यहाँ ठहरा। वहाँ मैंने नरसिंह का चबूतरा देखा। प्रोफेसर भट्ट मुझे उपरकोट ले गए। भट्ट 'गुजरात के नाथ' से छलाछल भरे थे। 'आपने इसी बावड़ी का कितना सुन्दर वर्णन किया है!' 'इन्हीं खिड़कियों से खेंगार भागा था!' वापस लौटते हुए सत्यता के लिए मुझे कहना पड़ा कि वर्णन करते समय उपरकोट को केवल कल्पना की आँखों से ही मैंने देखा था। इतिहास के यह प्रोफेसर कुछ स्तब्ध हो गए।

दूसरे दिन हम गिरनार पर चढ़े। लीला कई बार गरमियाँ बिताने यहाँ आया करती थी। भट्ट ने ऊपर आकर एक टीला दिखलाया और कहा—"लीला बहन भी बड़ी गज़ब की स्त्री है। जब यहाँ आती है तब इस टीले पर अकेली चढ़ जाती है।" मेरे हृदय में जो भाव उत्पन्न हुए, उन्हें छिपाने में मुझे परिश्रम करना पड़ा।

जब मैं ऊपर चढ़ा तब गिरनार का सौन्दर्य मेरी समझ में आया। गुजरात काठियावाड़ की सपाट भूमि में यह एकमात्र गिरि था, इसलिए गुजराती की दृष्टि में वह गिरिराज समझा जाय, इसमें कोई नई बात नहीं।

रास्ते में भट्ट ने और मैंने इतिहास को सजीव किया। अशोक, रुद्रदमन और स्कन्दगुप्त की संयुक्त मुद्रा के समान पत्थर देखा। दामोदरकुण्ड देखा। गोरख चोटी के तो दूर से ही दर्शन किये। यहाँ इतिहास था—जीता-जागता, हज़ारों वर्षों का। मैंने जैसे सम्राटों के पद-चिह्न देखे, सन्त और साधुओं के भजनों की प्रतिध्वनियाँ सुनीं। मेरी कल्पना तो उत्तेजित हो ही रही थी, इसलिए अर्जुन और सुभद्रा के प्रणय-गीत भी मैंने सुने।

दूसरे दिन मैं प्रभास गया। मुझे सोमनाथ का मन्दिर और देहोत्सर्ग देखने थे। सवेरे चार बजे मैं मन्दिर गया। मैं यह मानता हूँ कि यह कुमार-पाल द्वारा बनवाये हुए मन्दिर का अवशेष है। मेरे साथ एक विद्यार्थी था।

अँधेरे में हम घूमे। "जहाँ सागर उछले नीर मोतियों की किनार-सा" वहाँ मेरे हृदय ने अनोखे ही आनन्द का अनुभव किया। भगवान् सोमनाथ की छाया में, भगवान् श्रीकृष्ण के स्मरण से अंकित रेती—बालू—में मैं घूम रहा था। दूसरे दिन मुझे अहमदाबाद जाना था—लीला वहाँ प्रतीक्षा कर रही थी।

सवेरे अँधेरे ही में हम भग्न मन्दिर में गये। वहाँ मुसलमान पुलिस-कोतवाल ने घोड़ा बाँध रखा था। जहाँ गुर्जराधीशों के इष्टदेव विराजते थे, वहाँ दुर्गन्धित लीद बिखरी पड़ी थी।

परन्तु जब मैं 'देहोत्सर्ग' गया, तब मेरे क्रोध की सीमा न रही। स्थान तो प्रभु ने बड़ा अद्भुत बनाया था। हिरण्यवती धीरे-धीरे सागर की ओर

बह रही थी। एक पीपल के नीचे एक धूनी पड़ी थी। पास ही एक मन्दिर था।

यहाँ जगद्गुरु वासुदेव का देह पड़ा हुआ था। यहाँ अर्जुनादि सम्बन्धियों ने उनका अग्नि-दाह किया था। समस्त जगत् में इसके समान पवित्र स्थान दूसरा नहीं था, परन्तु किसी को इसकी परवाह नहीं थी। श्रीकृष्ण के नाम पर चरने वाले आचार्यों को इसकी खबर नहीं थी। श्रीकृष्ण के नाम-स्मरण पर जीने वाले स्त्री-पुरुषों को इस स्थान के उद्धार की चिन्ता नहीं थी। हम कृतघ्न-जन जो हैं!

जूनागढ़ के नवाब ने मन्दिर बन्द करवा दिया था। भयत्रस्त जूनागढ़ की हिन्दू जनता की छाती नहीं थी कि इस स्थान का जीर्णोद्धार कराए। बाहर के हिन्दुओं की प्रार्थना कोई सुनता नहीं था। जिस जनता को केवल जान प्यारी हो, उसकी परवाह कौन कर सकता है? खिन्न हृदय से मैं लौट आया और अहमदाबाद की गाड़ी पकड़ी।

४

साबरमती का कौल

मैं कड़कड़ाते जाड़े में अहमदाबाद पहुँचा। लीला मुझे स्टेशन पर लेने आई थी। पन्द्रह दिनों के पत्र-व्यवहार ने हमें एक बना दिया था।

मैं उसके यहाँ गया, उसके पति से मिला। उनका घर-संसार देखा और मेरी आँखें खुल गईं। पति-पत्नी के बीच किसी प्रकार का संसर्ग नहीं था। रेल के आने पर अपरिचित मनुष्य ज्यों क्षण-भर के लिए स्टेशन के विश्राम-कक्ष में मिलते हैं, त्यों ही वे मिलते थे। अधिकतया दीवानखाने में बैठकर हम बातें करते या जो व्यक्ति मुझसे मिलने आते उनसे मिलते। दूसरे दिन प्राणलाल देसाई को लेकर मैं कवि नानालाल से मिलने गया। यह उल्लेख मैंने अपनी पुस्तक 'सीधी चढ़ान' में किया है। उसी समय से मैं कवि के मन से उतर गया।

इन चारों दिन मैं उत्साह से उत्फुल्ल होकर उठा करता। मेरे रोम-रोम में जादू-सी झंकार हो उठती। मैं चाय पीने को नीचे उतरता। लीला मेरी प्रतीक्षा ही करती रहती। कोई एकाध मित्र भी आ जाते। साहित्य-चर्चा करते, किसी की टीका-टिप्पणी करते, एक-दूसरे पर कटाक्ष-आक्षेप करते नौ बज जाते। कोई काम नहीं होता तो दोपहर को भोजन करके हम दीवानख़ाने में बातें करने बैठ जाते। चार बजने पर कोई चाय पीने आता। शाम को कोचरब घूमने जाते। जनूभाई सैयद, जो लीला को पुत्री के समान समझते, और प्राणलाल देसाई रोज़ आते थे। रात को भोजन करके हम

फिर गप लड़ाने बैठ जाते।

साढ़े नौ के लगभग जब मैं सोने को जाता तब इतना ही भान रहता कि मैं स्वर्ग में हूँ।

घर के मालिक दस बजे उठते। सबके भोजन कर लेने पर वह बारह बजे के लगभग अकेले भोजन करते। दो-एक घण्टों के लिए दूकान पर जाते। जब मुनीमजी और एक सलाहकार मेरी सलाह लेने आते तब आकर बैठते। फिर मित्रों के साथ बाहर चले जाते। कभी-कभी नौ के लगभग मौज से लौटकर आते। कभी-कभी आधी रात हो जाती।

यह घर नहीं था, वीरान था। इस कीचड़ में कमलिनी कैसे पैदा हुई, यह मेरी समझ में न आया।

२९ दिसम्बर को मेरा जन्म-दिन है, यह उस समय माना जाता था। उठते ही मैंने देखा कि टेबल पर गुलाब के फूल पड़े हुए हैं। कौन रख गया है, यह सहज ही समझ गया।

शाम को हम प्रान्तिज रेलवे की ओर घूमने गये। मेरे मन में जो विचार उठ रहा था, कुछ देर में मैंने उसे व्यक्त किया।

'कल रात को मैंने एक संकल्प किया कि आज—इस जन्म-दिन पर—मुझे तुम्हारे साथ स्पष्ट बातें करनी चाहिएँ। हमारा सम्बन्ध यों हेतुहीन चलता रहे, इसमें तो महान् दुख है।

'हमारी फजीहत होती जा रही है। हम मैत्री में गहरे-से-गहरे उतरते जा रहे हैं। तब हमें यह निश्चय कर लेना चाहिए कि हमारी मैत्री हमारे जीवन का अनिवार्य अंग है, या केवल उत्साहप्रेरक समागम। इस मैत्री से चिपटे रहने की हममें हिम्मत है या नहीं, यह भी देखना चाहिए। मुझे दिखलाई पड़ता है कि हम इस प्रकार व्यवहार करेंगे तो हमारी प्रतिष्ठा-हानि अवश्य होगी, लोकापवाद तो आएगा ही।'

'मेरा जीवन शुष्क, एकाकी और असहाय है। आपकी मैत्री मेरा सर्वस्व है। मैं जन्म-जन्मान्तर तक उसे सहने को तैयार हूँ। मुझे अपकीर्ति का डर नहीं है,' लीला ने कहा।

'सम्भव है मेरा कार्य-कलाप समाप्त हो जाय,' मैंने कहा।

'यह जिम्मेदारी उठाने योग्य है या नहीं, यह मैं नहीं कह सकती। परन्तु ऐसे समय मैं जैसी हूँ, वैसी ही रहूँगी।'

'जिम्मेदारी का सवाल नहीं है। मैंने तो अपना अविभक्त आत्मा देखा है। उसके साक्षात्कार में ही मुझे जीवन की सफलता मालूम होती है। और यह करने का मैंने दृढ़ संकल्प किया है—भले ही मृत्यु हो जाय। परन्तु इस आत्मा में क्या तुम्हें विश्वास है? तुम उसे टिका सकोगी?'

'इस "आत्मा" की बात मानने में मुझे श्रद्धा नहीं है, परन्तु आपमें मुझे पूरी-पूरी श्रद्धा है और इसलिए "आत्मा" में भी है।' लीला ने स्पष्टता से कहा।

'परन्तु मैं तो व्यावहारिकता और भावनामयता का एक मिश्रण हूँ। "अविभक्त आत्मा" को सिद्ध करना हो तो तपश्चर्या किये बिना छुटकारा नहीं है।'

'कैसी तपश्चर्या?'

'लक्ष्मी मेरी परम सहचरी है। उसके प्रति मुझे मान, स्नेह और कृतज्ञता है। मेरे बच्चे मुझे प्रिय हैं। उनके दुख पर मुझे अपने सुख का किला नहीं बनाना है।'

'परन्तु इसमें तपश्चर्या की क्या बात है?' लीला ने पूछा।

'यदि हमें सहचार शुद्ध रखना हो तो एक ही मार्ग मुझे दिखाई पड़ता है। लक्ष्मी की जानकारी के बिना हम कुछ न करें। यह बड़ी-से-बड़ी तपश्चर्या है।'

लीला मौन रही। मैंने आगे कहा—'भावनामयता को कर्तव्य की कसौटी पर चढ़ाना ही चाहिए। इसलिए मैंने लक्ष्मी को तार देकर बड़ौदा बुलाया है। उससे मैं सब-कुछ हृदय खोलकर कहना चाहता हूँ। अपने पत्र भी उसे दिखाऊँगा। यदि वह अनुमति देगी तो हम सम्पर्क रखेंगे। यदि वह प्रसन्नता से कबूल करेगी तो हम साथ-साथ विलायत जायँगे। यदि वह इन्कार करे तो तुम्हें बम्बई छोड़ देना होगा। मैं शून्य हृदय से

कर्तव्य का आचरण करूँगा। फिर अविभक्त आत्मा का तप आरम्भ होगा— दूर रहकर।'

लीला कुछ देर मौन रही। वह भी कसौटी पर चढ़ी थी।

'अतिलक्ष्मी बहन से सब-कुछ कहिएगा,' उसने कहा, 'और कहिएगा कि वे निर्भय रहें। जो उनका है, वह मुझे नहीं चाहिए। जो उन्हें नहीं मिला और न मिलेगा, यदि उसे वह देंगी तो मैं स्वीकृत करूँगी और अपने "वशिष्ठ" को मैं कभी गिरने न दूँगी।'

यह वार्तालाप ऐसा लगता है, मानो किसी उपन्यास से लिया है। परन्तु उस समय हमारी उत्तेजित कल्पना के कारण हम उपन्यास में ही जीते थे। चाँदनी रात में भीगी आँखों और काँपते स्वर में उसने जिन शब्दों का उच्चारण किया था, वे अब भी मेरे कानों में गूँज रहे हैं। अपनी आत्मा की एकता की वह धन्य घड़ी स्मरण करके हम अब भी उल्लास का अनुभव करते हैं और प्रत्येक २६वीं दिसम्बर को इसकी जन्म-तिथि मनाते हैं।

बिछुड़ने का समय आया। लक्ष्मी इन्कार कर दे तो हमारे मिलने का यह अन्तिम समय था। मेरी रग-रग लीला से हाथ मिलाने को तरसने लगी। इसके लिए अनुमति माँगने को मेरी जिह्वा तैयार थी। जीवन-भर में स्पर्श का लाभ एक ही बार मिले, यह भी हो सकता है। परन्तु मैं इच्छा प्रकट न कर सका। बिना हाथ मिलाए हम दोनों वापिस घर लौट आये।

दूसरे दिन मैं भड़ौंच के लिए रवाना हुआ। बड़ौदा से लक्ष्मी और बच्चे साथ हो गए। हम अपने डिब्बे में अकेले थे।

मेरी व्यवहार-बुद्धि मुझसे टोक-टोककर कह रही थी—'तू मूर्ख है, तू पर-स्त्री के प्रेम में पड़ गया है। कोई मूर्ख भी न कहे, ऐसा अपनी स्त्री से सब-कुछ कहने का प्रयोग कर रहा है। तेरा सब-कुछ नष्ट होने को है।' परन्तु व्यवहार-बुद्धि के प्रति हृदय में अजीब विद्रोह उठ रहा था। 'तू अविभक्त आत्मा के दर्शन करना चाहता था। प्रणय तेरा धर्म था। कर्तव्य

भी तेरा धर्म था। शुद्ध बनना चाहिए। तप के बिना भावना की रक्षा नहीं हो सकती।' मैंने ट्रेन में लक्ष्मी से बात शुरू कर दी। बचपन की 'देवी' के स्मरण, लीला में 'देवी' कैसे मिली इसकी कथा, माथेरान में किया हुआ संकल्प, भावनगर से लिखे हुए पत्र और साबरमती के किनारे किये गए निर्णय मैंने शुद्ध और सच्चे हृदय से उसे बतलाए। लीला के आये हुए पत्र मैंने लक्ष्मी को दिये। मेरा हृदय फटा जा रहा था। मेरी आँखों से अश्रु बह रहे थे। मैंने उससे क्षमा-याचना की और अन्त में कहा—'जो मैंने कहा है, वह अक्षम्य है। एक दृष्टि से मुझे यह अधोगति लगती है, दूसरी दृष्टि से इसमें मोक्ष दिखलाई पड़ता है। मैं तुमसे यही विनय करता हूँ कि तुम मेरी ओर न देखना, मेरे सुख का विचार न करना। तुम्हीं निर्णय करो। तुम ना करोगी तो दुख होगा; तुम हाँ करोगी तो भी दुख तो पड़ेगा ही। प्रणय मेरी बलि लेने आया है—वह अवश्य लेगा। यह पत्र पढ़ो। दो दिन विचार करो, तब अपना निर्णय सुनाओ।'

ता० ३१ को लीला ने लिखा—

आपकी वेदना को मैं समझती हूँ। भगवती उमा को मनाने के लिए महादेवजी ने तप आरम्भ किया है। आकाश में उदित हो रही एक बाला यह देखकर खेद पा रही है, परन्तु उसे रोकने का उसे सामर्थ्य और अधिकार नहीं है। पार्वती देवी की प्रसन्नता की आराधना के लिए भगवान् शंकर तप करें, यह उचित है, परन्तु पार्वती को रूठने का ज़रा भी अवसर न देना चाहिए। तप के बल से उनकी प्रसन्नता प्राप्त करना सम्भव हो तो भी यह कहाँ तक उचित है? यह निर्णय किन्हीं जगतवासियों से नहीं हो सकता। उस आकाश की बाला से तो केवल निःश्वास छोड़ने के सिवा और कुछ नहीं हो सकता। ज्यों-ज्यों प्रभा अधिक होगी, त्यों-त्यों जिम्मेदारी अधिक होगी और त्यों ही दुख भी अधिक होगा।

तीसरे दिन रात को लक्ष्मी मेरे पास आई।

'मैंने बहुत विचार किया,' लक्ष्मी ने कहा, 'मैंने अपना सर्वस्व

आपको सौंप दिया है। जितना हो सका, आपने मुझे दिया है—अधिक आप न दे सके, क्योंकि उसे झेलने या लेने की शक्ति मुझमें नहीं है। लीला बहन जो कुछ आपको देती है, वह मैं नहीं दे सकती। भले ही आप लोग मित्र बने रहें—इस प्रकार आपको जीवन में जो अधूरापन लगता है, वह नहीं लगेगा। हम तीनों विलायत जायँगे। आपमें मुझे पूरा विश्वास है।' इस छोटी-सी सती का अगाध आत्म-समर्पण देखकर मुझमें पूज्य भाव उत्पन्न हुआ—

इस अद्भुत स्त्री के सामने मैं क्षुद्र था, इसका मुझे भान हुआ। मैंने लीला को सूचित किया—

> एक आनन्द की बात कहता हूँ। चार दिनों के चिन्तन के पश्चात् पार्वती ने प्रश्नों का उत्तर दिया है। जटा में गंगा रहे, इसमें उसे बाधा नहीं है। उसे केवल यह चिन्ता है कि गंगा स्थिर-चित्त की नहीं है और परिणामस्वरूप शंकर को भार सहन करना होगा। परन्तु शंकर के कण्ठ में तो विष है, अतएव यह सह लेना उसका स्वभाव हो गया है। यह स्थिति उसे ऐसी विषम नहीं लगती कि जिससे, जब तक गंगा जटा में रहे तब तक प्यास छिपाने का वह अवसर गँवा दे।
>
> आखिर मेरी श्रद्धा फलित हुई। मैंने कहा न था कि मुझे दोनों में श्रद्धा है। जो प्रयोग आरम्भ किया है, वह विचित्र है, असाधारण है; परन्तु यदि इस प्रयोग को हम सफल न करें तो दूसरा कोई करने वाला दिखलाई पड़ता है?
>
> अब पार्वती की प्रतिष्ठा और रक्षा तुम्हारे हाथ है। नियाग्रा-जैसे दो जीवन-प्रपातों को रोककर उससे बिजली पैदा करने का कर्तव्य हमारा है। यह व्यवस्था जितनी कठिन लगती थी, उतनी ही आवश्यक थी। कैलाश पर गंगा के लिए सदा स्थान तैयार रहेगा—शान्त और सौम्य। गंगा की विनाशक शक्ति का संवरण हो जायगा। कवि और योगिनी व्योम में विहार करेंगे, भूतल पर

और पाताल में नहीं। भावना की रक्षा भी होगी। और जो सती मेरी भक्ति की एकनिष्ठा में आनन्द मानती है, उसे सम्मान और भक्ति अर्पित करने में समाविष्ट तप से हमारे जीवन की सफलता सिद्ध होगी।

५

यूरोप जाने की तैयारी

अब यूरोप जाने की तैयारियाँ उत्साह के साथ होने लगीं। लक्ष्मी और लीला बाजार जायँ, कपड़े ले आएँ, और मैं 'पासपोर्ट' के लिए प्रयत्न में लगा रहूँ। हम पत्र-व्यवहार भी करते। लीला को स्वतन्त्र रहने की आदत थी, इसलिए वह ज़रा-ज़रा बात में बाधा उपस्थित करे, लिखे, 'मैं साथ चलने का विचार त्याग देती हूँ।' मैं अपनी मर्जी के माफिक उसकी व्यवस्था करने लगता। दोनों को विश्वास—वह विरोध करती, उसमें भी आन्तरिक भाव तो स्वीकार का ही होता। मैं जो आदेश करता, वह भी ऐसे विश्वास से कि वह स्वीकृत कर लेगी। 'पासपोर्ट' में जर्मनी को छोड़ दिया और वह गुस्सा हो गई। मैंने लिखा—

> **साधारणतया जर्मनी शेष रह जायगा, परन्तु इससे इतना अधिक तेज़ हो जाने का क्या कारण है? तुम जहाँ चाहो और जब तक चाहो तब तक वहाँ रहने के लिए स्वतन्त्र हो। तुम्हें अपनी सुविधा, संरक्षण और हित की रक्षा होती लगे तो तुम जहन्नुम में भी चली जा सकती हो। तुम्हें जब कोई बाधा नहीं मालूम होती, तब मुझे आँखें दिखाने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।**
>
> **(२५-१-२३)**

साथ-साथ हम लेख लिखा करते और हम पर होने वाली टीका-टिप्पणी एक-दूसरे को कह बताते या लिखते।

लीला को मैंने अहमदाबाद लिखा—

सौ० अतिलक्ष्मी आज सवेरे भड़ौंच गई हैं। उन्हें भी यूरोप जाने का बहुत उत्साह पैदा हो गया है, इसलिए पेट्रोल और पैसा दोनों को धुआँधार खर्च कर रही हैं। दुनिया में मितव्ययिता से काम लेना था तो स्त्रियों को क्यों पैदा किया? हे प्रभो, हे दीनानाथ, अपने हाथ की एक झपट से पृथ्वी को स्त्रीहीन कर दो! हम 'नियोबी' नामक हास्यरस का अँग्रेजी नाटक देख आए। उसमें एक पुरानी ग्रीक-मूर्ति सजीव होती है और घर के मालिक पर आसक्त हो जाती है। सालियों और सालों से भरे घर में बड़ा मज़ा आता है। एक मामूली सड़ी-सी अँग्रेजी कम्पनी भी कितना सुन्दर अभिनय कर सकती है!

सोमवार को मंगल के साथ पावलोवा के नृत्य देखने को जाने का कार्यक्रम है। अब मालूम होता है कि मैंने विहार-क्रम आरम्भ कर दिया है, बख्तर निकाल फेंका है, इसलिए सारे अंग स्वाभाविक और उत्साहपूर्ण संचालन कर सकते हैं; या जो आत्म-सन्तोष बढ़ गया है, इस कारण अनन्त कार्यचक्र बनने की इच्छा शिथिल हो गई है। यूरोप की यात्रा पूर्ण नहीं हो जायगी, तब तक कुछ भी समझ में न आएगा। इस समय तो सब ज़िम्मेदारियाँ खूँटी पर टाँग दी हैं। आज 'कुक' के यहाँ यात्रा का कार्यक्रम निश्चित करने जा रहा हूँ। अमरीकन पद्धति से सुविधापूर्ण दौड़-भाग हो सके, अच्छी-से-अच्छी चीज़ें देखने के दृष्टिबिन्दु से क्रम निश्चित हो जाय, और साथ ही अधिक-से-अधिक आनन्द आए, इस प्रकार घूमा जा सके—ये तीनों भिन्न-भिन्न दृष्टिबिन्दु किस प्रकार एक साथ रह सकें, इस महान् प्रश्न को मुझे हल करना है। तुम्हारे बिना दिये, लिये हुए मुख्तारनामे की रू से तुम्हारी यात्रा भी अपनी इच्छानुसार व्यवस्थित कर देने की आज्ञा लेता हूँ। आशा है कि इससे तुम्हारी स्वतन्त्रता में बाधा न आएगी और तुम्हें

अपना सन्तुलन गँवा देने का कारण न रहेगा।
मैं आनन्द मग्न रहता था।

कैसे-कैसे स्वप्न आया करते हैं, यह सीधे लक्ष्मी से ही पूछना। वह कह सकेंगी। आजकल उनके भी अन्तर के द्वार खुले हैं। इतने वर्षों में वह मुझे पूर्णतया पहचान गई हैं और मैं भी अब संकेत से समझ लेता हूँ। थोड़ा सा भार कम किया जाय तो वह बहुत आनन्द में हैं। हमारा सहजीवन अधिकांश ईर्ष्या करने जैसा सुन्दर था। यूरोप की यात्रा से लोगों को अधिक डाह करने का अवसर मिलेगा। यह सारा प्रताप उसका है, जो पत्थर को देवता बना दे। (२७-१-२३)

इस नई परिस्थिति के कारण मेरा जगत् एकदम—अभी मेरा नहीं हुआ था—निन्दा और टीका-टिप्पणी करने लगा। क्या कहा जा रहा है, यह सहज ही ध्यान में आने लगा। एक आदरणीय कानून के पण्डित को इस बात में बड़ा मज़ा आया। वह मेरे मुँह पर कहकर ही मज़ा लेने लगे। हमारी अग्नि-परीक्षा का आरम्भ हुआ।

बहुत हो चुका। यह भयंकर संकल्प अन्तिम चार दिनों के एकाग्र आत्म-निरीक्षण का परिणाम है। तुम दोनों मुझे गर्विष्ठ बना रही हो। तुम-जैसी संस्कारी आत्मा के सिवा दूसरों के साथ ऐसा विशुद्ध और निर्दोष सहधर्माचार नहीं सध सकता था। पार्वती जैसे विशाल हृदय के बिना इतना औदार्य और श्रद्धा कोई नहीं दिखा सकता था। कल चाहे जो हो, आज एक दिन तो मैं सुखी हूँ—यह मानने का मेरा अधिकार सिद्ध हो गया है।

यह बात बिलकुल नहीं है कि प्रतिष्ठा के विनाश का मैंने विचार नहीं किया। मैंने इसका पुख्ता विचार किया है, और जो परिणाम होगा उसे सहने को जैसा तैयार था वैसा ही तैयार हूँ। अभी तक सीज़र की स्त्री के जैसा मेरा जीवन शंका से भी परे था, इसलिए यह नया रंग अपरिचित मालूम होता है। परन्तु क्षुद्र

जगत् के दौर को भी सीमा छोड़नी पड़ती है···

विलायत जाना तुम्हारे जीवन का अनोखा लक्ष्य है, यह भी मैं पहले से देखता आ रहा हूँ। यह चीज़ तुम त्याग दो—दूसरे पलड़े में असत्य से चिपटी दुनिया का अभिप्राय···

हमें अकेले जाना चाहिए या अगले वर्ष जाना चाहिए! इसका अर्थ इतना है कि पौन जिन्दगी में प्राप्त की हुई प्रतिष्ठा ऐसे खोखले घड़े की तरह है कि मैं और मेरी पत्नी किसी प्रतिष्ठित महिला को साथ लेकर घूमें तो वह घड़ा फूट जाय! ऐसे खोखले घड़े का मूल्य ही क्या? और उसकी रक्षा करने के प्रयत्न की भी कोई सीमा हो सकती है या नहीं? व्यर्थ की प्रतिष्ठा के प्रचलित रुपये का मूल्य कब तक होता रहेगा? इसमें खरीदने की शक्ति है, परन्तु जिस प्रकार की वस्तुएँ यह खरीद सकता है वे ऐसी आवश्यक नहीं हैं जिनके बदले भावनाएँ त्यागी जा सकें। भावना के नियम सर्वोपरि हैं। उनके लिए थोड़ा-बहुत सहन करने के लिए जो तैयार न हो, वह मनुष्य नहीं है।

यह साधारण दृष्टि है, परन्तु इससे भिन्न दृष्टि से भी देखा जाय। यदि इतना सहन न हो तो उज्जयिनी के कवि के अवतार व्यर्थ हो गए, ऐसा भी क्यों न कहा जाय? इसलिए यह चिन्ता दूर कर देना। बहन, तुम्हारी बात टालनी नहीं है। परन्तु तुमने यात्रा न करने की योजना बना ली, यह अब व्यर्थ है। जो लहरें उठ चुकी हैं, क्या वे ऐसी हो सकती हैं जैसे उठी ही न हों? तुम न जाओगी, तब भी वे रहेंगी और हम अपने सामान्य जीवन में अलभ्य और अतुल-से अवसर को हाथों गँवा देंगे। हमारा समन्वय—गंगावतरण—धारणा से भी अधिक विजयी हुआ है। परम भावना के प्रदर्शित पथ पर जाते हुए यदि दुःख आ पड़े तो दुःख किस पर नहीं पड़ा?

(२७-१-२३)

लोकापवाद से लीला भी अस्वस्थ हो चली थी।

परमेश्वर मुझे मार्ग सुझाने नहीं आएगा। इस समय तो यह काम उसने आपको सौंप दिया है। व्यक्तिगत दृष्टि अलग रखकर मुझे सच्चा मार्ग न सुझाइएगा? घड़ी-भर के लिए यही समझ लीजिए कि आप किसी दूसरे ही मनुष्य के लिए विचार कर रहे हैं। आप पक्षपाती तो हैं, परन्तु इससे आपके प्रति मेरा विश्वास कम नहीं होता।

कुछ दिनों बाद उसने बम्बई में रहते हुए मुझे बम्बई फिर लिखा—

कल की आपकी मनोदशा देखने के बाद मुझे उसकी छूत लग गई है। अपनी शाम और रात की बात तो नहीं लिखूँगी, परन्तु एक बात साफ मालूम होती है। आपके मन और शरीर को जो श्रम करना पड़ रहा है, वह मैं देख रही हूँ। आपको इस समय जाना उचित न मालूम होता हो तो हम स्थगित कर दें। मैं तैयार हूँ और आप दोनों जायँ तो भी मैं रह जाने को तैयार हूँ।

मैंने ऊपर वाली मंज़िल से लिखा—

आज दो दिनों से तुम बहुत दुखी दिखलाई पड़ती हो, यह क्यों? गुस्सा हो? किससे? किसलिए? क्या मैं जान सकता हूँ? काम करते समय मेरी आवश्यकता न पड़े तो कोई बात नहीं। इस समय क्या अधिकारहीन पराया मनुष्य पूछ सकता है?—जो योजनाएँ चल रही हैं, उनमें क्या मेरा भाग नहीं है? कुछ मनुष्य जन्म से ही स्वार्थी और कृतघ्न होते हैं—नहीं, भूल गया—व्यक्तित्व वाले होते हैं।

तुम कैसी एकाकिनी और फिर भी कितनी बहादुर हो? और तब भी व्यक्तित्व की ज़िद ले बैठती हो? बहन, किन्तु कितनी अद्भुत कि फिर से स्वप्न धीमा होता जा रहा है! अधिक नहीं लिखा जाता, परन्तु कल्पना करने की अपेक्षा उसे जान लेने में क्या कम दुख समाविष्ट नहीं है? एक विचार हम दोनों को एक साथ आया था। अभी से हमें ऐसी योजना करनी चाहिए कि

तुम्हारे गौरव और स्वातन्त्र्य दोनों की रक्षा हो, और आश्रय खोजने के लिए किसी भी समय सत्याग्रहाश्रम में जाने की आवश्यकता न पड़े। स्वतन्त्र व्यक्ति की भाँति वहाँ जाकर रहा जाय या अध्ययन किया जाय, यह दूसरी बात है।

इतनी ही बात बस थी। उज्जयिनी के कवि ने उस पर महाभारत रच दिया होता। योगिनी के स्वातन्त्र्य, संस्कार और स्वास्थ्य अभेद्य कैसे रहे, यह प्रश्न गहन विचार करने योग्य है।

फिर एक पत्र में लिखा—

बहन, मेरी सारी क्रियाशीलता का क्या अर्थ है? परमात्मा ने मुझे सुविधा दी, आवश्यक पैसा दिया, शक्ति दी, स्नेहशीला माता तथा भक्त पत्नी का सुख दिया और मित्र का विश्वास दिया। फिर भी किसी के लिए मैंने कुछ नहीं किया, क्योंकि मैं स्वभाव से स्वार्थी हूँ। ज़िन्दगी में मैंने लिया है, दिया नहीं। फिर उदारता कहाँ से आई, यह मेरी समझ में नहीं आता। मैंने तुम्हारे लिए ही क्या किया? तुम्हारे जीवन में ध्येय नहीं आया; तुम्हारे भग्नोत्साह हृदय में नई आशा का स्फुरण नहीं हुआ तुम्हारे—मैं विशेषण का व्यवहार नहीं कर रहा—संसार-परिवार में आश्वासन और शान्ति नहीं आई। तुम्हारी प्रतापी बुद्धि सफल होने का मार्ग नहीं खोज सकी और तुम्हारे भविष्य की रचना कुछ भी न सुधार सकी।

(२७-१-२३)

इस समय एक चमत्कारी युवक का साथ हुआ। आधुनिक शिक्षा-प्राप्त लोग यह समझते हैं कि उनकी बुद्धि से जो न समझा जा सके वह सत्य नहीं हो सकता। परन्तु अपने अज्ञान से ज्ञान की मर्यादा निर्धारित करने को मैं तैयार नहीं था।

जब मैं मैट्रिक में था तब पण्डित दुर्गाप्रसाद हमारे यहाँ भड़ोंच आये थे। पिताजी तब जीवित थे। यह पण्डित प्रश्न और उसका उत्तर पत्र पर लिखकर उसे लिफाफे में सील कर देते थे। फिर हमसे बड़ी-बड़ी संख्याओं

के गुणा कराते। कुछ देर में हमसे कोई फूल या नाम सोचने को कहते और उसे लिफाफे पर लिखवा लेते। फिर सील किया हुआ लिफाफा हमसे खुलवाते। लिफाफे पर और पत्र में हमारा सोचा हुआ ही नाम लिखा होता।

यह प्रयोग बाद में मैंने बहुत से लोगों को करते देखा। १९०९ में पण्डित दुर्गाप्रसाद बम्बई में मिले। उन्होंने मुझे त्राटक करना सिखाया। त्राटक से इच्छित सुगन्धि कैसे फैलाई जा सकती है, यह उन्होंने कर दिखाया। १९१३ के बाद मैंने ध्यान और त्राटक करना शुरू किया, परन्तु अपने कार्य के परिश्रम और इस प्रक्रिया से मेरा सिर दुखने लगा। मैंने श्री अरविन्द को पत्र लिखा कि यदि आप गुरु बन जायँ तो मैं योगाभ्यास चालू रखूँगा और यदि पत्र का उत्तर न देंगे तो अभ्यास छोड़ दूँगा। उत्तर नहीं मिला और मैंने अभ्यास छोड़ दिया।

१९१७ में एक साधारण-सा मालूम होने वाला अनुभव मुझे हुआ। सन्ध्या समय मैं अपने चेम्बर में बैठा था कि एक साधु आया। 'बेटा पच्चीस रुपये दे दे', उसने कहा।

'महाराज, यहाँ से सिधारिए,' मैंने कहा।

'बच्चा, दे दे। रामजी की आज्ञा है।' उसने आत्म-विश्वास से कहा। मैंने कड़े शब्दों में उससे चले जाने को कहा। साधु द्वार में खड़ा था। बीच में टेबल रखा था और उसके दूसरी तरफ मैं बैठा था।

'बच्चा, रामजी की आज्ञा है। देख तेरे हाथ में ...।'

मैंने अपनी हथेली खोलकर देखी। मेरी दाहिनी हथेली में रंग से **'श्री राम'** लिखा हुआ था। मैंने चट से पच्चीस रुपये दे दिये और साधु आशीर्वाद देकर चला गया।

मैं चौंककर जाग उठा होऊँ, इस प्रकार आँखें मलने लगा। आठ फीट की दूरी पर खड़े साधु ने मेरी हथेली पर अक्षर लिखे थे। यह भ्रम नहीं था, क्योंकि साबुन से धोने पर यह अक्षर कठिनाई से मिटे। मानसिक बल से स्थूल साक्षात्कार हो सकता है, इसका यह मेरा दूसरा अनुभव था। योग से मानसिक बल ऐसा विकसित होता है कि सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती

हैं, मेरा यह अचल विश्वास रहा है। कई प्रकार की सिद्धियाँ कुछ लोग जन्म ही से साथ ले आते हैं, इसका उदाहरण इसी समय मुझे मिला।

१६२३ के जनवरी मास में मुझे मीर से परिचय हुआ। यह काश्मीरी युवक बम्बई आया। किसी के मन में सोचे हुए प्रश्नों को यह बता सकता था और उनके उत्तर दे सकता था। यह देखकर एक बम्बई के व्यापारी ने इससे हिस्सेदारी का इकरारनामा लिखा लिया। इस हिस्सेदार ने पैसा खर्च करके भविष्यवेत्ता के रूप में मीर का विज्ञापन किया और पच्चीस रुपये में एक प्रश्न का उत्तर देने का व्यापार शुरू कर दिया। उस व्यापारी ने बाकायदा ऑफिस खोला और वहाँ रोज पैसा बरसने लगा। उसके मन में था कि मीर पैसा कमाने की एक मशीन है, परन्तु पन्द्रह दिन बाद मीर के उत्तर गलत होने लगे। उस व्यापारी को इकरार का भंग होते दीख पड़ा। उसने हिस्सेदारी समेट ली और हाईकोर्ट में दावा करके इकरार तोड़ने का नुकसान माँगा और रिसीवर के लिए दरख्वास्त की।

मीर की ओर के सोलिसिटर मुल्ला-मुल्ला ने मुझे नियत किया। मुझे इसमें मज़ा आया। मीर बेचारा अपढ़ था, बिलकुल घबरा गया और मेरे आगे रो पड़ा। बोला—'साहब, मुझे काश्मीर जाने दो।'

उसने सीधी-सादी बात कह दी। छुटपन से ही उसमें ऐसी नैसर्गिक शक्ति थी कि कोई मनुष्य मन में प्रश्न करे कि तुरन्त इसके मन में उसका उत्तर आ जाय और वह अपने-आप लिखा जाय। परन्तु बहुत से प्रश्न पूछे जायँ तो उसकी यह शक्ति मर जाती और प्रश्न के उत्तर गलत हो जाते; क्यों हो जाते इसे वह नहीं जानता था। यदि वह चार-छः दिन जंगल में भटक आए तो उसकी शक्ति फिर आ जाय, ऐसा उसने कहा।

मैंने उसे घर पर बुलाया। लक्ष्मी, बाबी बहन, मणिभाई नाणावटी, सोलिसिटर मेदवार और मैं, ये पाँच व्यक्ति थे। मीर ने पहले हमसे कहा कि सब प्रश्न या तो भूतकाल के या भविष्यकाल के होने चाहिएँ। हमने भविष्य के ही प्रश्न करना निश्चित किया। फिर उसने हम सब से तीन-तीन प्रश्न अलग-अलग कागजों पर लिखने को कहा। हमने वे लिखे और प्रत्येक

कागज पर मैंने संख्यांक लिखकर उन्हें अपनी टोपी में डाल दिया। मीर ने पूछा—'किसके अक्षरों में उत्तर चाहिए?' मुझे याद है, मैंने कहा था कि मणिभाई के अक्षरों में उत्तर आने चाहिएँ। मीर ने मेरा पेन लिया और प्रश्नों वाले परचे जिस टोपी में पड़े थे, उसमें रख दिया।

फिर उसके कथनानुसार एक परचा मैंने उठाया। मीर ने मणिभाई से पूछा—'आपके भाई हैं?' मणिभाई ने कहा—'हैं?' मीर धीरे-धीरे बोला, मानो पढ़ रहा हो, 'When will my brother come from Rangoon?' फिर उसने मुझसे परचा खोलकर पढ़ने के लिए कहा। परचे में यही प्रश्न था और मेरे पेन से उसमें मणिभाई के अक्षरों में लिखा था—'Next year.'

इस प्रकार पन्द्रह प्रश्न उसने पढ़े। उत्तर लिखे थे और प्रत्येक मणिभाई के अक्षरों में। मैंने इसका वर्णन लीला को उसी दिन लिखा—

अभी मीर नाम का एक विचार-पारखी आया था। विचारों की परख बहुत ही अच्छी करता है। मैंने तीन प्रश्न पूछे—

(१) क्या मेरे मित्र मुझसे छूट जायँगे और ऐसा हो तो कब? —नहीं।

(२) क्या मैं सरकारी नौकरी करूँगा और कब?—नहीं।

(३) मैं यूरोप से कब वापस लौटूँगा?—आप सन् '२६ में जायँगे और २७ में वापस लौटेंगे।

परचे पर लिखकर बन्द किये हुए प्रश्न उसने पढ़े और बन्द किये हुए परचों पर जवाब लिखे गए। जवाब तो अच्छे मिले, परन्तु यूरोप का क्या होगा? (२७-१-२३)

जब लीला बम्बई आई तब हमने फिर मीर को बुलाया। इसके बाद मैंने उसके मुकदमे को खत्म करा दिया और वह लड़का बम्बई से चला गया।

कई अज्ञात मानसिक शक्तियाँ ऐसी हैं कि प्रकट प्रक्रिया के बिना स्थूल जगत् में इच्छित सर्जन कर सकती हैं, इसका मुझे इस प्रकार अधिक प्रमाण मिल गया।

१९०७ से मैं जप, संवेग और ध्यान से अपना स्वभाव बदलने के

प्रयोग कर रहा था। योग-सूत्र की सहायता से मैं संसारी जीव अपनी आकांक्षा सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहा था। कहानी के पात्रों का सर्जन करते हुए भी यही क्रम मुझे मालूम हुआ—उत्तेजित कल्पना, विकल संवेग, ध्येय पर एकाग्रता। ध्येय के साक्षात्कार का प्रयत्न करते हुए जब स्वरूप भूल जाय, अपने का भान न रहे, तब सर्जन होता है। 'देवी' का चिन्तन करके मैंने उसका साक्षात्कार किया था। अब इसी नियम के आधार पर मैं लीला और अपने बीच अविभक्त आत्मा का सर्जन करने लगा।

कांग्रेस छोड़ने के बाद मैंने राजनीति को तिलांजलि दे दी थी। १६२२ से मैं साहित्य-सेवा में लग गया था। अपने रोजगार—वकालत—में तो मैं आगे बढ़ता ही जा रहा था। जिन्ना की और मेरी मैत्री गाढ़ी होती गई थी। १६१७ में जब भूलाभाई ने मुझे अपना चेम्बर छोड़ जाने को कहा, तब जिस सहानुभूति से जिन्ना ने मुझे अपने चेम्बर में आने को कहा था, वह 'सीधी चढ़ान' में लिख गया हूँ। उनकी तरह मुझे भी गांधीवाद देश के लिए हानिकारक लगता था। मैं यह बिलकुल सही समझता था कि सत्याग्रह से अराजकता बढ़ेगी और पार्लमेण्टरी पद्धति त्यागने से प्रगति नहीं की जा सकती। परन्तु गांधीजी का प्रभाव तो प्रलय-काल के समुद्र की भाँति सब-कुछ जल जलाकार करता जा रहा था। इस समय चित्तरंजनदास और मोतीलाल नेहरू गांधीजी के मण्डल में होते हुए भी कुछ अंश में यही मानते थे। होमरूल लीग के पुराने स्तम्भों को इकट्ठा करके नई पार्टी बनाने की इच्छा सी० आर० दास को हुई थी और उसे पूरा करने के लिए वह बम्बई आये। हमारी इस भेंट का वर्णन मैंने उसी दिन लीला को अहमदाबाद लिख भेजा—

बहुत ही व्यक्तिगत बात है। आज दास और जिन्ना की कान्फ्रेंस हुई थी। जिन्ना थे और उनके 'लेफ्टिनेण्ट' की तरह मैं था। सत्यमूर्ति और रंगास्वामी भी थे। दास की इस नई पार्टी में हमें शामिल होना चाहिए या नहीं, और शामिल होना हो तो किस शर्त पर, इस पर विचार हुआ था। आज रात को फिर वही

विवाद चलेगा। कल कुछ निश्चय होगा। जिन्ना शामिल हों या नहीं यह एक सवाल है; और वे शामिल हों तो मैं इस पार्टी का मन्त्रीपद स्वीकृत करूँ या नहीं, यह दूसरा बड़ा और व्यक्तिगत सवाल है। ऐसा लगता है कि जिन्ना मेरे बिना शामिल न होंगे। जिन्ना हाँ कर लें तो फिर मैं अलग कैसे रह सकता हूँ? और न रहूँ तो भविष्य के जीवन का प्रवाह, भावी सिद्धियाँ, साहित्य आदि सब एकदम बदल जायँ। यह सवाल इतनी जल्दी खड़ा हुआ है कि बिना विचारे कुछ हो जायगा, ऐसा लगता है। जो हो वह ठीक है। यह बात बाहर न जाय।

दास और जिन्ना की इस भेंट का कोई परिणाम न हुआ। जिन्ना भयंकर वास्तववादी थे। जिस चीज की उन्हें आवश्यकता हो, वह स्पष्ट रूप में माँगें और सीधी तरह प्राप्त करने का प्रयत्न करें। जिन्ना में सूक्ष्म विश्लेषण करने की शक्ति नहीं थी, परन्तु घोड़ा-बुद्धि (horse sense) बहुत थी। गांधीजी द्वारा प्रेरित सामुदायिक आन्दोलनों में जिन्ना को राजनीति का विध्वंस दिखलाई पड़ता था। मुसलमान होने के कारण गांधीजी के महात्मापन में उन्हें रस नहीं था और गांधीजी के प्रचंड व्यक्तित्व से ईर्ष्या तो उन्हें थी ही। गांधीवाद की ओर दास को भी उस समय दिलचस्पी नहीं थी, परन्तु यह बात उन्होंने स्पष्ट रूप में कही कि गांधी-विरोधी होनेवाले को जन-समूह क्षण-भर के लिए भी नहीं टिकने दे सकता। उनका विचार यह था कि जो नई पार्टी वह बनाएँ, उसे गांधीजी का साथ नहीं छोड़ना चाहिए। रंगास्वामी आयंगर, सत्यमूर्ति और मैं, तीनों पुराने मित्र थे। रंगास्वामी का शुद्ध हृदय मुझे अनेक वर्षों से मोहित किये था। रात को जब वह भोजन करने आये, तब हमने बड़ी देर तक बातचीत की। नई पार्टी बने तो वह और मैं मन्त्री-पद ग्रहण करें, यह बात उन्होंने कही। परन्तु मेरे व्यक्तिगत प्रश्न ऐसे जटिल हो गए थे कि यह नया कार्य हाथ में लेने का मुझे साहस नहीं था।

दूसरे दिन दास और जिन्ना की फिर भेंट हुई—डॉ० जयकर के यहाँ,

ऐसा मुझे याद है। जिन्ना ने स्पष्ट कह दिया कि कांग्रेस और गांधीजी के नेतृत्व में पार्लमेण्टरी पार्टी स्थापित हो तो वह शामिल न होंगे।

लीला गांधीजी के आश्रम में रह आई थी और उनके परिचय में आ गई थी। महादेव भाई, आचार्य गिडवानी और काका कालेलकर उस पर बहुत ही सद्भाव रखते थे। राजनीतिक सिद्धान्त वह आश्रम से सीखी थी, इसलिए हमारी बातचीत से उसे अलग हो जाने की सूचना हुई।

लीला ने मेरे पत्र का उत्तर दिया—

कल रात के बाद न जाने क्यों मैं अस्वस्थ हो गई हूँ। न जाने कहाँ से मेरे मस्तिष्क में विचार आया कि कदाचित् राजनीति में हमारी मैत्री नहीं निभ सकती। राजनीति के विषय में अभी मैंने गम्भीरता-पूर्वक विचार नहीं किया, किन्तु मस्तिष्क में एक प्रकार के पूर्वग्रह बँध गए हैं। आप अपनी रीति से, अधिक सीधी रीति से, अधिक गहराई से देख सकते हैं। परन्तु मुझे लगता है कि यदि मैं कभी देखने लगूँ तो हमारी दोनों की देखने की रीति भिन्न हो जायगी। मैं इस विषय में इतनी चिन्तातुर हूँ, यह मैंने कल तक नहीं जाना था। मुझे अब राजनीति पर अधिक ध्यानपूर्वक विचार करना पड़ेगा। आपके साथ किसी भी विषय में, किसी भी दिन, मतभेद होने की सम्भावना-मात्र मुझे असह्य मालूम होती है।

जॉन ऑफ आर्क ने फ्रांस को आकर्षित किया, उसी प्रकार मैं भी किसी दिन इस देश को करूँगी, ऐसा एक दूर का खयाल, जब मैं बहुत छोटी थी, तब मेरे मस्तिष्क में था। सरल जॉन की चातुरी से यह देश इस समय आकर्षित नहीं किया जा सकता और जॉन की तरह दिव्य आदेश भी मुझे नहीं मिलते। फिर भी एक उच्च कोण की आशा है कि देश को आकर्षित करने का अहोभाग्य किसी दूसरे जन्म के लिए स्थगित करके, इस जन्म में देश की यत्किंचित् सेवा की जा सके और समस्त मत-मतान्तर के झगड़ों से दूर रहा जा सके तो जीवन बिलकुल व्यर्थ नहीं गया, इतना

आश्वासन तो रहेगा। सारे मतभेद सहे जा सकते हैं, परन्तु आपके साथ ? इसकी कल्पना भी असह्य है।

मतभेद होते हुए भी मित्रता बनाई रखी जा सकती है, ऐसा बहुत लोग कहते हैं। कदाचित् यह सत्य हो तो भी एकता तो नहीं आ सकती। और आपकी बात कौन जाने, परन्तु मैं तो, मित्रता से भी कुछ अधिक ऐक्य साधने की आशा रखे बैठी हूँ। मित्रता में 'दो' का भाव रहता है, और जब तक दो से मिटकर एक न हुआ जाय, तब तक सब व्यर्थ है।

हम मनुष्य से मिटकर देव हो सकते हैं, परन्तु ब्रह्म बन जाना इतना सरल नहीं है।

मैं अपने को और अपने विचारों को कैसे बुरे ढंग से व्यक्त करती हूँ ! ऐसी अज्ञानी मित्र मिलने का आपको खेद नहीं होता ? प्रिय मित्र, मुझ पर क्रोधित न होना। मैं मार्ग से भटके हुए बालक के समान हूँ और भयत्रस्त आँखों से मार्ग खोज रही हूँ। ऐसा बालक जब न समझ पाए, तब कोई माफ करना चाहे, या कोई उसे चुप कराना चाहे तो भी वह रो पड़ता है।

अन्तिम बार उसने अंग्रेजी पंक्तियाँ लिखीं—

My heart was cold, my eyes were tired,
I could not think but of one thing,
I waited and waited to see you passing by
And to bless the day if I could catch your eye.
I saw you passing by:
But your eyes I could not catch:
And you do not know what this meant to me.

यह पत्र मिलने के बाद राजनीति में पड़ने की जो कुछ इच्छा थी वह भी थम गई।

हमारा भाविष्य विलायत की यात्रा में ही समा गया मालूम हुआ। अद्भुत प्रकार से लक्ष्मी और लीला दोनों पूरे स्नेह और विश्वास से बरत

रही थीं। मैं केवल साहित्य द्वारा अपनी विह्वलता व्यक्त करता था। 'गुजरात के नाथ' की मंजरी काल्पनिक शब्द-प्रतिमा है और 'राजाधिराज' की मंजरी की प्रतिमा सजीव स्त्री के आकार से बनाई गई है। इसी अवसर पर मैंने 'अविभक्त आत्मा' नाटक लिखना आरम्भ किया था। इसमें अनायास ही हमारी भावना, हमारे आशय, हमारे छोटे-मोटे मतभेद और जगत् के दारुण कोप का चित्र है। बहुत बार हम एक-दूसरे को 'वशिष्ठ' और 'अरुन्धती' के नाम से सम्बोधित करते थे। यह नाटक हमें काल्पनिक आश्वासन देने के लिए लिखा गया था और हम जो स्पष्ट रूप में नहीं कह सकते थे, वह साहित्य द्वारा कहने लगे। यह सब-कुछ गुप्त रूप से नहीं होता था। जीजीमा, लक्ष्मी और निकट का हमारा मित्र-मण्डल स्पष्ट रूप से हमारा प्रणय देख सकते थे। परन्तु इसे पागल साहित्यकार का मनोरोग समझ-कर सब सह लेते। बाहर के तो सब लोग मान ही बैठे थे कि हम अधमा-चारी हैं।

मैंने जब से साहित्य-संसद् की स्थापना की, तब से 'गुजराती' पत्र ने 'सिंहावलोकन' के कालमों में मुझ पर टीका-टिप्पणी शुरू कर दी थी। अम्बालाल जानी, इस पत्र के उपसम्पादक, चन्द्रशंकर के कारण मेरे निकट के मित्र-मण्डल में थे। परन्तु जब से नरसिंहराव ने 'गुजरात के नाथ' के उपोद्घात में इस उपन्यास को 'सरस्वतीचन्द्र' से बढ़कर बताया, तब से मैं उनके हृदय से उतर गया। वह मेरे जीवन की छोटी-मोटी बातें 'गुजराती' के सम्पादक को बताते। प्रत्येक रविवार को सवेरे काँपते हृदय से मैं 'गुजराती' पत्र को खोलता और लीला या अपने विषय की टीका-टिप्पणी—अनेक ध्वनियों की वाणी—मैं पढ़ता। अकुलाकर और आँखें मींचकर, 'अवि-भक्त आत्मा' का स्मरण करके मैं जगत् को फटकारने का साहस बनाए रखता।

इस प्रकार हमारी मैत्री के आसपास रस का एक वर्तुल बन गया और जिन्होंने जीवन में प्रणय का अनुभव नहीं किया था, उनके मुँह में पानी आ गया। इसी समय 'सिंहावलोकन' में एक प्रख्यात गीत का विकृत स्वरूप

इस प्रकार छपा कि जिससे गुजरात में हमारी बहुत टीका-टिप्पणी हुई। उसकी कुछ पंक्तियाँ याद हैं—

बहुत समय हुआ मुन्शी को देखा था।
छोटी-छोटी आँखों पर चश्मा चमक रहा था,
वह चितचोर;
बहुत समय हुआ मुन्शी को देखा था।

एक माननीय मित्र से मुझे रोज मिलना पड़ता था। उनकी विकृत रसिकता ऐसी उत्तेजित थी कि वह नित्य कोई-न-कोई आघात करने लगे। होठ-पर-होठ दबाकर, मौन मुख, मैं यह आघात सहन करता रहा। इस वेदना का दर्शन 'अविभक्त आत्मा' में होगा। परन्तु कुछ स्नेही मित्रों ने मुझे उदारता से अपना लिया। सोलिसिटर मणिलाल नानावटी और उनकी स्वर्गीया पत्नी बाबी बहन, मंगल देसाई तथा उनकी पत्नी लीला बहन और बम्बई के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री बालासाहब खेर, ये सब मुझ पर सहोदर के समान प्रेम रखते थे। कुछ अंश में मेरे कारण, कुछ अंश में लीला के कारण, उसे इन सबने हमारे मण्डल के अंग रूप में स्वीकृत कर लिया था।

हम जब नाटक-सिनेमा में जायँ या घूमने जायँ, तब लीला भी साथ में होती ही। हम विलायत जाने वाले थे, इससे कुछ दिनों पहले खेर ने हम तीनों को ताजमहल होटल में पार्टी दी। जब सारा जगत् शत्रु था, तब इन तीन मित्रों की हरियाली छाया के उपकार को मैं कैसे भूल सकता हूँ?

ललित जी मुझ पर अत्यन्त स्नेह रखते थे। लगभग हर रविवार को वह अवश्य आते, चाय पीते और कोई गीत गा जाते। लीला पर भी वह बहुत स्नेह रखते थे। जब हम तीनों होते, तब उनकी रसिकता बहुत ही खिल पड़ती। उनकी कवि-दृष्टि हमारे प्रणय का सम्मान करती थी। हमारी ओर सार्थक दृष्टि डालकर जब वह दो गीत गाते, तब उन्हें बड़ा आनन्द आता। एक तो वह 'काणा घेला कानुडानी भूरे विजोगण वांसलड़ी' (पगले श्यामल कान्हा की वियोगिन बाँसुरिया उसासें ले रही है) और दूसरा, मीरां का

प्रख्यात पद वह गाते और उसमें इस पंक्ति पर भार देते—'वृन्दावन की कुंजगली में थारी लीला गाश्यूँ । मने चाकर राखोजी ।'

इस सरल-हृदय कवि का मिलन जगत् से घबराये हुए हमारे हृदय को हमेशा सान्त्वना देता था ।

६

सौन्दर्य-दर्शन

वर्षों के नियमन पर भी मैं स्वैर-विहारी (स्वच्छन्द विहार करने वाला) था, अतएव इस यात्रा में मैं स्कूल से भाग खड़े हुए विद्यार्थी का-सा आनन्द अनुभव करने लगा। प्रणय ने इस अनुभव को इन्द्र-धनुष के रंग दे दिए थे। यूरोप का मोह तो था ही; उसके साहित्य-स्वामियों ने मेरी कल्पना और कला-दृष्टि को समृद्ध किया था। इसलिए इस यात्रा का स्थान मेरे जीवन में अद्भुत हो पड़ा, और आज भी है। इसमें एक प्रकार से पूर्णाहुति थी और दूसरे प्रकार इसके द्वारा मेरा पुनर्सर्जन हुआ।

'मेरी अनुत्तरदायित्वपूर्ण कहानी' पुस्तक भी है और नोट-बुक भी। इसके आरम्भिक दो भाग यात्रा के समय लिखे गए थे, इसलिए उनमें मेरी तत्कालीन मनोदशा का चित्र है। अन्य भाग १९२७ में लिखे गए; परन्तु उस समय तो जीवन बदल गया था और केवल वर्णन करने की इच्छा ही रह गई थी। आज वह यात्रा-वर्णन और कहानी फिर से लिख रहा हूँ; परन्तु वह उत्तरदायित्वपूर्ण है।

इस पुस्तक के प्रथम ही भाग में अपने स्वैर-विहार की निरंकुश कहानी मैं 'पील्स्ना' स्टीमर में बैठा हुआ लिख रहा हूँ।

इन महात्माओं के भय से मैं घबराता रहा हूँ, परन्तु अब, इस क्षण, एक बार सबके सामने खिलखिलाकर हँसने की इच्छा होती है। साहित्य के पुरातन सिद्धान्तो, इस समय अपना रास्ता पकड़ो!

व्याकरण-सृष्टि के ब्रह्मा, अपनी 'कौमुदी' को मैं अपने पल्ले से दूर करने की धृष्टता करता हूँ। साहित्य के चौकीदारो, तुम्हारे भय और चिन्ता के विषय में विचार करने की मुझे फुरसत नहीं है। मैं और मेरी प्यारी लेखनी इस समय तुम्हारी परवाह नहीं करेंगे। हम यह चले। जहाँ वाक्य पूर्ण होगा वहाँ से हम प्रारम्भ करेंगे; जहाँ परिच्छेद समाप्त होना चाहिए, वहाँ उसे बढ़ा देंगे। जहाँ गम्भीर होना चाहिए, वहाँ लज्जा त्यागकर हँसेंगे; जहाँ रस का परिपाक करना चाहिए, वहाँ नारियल के खोल की तरह शुष्क हो जायँगे; और जहाँ चौकस बात करनी चाहिए, वहाँ हम आनाकानी कर जायँगे। व्याकरण, भूगोल, इतिहास, यह सब झूठी दुनिया का मायावी जाल है। हमारे मुमुक्षु आत्मा को इसकी परवाह नहीं है। (Bid for freedom) स्वातन्त्र्य के लिए यह आक्रमण है। आ जाओ…शृङ्खले, जब यात्रा पूर्ण हो जायगी, जब अपने भोलानाथ के मन्दिर की पवित्र छाया में, अपने पुराने सोफे पर बैठकर मैं लिखने का विचार करूँगा, तब तुझे आदर से पहनूँगा—तुझे धारण करके गर्व का अनुभव करूँगा। तब तक सुन्दरि, क्षमा करना…जरा…जरा…मुझे फुरसत नहीं है।[1]

स्टीमर रवाना हुआ, उसी दिन लीला ने अपने नोट में लिखा—

कुछ महीनों के लिए संवादी आत्मा के साथ सहजीवन! ऐसे विरत अनुभव के लिए सब प्रकार का त्याग क्या करने योग्य नहीं है? ऐसा सुख थोड़े दिन मिले, तब भी सब-कुछ स्वाहा कर देना सार्थक है—जीवन को पाना और खोना दोनों सार्थक।

२ मार्च १६२६ की शाम को हमने 'पील्स्ना' स्टीमर (जहाज) में अपना प्रयाण आरम्भ किया। उसके संस्मरण तात्कालिक स्वानुभव से उत्पन्न शब्दों में ही दे रहा हूँ—

बच्चों को विदा किया। बेचारे भोले-भालों ने सोचा कि माँ-बाप

---

१. मेरी अनुत्तरदायित्वपूर्ण कहानी', पृष्ठ ८

को छोड़कर वे मौज करने जा रहे हैं। उन्हें खबर नहीं थी कि दो दिन बाद माँ-बाप उन्हें छोड़कर दूर चले जायँगे और महीनों तक फिर से मिलने की आशा भी विधि के हिंडोले पर झूलती रहेगी।···

मैंने किसी से कुछ नहीं कहा, किसी को जानने नहीं दिया; परन्तु न जाने कैसे मुझे लगता रहा कि मैं जा रहा हूँ दूर और दूर, और फिर न लौटूँगा·······

स्टीमर छोटा पर सुन्दर और सुविधापूर्ण था। अपनी सुन्दरता के गर्व में वह जल को काट रहा था और पीछे—जैसे मनुष्य स्मरण-चिह्न छोड़ जाता है—कहाँ तक वह जा रहा है, इसका स्मरण-चिह्न छोड़े जा रहा था········

हमारा जीवन-क्रम खाने और चलने में बँट जाता······ और जब भूमध्य सागर के तूफानी दरिया ने सारे यात्रियों को लम्बे पैर सुला दिया, तब हम तीनों ने पूरे समय चलते-फिरते गुजरात का विजय-ध्वज फहराए रखा।

इस प्रकार मेरी अनुभव-शक्ति और रसिकता अत्यन्त सूक्ष्म हो गई थी और नित्य ही गद्य-गीत में परिणत हो जाती। सुपर डेक पर एक केप्टन के केबिन के निकट हम घूमते और समुद्र की धीमी-धीमी लहरों में अपनी कल्पना-तरंगों की प्रतिध्वनियाँ सुनते।

वहाँ वायु मदमत्त होकर चलती, फेन के प्रवाह में रंग के इन्द्र-धनुष दिखलाई पड़ते, स्वर्गीय प्रोत्साहक वातावरण फैल जाता। अनेक बार रात को मैं वहाँ खड़ा रहता और अवर्णनीय आह्लाद मेरी रग-रग में प्रसारित हो जाता। वहाँ घूमता हुआ केप्टन, समुद्र के घोष के दर्शन करते हुए एक आत्मा की तल्लीनता देखकर विस्मित होता और उसके सात्विक आनन्द को अखण्ड रहने देकर चला जाता है। यदि मैं पुनः जन्म लेने की इच्छा करूँ, तो ऐसी किसी जगह—आत्मसिद्धि के लिए ही।

किस प्रकार इस जगत् से छूटा जाय—यह अव्यक्त कल्पना भी बहुत रूपों में प्रकट होती थी। स्टीमर की व्यायामशाला में बिजली के घोड़ों पर जब हम बैठते, तब मेरी कल्पना कुछ और ही अनुभव करती।

हारूँ न अल रशीद का सुवर्ण युग था। मैंने सफेद घोड़े की अयाल में हाथ डाला।

"नूरे चश्म," मैंने अपनी दाढ़ी पर हाथ रखकर ज़बाने ईरान के मीठे अलफाज़ में कहा, "यह परों वाले घोड़े हिनहिना रहे हैं। समरकन्द का सीधा मार्ग यह सामने दीख रहा है। चलो, आओ।"

हम बैठे। घोड़े चले, उड़े—आसमान को छूते हुए। बगदाद के मीनार आँखों से ओझल हो गए। खेतों को छोड़ जंगलों में गए। जंगलों को पार करके मध्य एशिया के असीम अरण्य काटते चले। किसी खलीफा का शासन नहीं था। किसी दुनिया को यहाँ जरूरत नहीं थी। दूर-दूर और दूर चले जा रहे थे—छूटे हुए तीर की तरह।

उदयपुर के महाराणा के अन्तःपुर में पड़ी हुई विधवा मीराँ के वृन्दावन-विहार-जैसी यह मनोदशा थी। मुझमें मीराँ की अद्भुत कल्पना नहीं थी। साथ-साथ मैं वकील भी था। मैंने तुरन्त नोट किया—

वे दिन गए, तो चले ही गए कि जब दमास्कस से समरकन्द आकर तुम्हें रात को हूरें ले जाती थीं, जब जिन और उड़ते परिन्दे-पक्षी—तुम्हें हीरों की खानों और सोने के खेतों में बिना परिश्रम छोड़ जाया करते थे। जब उसासें भरती राजकुमारियाँ उत्साही और भटकते पथिकों के सिवाय अन्य सभी को भाई और बाप समझती थीं।

हे प्रभो, कैसी निराशा है! मैंने होंठ दबा लिए। खलीफा हारूँ न अल रशीद का सुनहला जमाना बीत गया···और मैं ऐसे बेढंगे, बीच के समय, पैदा हो गया······

मेरे जीवन की अधिष्ठात्री ! भले ही हारूँन का जमाना बीत गया हो, भले ही मुझसे मध्य एशिया में नहीं जाया जा सकता हो और भले ही तुमसे स्टीमर में अपनी जगह आराम से नहीं बैठा जा सकता हो, परन्तु जब तक तुम्हारा और मेरा साहचर्य कायम है, तब तक किसी भी युग में विचरने, किसी भी प्रकार मौज करने और चाहे जैसे लाभ उठाने से मना करने को किसकी सामर्थ्य मक़दूर है ?[1]

सौन्दर्य का अनुभव करने की मेरी शक्ति—रसिकता—इतनी सूक्ष्म कभी नहीं हुई थी। व्यायामशाला की नौका में बैठने पर भड़ौंच में बोट-क्लब स्थापित करने की कल्पना हो आई। नित्य-नित्य समुद्र को देखकर उसे पुराने मित्र के रूप में देखा। चाँदनी रात की मोहिनी मेरी मनोदशा को वशीभूत करके निम्नलिखित उद्गारों के लिए प्रेरित करने लगी—

चारों ओर समुद्र और आकाश एक हुए दिखाई पड़ते हैं; और उन पर, स्टीमर पर, हम पर, प्रेम के स्थूल देह-सी कौमुदी की अवर्णनीय, अस्पृश्य तथा मधुर मनोहरता प्रसारित हो जाती है। इस मनोहरता में, सूर्यास्त के समय जैसा था, वैसा ही—उससे भी सुन्दर और आकर्षक—मार्ग स्टीमर के सामने से चौड़ा होता, रजत सरोवर में से उग रहे चन्द्रमा के समीप पहुँचता है। कीर्ति का, स्वर्ग का और मोक्ष का मार्ग इस कौमुदी-मार्ग के सामने बुरा लगता है······

······मार्ग सुन्दर शोभायमान था। उस विशाल—और विशाल पथ पर बढ़ते हुए थकावट नहीं मालूम होती थी। वहाँ पहुँचकर त्रिविध ताप का नाम भी सुनाई नहीं पड़ता। दूर-दूर रहकर निशानाथ, प्रेम की अद्‌भुत प्रतिमा के समान आकर्षित करता था। हृदय में आनन्द और उत्साह उछलता था। मार्ग जैसा रसमय था, वैसा ही लम्बा था। उस मार्ग पर जाना सरल और स्वाभाविक लगा। मैं चला—चलने लगा—उज्ज्वल रजनी

१. 'मेरी अनुत्तरदायित्वपूर्ण कहानी', पृष्ठ ३१-३२

में चलने लगा······

नहीं, नहीं, मैं केवल डेक पर खड़ा था और ज्योत्स्ना-पथ की ओर देख रहा था। इस पथ पर चलना किसके भाग्य में हो सकता है ? मैं उसाँस लेकर लौट पड़ा।[३]

स्टीमर के संस्मरणों ने भी मेरे मन पर गहरी छाप डाली। आज पच्चीस वर्षों के बाद भी आँखें मींच लेता हूँ और वे दिखाई पड़ने लगती हैं—'नाटा, मोटा और वृद्ध' इटालियन कैप्टन, 'स्टीमर-संघ' का मस्त डॉक्टर, हँसकर या इतराकर बोलते हुए प्रत्येक का मन हरने वाली पाँच वर्ष की मनोहर बालिका एन वेरोनिका, सपने में सुना, समुद्र पार रोते हुए बच्चों का रुदन, मुटाई के लिए मुटाई बढ़ा रहीं दो 'प्रचण्ड विशालताएँ', इटालियन केबिन बॉय—जिसे हम 'सखाराम' कहते थे, ये सब कल ही देखे हों, इस प्रकार आँखों के आगे घूमते-खेलते हैं। सौन्दर्य का अनुभव करने की चाह रुक नहीं सकती थी। जगत् क्षण-क्षण नवीनता प्राप्त कर रहा था। एडन देखा। बावकमंडब की सामुद्रधुनी के सामने से, रात को केबिन में बड़ी देर से पानी आया, तो उसका आनन्द भी लूटा। स्वेज की नहर में, विश्वकर्मा को विजित कर लेने का मनुष्य का उत्साह दीख पड़ा। नृत्य के उल्लास को मैंने परखा और उसकी कद्र की। भूमध्य सागर की उत्ताल तरंगों में भी अद्भुत आनन्द अनुभव किया।

स्थूल देह से हम तीनों जने सवेरे-शाम घूमते, बातचीत करते, खाते, पीते और मौज करते। मेरी सूक्ष्म देह उल्लास के परों से स्वैर-विहार करती थी।

१६ मार्च १६२२ की रात को नौ बजे ब्रिंडीसी पहुँचे। झिरमिर-झिरमिर वर्षा हो रही थी। पत्थर के तट पर कुछ लोग पुकारते-चिल्लाते खड़े थे। वर्षा के ताने हुए पर्दे के उस पार से कुछ दीपकों का प्रकाश दिखलाई पड़ रहा था।

इतने में किनारे से आवाज़ आई—'मि० मुसकी ! मि०

---

३. 'मेरी अनुत्तरदायित्वपूर्ण कहानी', पृष्ठ २६-२७

मुसकी !'

'मुसकी' मुन्शी का इटालियन अवतार तो नहीं है ? मैंने स्टीमर पर से उत्तर दिया—'यस !'

सामने से प्रत्युत्तर आया—'मि० मुसकी, श्री-बोंबे—'

इटली, स्विट्ज़रलैंड और फ्रांस सब जगह मैं बेचारा मुसकी बन गया।

स्टीमर पर से हम दुओं—कस्टम हाउस—गये। वहाँ हमारे एक बेंत के सन्दूक को जाँचते हुए नींबू के अचार का तेल एक किस्सा बन खड़ा हुआ।

सन्दूक हाथ में उठाने पर, नींबू के अचार का तेल, गुजराती तिल्ली से गुजराती तेलिन का पेरा हुआ तेल—स्वातन्त्र्य की इच्छा वाला और मिर्चों के तीखेपन से तेजस्वी बना हुआ तेल—मेरे बूटों पर, मेरे कोट-पतलून पर, और कस्टम-हाउस के अधिकारी के शरीर पर अपना विजय-ध्वज फहराने लगा।

मेरी समझ में नहीं आया कि हँसा जाय या रोया जाय। सन्देह होने पर कस्टम-अधिकारी ने सन्दूक खुलवाया। मुझसे बहुत पूछा—इटालियन भाषा में। मैंने बहुत समझाया—अँग्रेज़ी भाषा में। उसे मैंने समझाया, मनाया और कुछ नींबू और अपना नेपल्स का पता देकर विदा किया। ज्यों-त्यों करके थोड़े-बहुत गुजराती नींबुओं की सहचार-रक्षा करने में हम शक्तिमान हुए।

ढाई घण्टों के अन्त में हम होटल गये। थकावट दूर करने को सो गए और खाने के सन्दूक में हुआ काँच का कचूमर तथा नींबू के अचार का मिश्रण एक इटालियन नौकरानी को बहुत उदारता से भेंट कर दिया।[1]

ब्रिन्डीसी से नेपल्स की ट्रेन का अनुभव भी भूल जाने वाला नहीं था। ऐसी गन्दी रेलगाड़ी मैंने कभी नहीं देखी थी। उस पर लोग खासकर हमें

१. 'मेरी अनुत्तरदायित्वपूर्ण कहानी', पृष्ठ ६६

आकर देखते ही रहते थे। फ्रेंच भाषा बोलने का अपना पहला प्रयोग मैंने वहाँ किया।

हमें मिलने वाले यात्रियों को, स्त्रियों के माथे पर की बिन्दी से बड़ा आश्चर्य होता था। इसके विषय में पहला प्रश्न, जहाज़ बनाने वाली कम्पनी के एक डाइरेक्टर ने किया।

लक्ष्मी के कपाल की ओर अँगुली करके उसने बड़ी फुरतीली फ्रेंच में पूछा। उत्तर में मैंने कुङ्कुम की डिबिया निकाली, सामने रखी और उसमें पड़ी हुई दियासलाई से बिन्दी कैसे लगाई जाती है, यह बताया। साथ में बैठे मुसाफिर और कॉरीडोर के सामने खड़े दर्शक सानन्दाश्चर्य देखते ही रहे।

हमारे साथी ने फिर अपनी फुरतीली फ्रेंच में कुछ पूछ डाला। मैंने सोचा कि वह बिन्दी लगाने का कारण पूछ रहा है। शब्द-कोश पलट डाला और टूटी-फूटी फ्रेंच में जवाब दिया—

Je (मैं) मोंस्यू मुन्शी। This (यह) मदाम मुन्शी Je Vivant (जीवित)—मदाम मुन्शी—क्रियापद के बदले कुङ्कुम की डिबिया से बिन्दी लगाने की क्रिया कर दिखाई। मों॰ मुन्शी—Morte (मृत्यु) मदाम मुन्शी Ne (नहीं) और फिर बिन्दी मिटाने की क्रिया कर दिखाई।

वह क्या समझा, यह वही जाने।

नेपल्स आ गया। बम्बई का सगा भाई—मिल की चिमनियाँ, बिजली की बत्तियाँ, मोटर और ट्राम की धमाचौकड़ी। समुद्री का अपूर्व दर्शन और धुएँ वाली अस्वच्छ हवा।

हम होटल वेजूव में ठहरे—सवेरे नेपल्स का सरोवर देखकर मेरी रसिकता कल्लोल करने लगी। परन्तु नेपल्स अद्भुत नगर नहीं है, यह तो पृथ्वी का हास्य है। प्रचण्ड ज्वालामुखी विसूवियस बगल में पड़ा हुआ अपनी ज्वालाओं को सतत आकाश में पहुँचाता रहता है। अर्द्ध गोलाकार सरोवर का नीला-भूरा, स्वच्छ और शान्त जल स्मित-भरे सूर्य की

किरणों में निरन्तर मौज करता रहता है। वहाँ से हम बाया गये। रोमन इतिहास बचपन में मैंने भक्ति-भाव से पढ़ा था, अतएव वह जगह-जगह सजीव हो गया। वहाँ पहुँचकर यूरोप के वाल्मीकि महाकवि वर्जील की समाधि पर मैंने अंजलि दी। सीसेरो के घर के सामने उसका स्मरण किया, और मैं जूलियस सीज़र का भक्त था; इसलिए उसके घर के सामने खड़े रहकर उसे शब्दांजलि दी।[1]

नेपल्स और बाया में ही मैंने अपने जीवन के धन्य क्षण बिताये। भूतकाल नहीं था, भविष्यत् भी नहीं था, केवल वर्तमान था। गीत अलाप रहे चण्डूल के समान, समीर में थिरक रहे पुष्प के समान, समुद्र पर नृत्य कर रही चाँदनी के समान, मैं उल्लास से भर गया।

उसी क्षण मुझे ध्यान आया कि मैं असली स्वरूप में pagan था—सौन्दर्य और शक्ति का पुजारी। दयिता (प्रेयसी) के साथ बाँसुरी बजाने, नदियों के किनारे वाले गह्वरों में प्रतिध्वनियाँ करने या किसी सेना के सामने विजय प्राप्त करके व्यवस्थित शक्ति के पाठ पढ़ाने में मुझे सार्थकता दिखलाई पड़ी।

शाम को हम होटल में गये। लीला को बाहर अकेले घूमने जाना था। मैंने कहा कि अकेले नहीं जाने दूँगा। इस अजाने नगर में यह नहीं हो सकता। लीला ने कुछ देर अपनी लाडिली स्वतन्त्रता की भावना से युद्ध किया—मैं जीता।

रात को हम होटल वेज़ूव के विशाल भोजन-गृह में खाने को बैठे। चारों ओर सुनहले स्तम्भ चमक रहे थे। सारे भाग की शोभा ऐसी थी कि महाराजाओं के महल को भी लज्जित कर दे।

मैंने चुपचाप 'सूप' पीना शुरू किया। "यह भोजन का कमरा", लक्ष्मी ने कहा, "कितना सुन्दर है! हमारे यहाँ हमेशा अँधेरे वाला और गन्दा कमरा भोजन के लिए रखा जाता है।"

मैं रोम के संस्मरणों में तल्लीन था, इसलिए मैंने कोई उत्तर

---

१. देखिए, 'मेरी अनुत्तरदायित्वपूर्ण कहानी', पृष्ठ ८१

न दिया।

और मेरे मित्र ने—लीला ने—कहा, "कितनी शान्ति से परोसने वाले परोसते हैं और खाने वाले खाते हैं!"

मेरा पित्त उछला (मुझे गुस्सा आ गया)। हज़ारों वर्ष हुए, मेरे ब्राह्मण पूर्वजों ने लड्डुओं के साथ सड़ासड़ दाल सड़की थी, इसका मुझे गर्व हो आया।

"महिलाओ," मैंने अधीरता से कहा, "एक समय ऐसा आयगा कि गुजरात की सेना नेपल्स जीत लेगी। इस होटल वेज़ूव के भोजन-गृह में तब गुजराती लोग पालथी मारकर बैठेंगे। ईडर के पंड्या लोग—'आपको लड्डू', 'आपको शाक', 'गरम-गरम पकौड़ियाँ' के जिह्वा-प्रेरक विजय-घोष से इस भोजन-घर को गुँजा देंगे। गुजराती वीर, सड़कने की शर्त में, किसका सड़ा-सड़ शब्द अधिक होता है, इसकी स्पर्धा करते हुए, गुजरात की महत्ता इटली में स्थापित करेंगे और तब यह गलीचा उठाकर, संगमरमर के फर्श पर पानी, दाल और कढ़ी की रेलम-ठेल कर देंगे।" मेरी बात को सुनने वाली महिलाएँ भोजन समाप्त होने तक एक अक्षर भी उच्चारण नहीं कर सकीं।

नेपल्स में सौन्दर्य का स्वानुभव हम करते ही चले। यूरोप का यह रमणीयतम नगर है, इस लोक-श्रुति के प्रमाण हमने जगह-जगह देखे। वहाँ का प्रमुख मन्दिर देखा। म्यूज़ियम में स्थित ग्रीक और रोमन शिल्पाकृतियों का—पाषाणी महाकाव्यों का—सौन्दर्य निरखा और इस अद्भुत कला का इतिहास भी पढ़ा। रात को हमने नेपल्स की विश्वविख्यात रंगभूमि पर 'ऑपेरा' देखा। इसके संस्मरण मैंने 'अपनी अनुत्तरदायित्वपूर्ण कहानी' में दिये हैं।

मार्च की २०वीं तारीख को हम हर्क्यूलेनियम और पोंपियाई देखने गये। सन् ७६ ई० में पोंपियाई लावा रस से ढक गया था। उसे अभी गत शताब्दी में खोद निकाला गया है। आज वह जादू के नगर की तरह

धरोहर के रूप में, पर निर्जीव, खड़ा है। वहाँ, एक पेड़ पर चढ़ने को जा रही युवती का, लावा से पत्थर हो गया शरीर देखकर मुझे युगों के वियोग का खयाल हो आया।

यह लड़की प्रियतम की प्रतीक्षा करती खड़ी थी जब बादल से धधकती, गन्धक वाली भाप उतर आई। चेतन, चाह और चिन्तन में तैर रही इस सुकुमार बाला की पाषाणी निश्चेतन आँखें, पेड़ पर चढ़ते समय जैसी थीं, वैसी ही सबके सामने देखती रहती हैं। उसकी चाह पूरी नहीं हुई तो नहीं हुई।

फिर हम विसूवियस पर चढ़े और 'जगत् का कल्याण करने को नीचे उतरे हुए शिव जी की, मानो क्षण-भर के लिए सूनी पड़ी हुई धूनी' हमने देखी। वापस लौटते हुए पर्वत से सीधी उतरती गाड़ी में, हाँकने वाले के पास मैं जा खड़ा हुआ।

"कैलाश में शिव जी की धूनी के दर्शन करके हम स्वर्ग जा रहे हैं," मैंने कहा और सूर्य प्रकाश का मार्ग दिखाया।

जहाँ रेल की पटरियाँ सीधी सरोवर के पास समाप्त होती थीं, वहाँ से लगभग अस्तंगत सूर्य-बिम्ब से समुद्र-तरंगों की परम्परा में प्रतिबिम्ब डालकर सुवर्ण-मार्ग बनाया गया था।

अनिर्वाच्य आनन्द से मैं इस सुन्दरता को देखने लगा—यह लाभ उठाने के लिए भी जन्म लेना सार्थक था।

मैं हँस पड़ा और जैसे प्रत्येक स्वर्ग के मार्ग के अन्त में पृथ्वी आती है, वैसे पृथ्वी आई।

मार्च की २१ तारीख को हम रोम पहुँचे और किवरिनल होटल में ठहरे। वहाँ 'विश्व-व्यावसायिक कॉन्फ्रेंस' हो रही थी; अतएव स्नान-घर में भी यात्री को ठहरा दिया था। जब वह शाम को बाहर जाता, तब हम स्नान करने जाते।

शाम को हमें इतिहास-प्रसिद्ध पेलेटिनेट हिल पर घूमने को जाने की इच्छा हुई। परन्तु होटल के आदमी ने हमें सूचित किया कि रात को

आभूषण पहनी हुई स्त्रियों के साथ किराये की मोटर में घूमने जाना भय से खाली नहीं है। रोम में लुटेरे बहुत थे। आखिर मैनेजर ने हमारे लिए अपनी मोटर मँगा दी और राजमहल के सामने हम घण्टा-भर घूम आये। सनातन—प्राचीन—रोम के विषय में तो मैंने इतना अधिक पढ़ा था कि मानो मैं घर आया होऊँ, ऐसा मुझे लगा।

दूसरे दिन 'फ़ादर टाइवर' के दर्शन किये। बहुत बचपन में जब 'होरेशियस' की कविता कण्ठ की थी, तब से इसका परिचय था। वहाँ से पीटर के गिर्जे में गये। उसका स्थापत्य देखकर, सौन्दर्य और भव्यता के बीच का भेद समझ में आया। सेण्ट पीटर सुन्दर था, परन्तु इससे भी अधिक वह भव्य था। इसे देखकर भय, अल्पता और पूज्य भाव का सम्मिश्रण प्रकट करने वाले लक्षण, का ध्यान हो आया, जिसे भव्यता कहते हैं। ईसाई-धर्म ने ऐसे मन्दिरों द्वारा अपना प्रभाव बढ़ाया है, यह भी समझ में आ गया। ईसवी सन् से पहले की सजीवता की दो अद्‌भुत कला-कृतियाँ मैंने अघा-अघाकर देखीं—एक फोडियास द्वारा निर्मित 'घोड़ों को सिखाने वाले' की और दूसरी जगत्-विख्यात 'लाउकन' की।[1]

> **वेटीकन में अनेक शताब्दियों के कला-स्वामियों की शिल्पाकृतियाँ और चित्र हैं। रोम की गली-गली में विशाल देवालय, पुराने मकान और शिल्पाकृतियाँ हैं। यहाँ सम्राट् कोन्स्टेन्टीन की माँ ने, पाँचवीं सदी में लाये गए सोलोमन के मन्दिर के स्तम्भ और पन्द्रहवीं सदी में कोलम्बस द्वारा लाया गया सोना, माइकेल रेंजोला का अपूर्व चित्र Last Judgment और उसकी खोदी हुई मोज़ीज़ की शिल्पाकृति और ज़मीन में गहरी कब्रें भी हैं, जिनमें प्राचीन ईसाई लोग छिपकर अपने धर्म की रक्षा करते थे। पोप का निवास-स्थान भी वहाँ है। पुरातन रोमनों का फोरम भी है और गेरीबाल्डी तथा मेज़िनी की मूर्तियाँ भी हैं।**[2]

१. इसके वर्णन के लिए 'मेरी अनुत्तरदायित्वपूर्ण कहानी' पढ़िए।

२. उस समय की नोट-बुक से।

ये सब वस्तुएँ देखकर मेरी ऐतिहासिक कल्पना के घोड़े चारों पैरों से कुलाँचें भरने लगे और अपने साथियों से—वे समझें या न समझें—हाँ ही करनी पड़ी।

प्राचीन रोम के फोरम के भव्य कीर्ति-स्तम्भों के नीचे होकर हम लोग निकले। यहाँ ल्यूकेशिया की हत्या उसके बाप ने की थी। वहाँ से चलकर गॉलो में दाखिल हुए। इस जगह सीज़र की हत्या हुई थी। इस जगह, एण्टनी ने सीज़र के शव के पास खड़े होकर व्याख्यान दिया था। यह दो हज़ार वर्ष पुरानी बातें हैं। परन्तु मुझे ऐसा लगता रहा, मानो मैं गत जीवनों में हर समय इन सब अवसरों पर उपस्थित रहा हूँ और मुझे अपने पहले अवतारों की याद आ रही है।

जब फोरम से वेटीकन—पोप के महल—तक सब ऐतिहासिक स्थान देखे, तब रोम की प्राचीनता का ध्यान आया। सीज़र जगत्-स्वामी और जगद्गुरु दोनों था। फोरम में से सत्ता का प्रपात उत्पन्न हुआ। जब रोमन साम्राज्य नष्ट हुआ, तब उसकी शक्ति ईसाई धर्म द्वारा पोपों ने यथासम्भव अपनाई। रोमन केथोलिक धर्म की प्रणालियों में, प्राचीन रोमन प्रणालियाँ चली आ रही हैं। पोप जगद्गुरु है और जगत्-स्वामी भी—रोम के विश्व-प्रभुत्व का प्रतीक है। सीज़र की भाँति सैन्य-बल से यह स्वामित्व संरक्षित नहीं होता। राजनीतिज्ञता और श्रद्धा पर अधिकार प्राप्त कर लेने की शक्ति पर यह अवलम्बित है। रोमन केथोलिक सम्प्रदाय में विश्व-साम्राज्य की ही व्यवस्था है; केवल बल अहिंसात्मक है। रोम केवल एक पुराना नगर नहीं है—विश्व-साम्राज्य के आदर्श और प्रणाली, दोनों स्रोतों का जन्म-स्थान है, यह मेरी समझ में आ गया।[1]

जब हम शेली की कब्र देखने गये, तब मैं इतिहास से भूतल पर आ गया। यह मेरा प्रेरक और गुरु था, प्रेम-धर्म में, मेरे बाल-हृदय को प्रेम की

१. नोट-बुक।

लहरों पर इसने झुलाया था। आज भी उसके द्वारा झूल रहा था। इस ऋण को मैं कैसे भूल सकता हूँ ? उसकी कब्र पर के फूल इकट्ठे करके ले लिये। 'ऐमीप्साइकिडियन' की दो पंक्तियाँ याद थीं, उनका मैंने उच्चारण किया—

हतभाग्य मैं !
क्या धृष्टता की यह मैंने ?
अरे, कहाँ उड़ रहा हूँ ?
उतर सकूँगा किस प्रकार—
विनाश को जुटाये बिना ?[१]

मेरे हृदय में शंका उत्पन्न हुई—शेली की तरह क्या मैं भी प्रेम-पिपासा से तड़पता हुआ मरूँगा ? मैंने नोट-बुक में नोट किया—"शेली, कविता और हृदय की खिन्नता ! कब्र पर के फूल !" (२४-३-२३)

२२ तारीख की रात को हमें विचार हुआ कि यहाँ आये हैं, तो पोप के दर्शन भी करने चाहिएँ। २३ तारीख को कपड़े पहनकर हम ब्रिटिश कौन्सल के पास गये और अपना परिचय दिया। कहा—"हमें पोप से मिलना है।"

"अवश्य, मैं वेटीकन में लिखूँगा। तीन-चार दिन में जवाब देंगे।"

"परन्तु हम २५ को जा रहे हैं।"

"तब पोप से मिलना असम्भव है।" हम खिसियाने-से होकर उतर आए। परन्तु ऐसा हुआ कि लाख निराशा में भी अमर आशा खड़ी हो गई। मैंने गाइड से पूछा—"वेटीकन में तुम्हारा कोई परिचित है ? हमें पोप से मिलना है।"

"मेरे एक रिश्तेदार वहाँ नौकर हैं, उनसे परिचय करा सकता हूँ,"

---

१. Ah, woe is me,
What have I dared ?
Where am I lifted ?
How shall I descent and perish not ?

उसने कहा।

हम सीधे वेटीकन में गये और हमारा गाइड अपने रिश्तेदार को ले आया। यह पोप के सेक्रेटरी का चपरासी था। उससे हमने सौदा पटाया। सेक्रेटरी से मिला दे, तो चालीस लीरा और उसके द्वारा पोप के दर्शन हो जायँ तो सौ लीरा। उस समय एक पौंड का भाव ६६ लीरा था, इसलिए यह भेंट महँगी नहीं थी। हम कार्डीनल के मन्त्री के कार्यालय में जा बैठे।

कुछ देर में मन्त्री आया। यह अंग्रेजी अच्छी बोलता था, इसलिए मेरा घोड़ा चल पड़ा—"मैं पहली बार यूरोप आया हूँ। ये महिलाएँ पुनः आएँ या न भी आएँ और यहाँ आकर ईसाई धर्म के जगद्गुरु के दर्शन किये बिना हम चले जायँ, तो हृदय में एक साध, एक कमी रह जायगी," मैंने कहा। मैं कौन हूँ, यह उसे समझाया और अपने पासपोर्ट उसे दिखाए।

"पोप के दर्शन करने में आपको क्या दिलचस्पी है?" उसने पूछा।

"एक तो यह कि मैंने रोम और ईसाई पोपों के विषय में इतना अधिक पढ़ा है कि मुझे उनके दर्शन की इच्छा है।" फिर मैंने हँसते हुए मजाक में कहा—"दूसरे, मैं ब्राह्मण हूँ—जगत् के प्राचीन-से-प्राचीन धर्म-गुरुओं में से मैं अवतीर्ण हुआ हूँ; इसलिए ईसाई धर्म के महान् गुरु को देखने की इच्छा हो, यह स्वाभाविक है।"

कार्डीनल हँस पड़ा, "आप कुछ मिनटों में जा सकेंगे?"

"अवश्य," मैंने कहा।

मन्त्री को शंका हो आई। ये महिलाएँ रंगीन कपड़े पहने हैं, यह नहीं चल सकता। काले कपड़े पहनने चाहिएँ।

"परन्तु यह तो हमारी विधि के अनुसार पहनावा है। हमारी स्त्रियाँ काले कपड़े पहनें तो अपशकुन समझा जाय।"

"आई सी—नासीओनाल द्रेस (राष्ट्रीय पहनावा), आई सी—सेरीमोनियल द्रेस! परन्तु ये हाथ क्यों खुले हैं? यह नियम है कि स्त्रियाँ खुले हाथों पोप के पास नहीं जा सकतीं।

"शॉल में हाथ दबाये जा सकते हैं। फिर हाथ खुले नहीं दिखलाई पड़ेंगे।" इसका प्रयोग लक्ष्मी ने कर दिखाया।

"हाँ, चल जायगा, चल जायगा, यह नासीओनाल ड्रेस!" कहकर उसने प्रमाण-पत्र लिख दिया और हमें वह चपरासी सबसे बड़ी सीढ़ियों पर ले गया।

वेटीकन की शोभा का पार नहीं है। विशाल सीढ़ियों पर दो ओर माइकेल एञ्जेलो द्वारा नियोजित रंग-बिरंगे पहनावे में पहरेदार भाले लिये खड़े थे। हमारे ऊपर जाने पर, हरे कक्ष में पहले हमें बिठाया गया। इस विशाल कक्ष में लगभग चार सौ स्त्री-पुरुष, संसार के विभिन्न भागों से पोप के दर्शन करने को आये बैठे थे। बहुत से लोगों के हाथ में क्रॉस और मालाएँ थीं। धर्म के साथ यह मूल्यवान गलीचे, यह सोने से मढ़ी कुरसियाँ और झूमर हो सकते हैं, यह बात तपोधन भारतीय की कल्पना में कैसे आ सकती है? सारे नियोजित नाटक का खयाल आया।

कुछ देर में हमारी बारी आई और हमें गुलाबी कक्ष में ले जाकर बिठाया गया। वहाँ की सभी चीजें सुन्दर, शोभायमान और बहुमूल्य थीं।

कुछ देर में हमें तीसरे कक्ष में ले गए। हमारे साथ सब मिलकर लगभग पचास जने थे। यह कक्ष मोतिया रंग का था। इसमें फर्नीचर था ही नहीं। अत्यन्त सुन्दर, मुलायम और मोतिया रंग के गलीचे पर हमें घुटनों के बल बिठाया गया। लक्ष्मी और लीला के खुले हाथ शाल में ढक दिये गए और पोप की अँगूठी को चूमने की हमें सूचना मिली। लक्ष्मी ने पहले इन्कार किया। मैंने कहा—"पोप के दर्शन कहीं यों ही हो जाते हैं!" लक्ष्मी का जी ऊब गया था।

कुछ देर में 'स्वीज़ गार्ड' का नायक रंग-बिरंगे पहनावे में आया और बीच में खड़ा रहा। फिर दो-दो कार्डीनलों की कतार आई। फिर सफेद सिल्क के परिधान में पोप आये। इनकी मुख-मुद्रा बहुत ही तेजस्वी थी। उन्होंने भक्तों के मुख से अपनी अँगूठी लगाना आरम्भ किया और सब उसका चुम्बन करने लगे। कई लोग अपने क्रॉस और माला उनसे छुआते कि

जिससे यह चिह्न पवित्र हो जाय।

पोप के साथ वह मन्त्री कार्डीनल भी था। ज्यों ही पोप हमारे पास आये, उसने कुछ कहा। "बॉम्बे" यह शब्द मैंने सुना। लक्ष्मी छोटी बालिका के समान सुन्दर थी और यूरोप-यात्रा से उसके श्वेत रंग में मनोहर ललाई आ गई थी। वह अँगूठी चूमने की अनिच्छा से काँपती थी। तिस पर पोप उसके पास रुके और हँसे। लक्ष्मी ने ज्यों-त्यों करके अँगूठी का चुम्बन किया और न जाने उस मन्त्री ने पोप से क्या बातें भिड़ा दी थीं कि पोप ने लक्ष्मी को भक्त बालिका समझकर, उसके सिर पर हाथ रख दिया। लक्ष्मी लाल पड़ गई और गिरते-गिरते बची।

पोप चारों ओर घूम गए और कक्ष के बीच पहुँचकर मानो संस्कृत पढ़ रहे हों, इस प्रकार लेटिन में आशीर्वाद दिया। क्रॉस की निशानी की, और जिस प्रकार आये थे उसी प्रकार विधिवत् चले गए। भक्तगण चल पड़े। मुझे कुछ नाटक का-सा आभास होता रहा।

६

हर्डरकुल्म

२५ तारीख को शेली का 'ऐपिप्साइकिडियन' काव्य पढ़ते हुए हम फ्लोरेंस आये।

यह 'रोमियो' और 'जूलियट'[1] की भूमि है। यहाँ महाकवि दान्ते[2] ने बिएट्रीस का जीवन-भर स्मरण किया; चित्र-कला के जगद्गुरु माइकेल एञ्जेलोए ने यहाँ सुन्दरता की सिद्धि प्राप्त की। सर्वग्राही सर्जकता के स्वामी लिओनार्दो दा विन्ची ने अगम्य स्त्रीत्व की मूर्ति[3] यहाँ चित्रित की। रस-गुरु गोएथे[4] ने यहीं पर नवजीवन प्राप्त किया। शेली ने भी यहीं पर प्रेमोल्लास का अनुभव करके उसे काव्य में मूर्तिमान् किया। इस प्रकार फ्लोरेंस मेरे लिए प्रेम की राजधानी था।

फ्लोरेंस के ऐतिहासिक अवशेष, अपूर्व चित्र और शिल्प-कृतियों का उल्लेख करने से क्या लाभ? बहुत-कुछ देखा, बहुत घूमे, आखिर नोट किया—"देवालयों का शैथिल्य और अजीर्ण। कला-दृष्टि की एकदेशीयता। ईसा की मूर्ति की एकरूपता से उत्पन्न हुई ऊब।"

नोवा विटा, ऐपिप्साइकिडियन, ब्राउनिंग, पेट्रार्क, इन सबका

---

१. शेक्सपियर के इसी नाम के नाटक के नायक-नायिका
२. यूरोपीय सांस्कारिक पुनर्घटना का संस्थापक महाकवि
३. गिओकोण्डा नामक विश्व-विख्यात चित्र
४. विश्व-विख्यात जर्मन-कवि

स्वप्न नगर....कविता और जीवन में स्थान देना हो, तो ऐसा संवादी प्रकृति-स्थान चाहिए।

जब फ्लोरेन्स छोड़ा, तब ईसाई देवालयों—गिर्जों—और चित्रों को देखने की हमारी प्यास बिलकुल मिट चुकी थी। २५ तारीख को हम वेनिस गये। बहुत तेजी से होने वाली यात्रा के कारण, अब थकावट मालूम होने लगी। १८६८ में मैं आधे घण्टे के लिए वेनिस का ड्यूक बना था। एण्टोनिया, पोर्शिया और शायलोक, ओथेलो और डेस्डेमोना पुराने मित्र थे। परन्तु, वेनिस ने कोई प्रेरणा नहीं दी। यहाँ के चित्र, स्थापत्य और ऑपेरा कुछ घटिया मालूम हुए।

२६ मार्च को सेण्ट मार्क देख आए। इस पर मुसलमानी असर है। जब पिआज़ा में गये, तब लोगों ने घेर लिया। सबको हमारे प्रति कुतूहल हो आया। "चाइनीज़ ?" प्रश्न किया जाय। "नहीं भाई, नहीं। इण्डीज़," हम कहें। वहाँ कबूतर खूब उड़ाए। परों वाला सिंह और काँसा के घोड़े देखे।

इस प्रकार वर्णन चला आता है।

३० मार्च। मोटर-बोट में घूमने गये। काँच का कारखाना देखा। चाँदनी रात में मोटर-बोट से सैर की। रजत-सरोवर के किनारों का सौन्दर्य। लीला गम्भीर और खिन्न; लक्ष्मी गायन की धुन में। मैं दोनों में से किसी धुन में नहीं।

३१ मार्च। लीडो—उसका अनुपम सौन्दर्य। वहाँ रेती पर खूब दौड़े। कहाँ यह और डुमस और वरसोवा! भोजन किया और संगीत सुना। आनन्द-द्वीप देखा। रात को 'इल ट्राविआटोर' का ऑपेरा देखने गये। रात को वेनिस अद्भुत मालूम होता है। ऑपेरा का वातावरण मादक था; फिर भी एकान्त की आवश्यकता प्रतीत हुई।

१ अप्रैल। उलझन का पार नहीं। लक्ष्मी को ज्वर आ गया। फिर लोंच में गये। वहाँ से गोंडोला ली। यदि मैं देवता होता,

तो जीवन को गोंडोला की यात्रा बना देता। फिर बातें कीं। विनय करता हुआ एक मानव....वेनिस रमणीयता, प्रपंच और प्रेम के पागलपन का नगर है।

यात्रा के उल्लास का शमन हो गया था। २ अप्रैल को हम मीलान गये। लक्ष्मी को ज्वर आया। तीसरी को लीला और मैं दोनों अकेले मीलान का गिर्जा देखने गये। इसकी शोभा निराली थी—अतीव गम्भीर और भय का प्रसार करती हुई। सेण्ट पीटर की अपेक्षा इसका वातावरण अधिक अच्छा लगा। अन्दर अँधेरा था। पन्द्रहवीं, सोलहवीं और सत्रहवीं सदी के रंगीन काँचों से मढ़ी खिड़कियों द्वारा इसमें जादुई वैविध्य आ जाता था।
पहली या दूसरी ही बार इस प्रकार हम अकेले निकले थे; इसलिए कोई बात करना नहीं सूझा। नोब-बुक पर खेद की छाया है।

गोल घूमती हुई सीढ़ियों पर होकर हम ऊपर छत पर गये। मानो स्वर्ग में आ गए हों, ऐसा लगा। वहाँ का दृश्य देखा। फिर उतर आए। अपूर्ण रह गई महत्वाकांक्षा और उसकी करुणता की बातें कीं। विक्टर इमेन्युअल की गेलेरी देखी। प्रथम ह्यु बर्ट का स्मारक देखा। इसके अन्दर के खण्ड का सौन्दर्य देखा। बाग भी सुन्दर था। वातावरण उल्लासमय था। वहाँ मोंज़ के गिर्जे में गये। लोंबार्डी का प्रसिद्ध क्रॉस देखा। मूर्खतापूर्ण विधियाँ भी देखीं। नेपोलियन का खुदवाया हुआ लेख देखा। बाग में गये।

४ अप्रैल। तीनों जने देवालय में गये। वहाँ स्फोर्ज़ों के ड्यूक का किला देखा। कला-गृह देखा। इसमें कोई दम नहीं है। वहाँ से कब्रस्तान में गये। उसके सरस सौन्दर्य और प्रशान्त वातावरण का परिचय प्राप्त किया। कब्रें भी ऐसी कलामय थीं कि मरने की इच्छा हो जाय।

सरटोज़ा द पाविआ का सौन्दर्य देखा। संगमरमर का कारखाना देखा। पन्द्रहवीं सदी के कला-स्वामियों से पहले की कला

के नमूने देखे। काँसा के दरवाजों की कारीगरी अपूर्व थी। २४ प्रार्थना-मन्दिर देखे। एक ही कब्र में ड्यूक और उसकी पत्नी को दफ़नाया देखकर न जाने क्या-क्या विचार उत्पन्न हुए। जीवन में एकता न मिले, तो मृत्यु में एकता क्यों न प्राप्त की जाय, यह खयाल आया। अन्दर के बाड़े देखे। साधुओं की कोठरियाँ देखीं। एक ग्रामीण के यहाँ जाकर ग्रामीण चाय पी। रात को वेराइटी में गये। घुँघरू वाले कुत्ते की कुश्ती बहुत मनोरंजक थी। करुणता हृदय में पैठ गई।

यात्रा का प्रथम उत्साह समाप्त हो गया था। नये-नये दृश्यों की मोहिनी भी कम हो गई, और हमारे साहचर्य में से कई बार निराशा के करुण स्वर सुनाई पड़ते गए।

पाँचवीं अप्रैल को हम मीलान से कोमो जाने के लिए चल पड़े, और सारी सृष्टि बदल गई। देवालय, उद्यान और शिल्पाकृति का मानव-कल्पित जगत् समाप्त हो गया और ईश्वर-निर्मित सौन्दर्य चारों ओर फैल गया।

कोमो-सरोवर का सौन्दर्य देखकर फिर से उत्साह आ गया। जल की ऐसी निर्मलता मैंने कभी नहीं देखी थी। दोनों ओर से पर्वतमालाओं की परछाईं रंग में सौन्दर्य ला रही थी। वायु में चेतना थी।

जिस होटल में हम ठहरे, वह पहले अंग्रेज युवराज्ञी का महल था। वह सरोवर पर ही बना था। बाग में खेलों के खेलने का जो स्थान था, वहाँ हम छोटे बच्चों की तरह खेले। एक लम्बे तख्ते (Seasaw) के दोनों छोरों पर दो जने बैठकर खूब झूले। लीला और मैं आमने-सामने बैठकर झूल रहे थे कि वह एकदम उतर पड़ी। तख्ते का उसका छोर बिना भार के ऊपर उठ गया। मेरा छोर, भार के कारण जमीन से लग गया। मैं उलट पड़ा और मुझे चोट आई। डॉक्टर बुलाना पड़ा, और लांच में पड़ा हुआ मैं सरोवर में घूमा। कोमो में हम मोटर बोट में ही घूमे और प्रकृति-सौन्दर्य की विविधता का निरीक्षण किया।

कोमो की विशालता। चारों ओर के गाँवों और घरों की स्वच्छ चित्रात्मकता। विलाकार लाटा के बाग की रचना। बरफ, पर्वत, पानी, हरियाली और फव्वारों की समस्त मोहिनी। स्थापत्य और वनस्पति की खिलावट भी इसमें बढ़ती करती थी। सौन्दर्य का यह केन्द्र है। हमारे यहाँ ऐसे केन्द्र कब बन पायँगे? बीलेजिओ विला, सर बोलोनी का बाग, कोमो, ल्यूका, बरफ...फिर लौट पड़े। चलते हुए बोट में ऐसा लगा, मानो सिनेमा देख रहे हों। एक पहाड़ी पर एकान्त में एक मकान देखा। ऐसा मकान कब मिले कि काव्यमय जीवन बिताऊँ?

वहाँ से मोटर में ल्यूगानो गये। रास्ते में स्विट्जरलैंड के गाँव पड़े। वेरासी और मेगीओर-सरोवर देखे। रात को ल्यूगानो पहुँचे। इडेन होटेल और सेनसेल्वेटर की रेलवे के दीपक सरोवर में प्रतिबिम्बित थे। ऐसा खयाल हुआ, मानो आकाश नीचे उतर आया हो।

जब हम आये, तब होटेल में जगह नहीं थी; अतएव जमीन के नीचे के तल का मैनेजर वाला भाग हमें दे दिया गया। पास ही रसोईघर था, इसलिए मछली की गन्ध का पार नहीं था। पलंग और गद्दे भी गन्दे थे। हमने कहा-सुना तो बहुत, पर कुछ हुआ नहीं। ज्यों-त्यों रात बिताई त्यों-त्यों मछली की गन्ध से, सौन्दर्य-निरीक्षण की हमारी शक्ति को काठ मार गया। हमने विचार किया कि बेचारे राजा शान्तनु ने मत्स्यगन्धा से विवाह किया था, उनका क्या हाल हुआ होगा। दूसरे दिन कुक कम्पनी के आदमी ने आकर अच्छी जगह हमारी व्यवस्था कर दी।

कोमो में सरोवर रमणीय था। ल्यूगानो में छोटी-छोटी चोटियों की रचना और रंग की रमणीयता थी। छोटी-छोटी चोटियों के बीच से जल-पथ निकलता था—यह खूबी और कहीं भी हमने नहीं देखी। मोन बे के पास वाला जल-पथ बहुत सुन्दर था। प्रकृति गम्भीर थी। पार्क में घूमे। रात को खिड़की में से

सेनसेलवेटर देखा। हमारी ऊर्मियों से टेव बदलती हैं, या टेव से ऊर्मियाँ गढ़ी जाती हैं ?

८ तारीख को आत्मा के संगीत और स्वर के संगीत की तुलना करते हम ल्यूगानो से ल्यूसर्न आये। ल्यूसर्न को अपनी यात्रा का परम धाम हमने माना था। इसलिए कई महीनों से इसे हम 'नवाँ परिच्छेद' कहते थे। नवम् परिच्छेद की स्मृति अनेक बार शशशृङ्ग-जैसी मिथ्या मालूम हुई थी। आज वह फलित हुई, और जैसा सोचा था वैसा ही ल्यूसर्न सुन्दर निकला। ट्रेन में आते ही प्रकृति-दर्शन अद्भुत होता गया। 'बरफ, जल का प्रपात, काले पर्वत, सन्ध्या और वर्षा !'

यहाँ Battle of Lucerne 'ल्यूसर्न का युद्ध' शुरू हुआ था। अभी तक नये-नये सौन्दर्य में तैरते हुए, हम क्या हैं—कौन हैं—किस प्रकार का हमारा सम्बन्ध है, या होगा, इसका विचर भी नहीं किया था। अब ल्यूसर्न आ गया था—आँखें खोलता चला जायगा। क्या इसी प्रकार जीने के लिए पैदा हुए हैं, इस विचार ने हमें विह्वल कर छोड़ा। मुसाफिरी की करुणता अब हमें खलने लगी। पहले की तरह खुले दिल से हम नहीं घूम सके।

नौ तारीख को मोटर में घूमे। हिम-सरिता। ग्लेसियर के उद्यान में गये। प्रागैतिहासिक सरोवरवासियों के घर देखे। उनकी कहानी सुनी। भूल-भुलैयां में घूम आए। पहाड़ी पर से प्रकृति का विशाल दर्शन किया। गाँव का सौन्दर्य देखा। ल्यूसर्न का सिंह देखा। दोपहर में रीगा के आस-पास मोटर की यात्रा की। विलि-यम टेल का मन्दिर और शीलर का स्मरण-स्तम्भ देखा। चाय पी। प्रकृति का सौन्दर्य देखा। अस्वस्थता।

यात्रा का सौन्दर्य समाप्त हो गया था। नवीं तारीख की रात मैंने व्याकुल अवस्था में बिताई। ज्यों गुलाम और क्रूर मालिक फटकारता है, मैं अपने-आपको गीता के श्लोक के मानसिक कोड़े मार रहा था। वही एक आदेश मिलता रहा—'अपनी वृत्तियों को स्वाहा कर दे। सिद्धि प्राप्त

होगी।' दसवीं को सवेरे उठकर मैंने अपनी नोट-बुक हाथ में ली और क्रूरता से आज्ञा लिखी—

यज्ञार्थात् कर्मणोन्यत्र लोकोद्यं कर्मबन्धनः।

मेरे भाग्य-स्थान में देवगुरु बृहस्पति और दानव-गुरु शुक्राचार्य दोनों हैं। बृहस्पति शुक्र को कोड़े लगाते थे। शुक्र इससे तड़फड़ाते, परन्तु उनके हृदय में प्रेम-गान नहीं हो रहा था, यह नहीं कहा जा सकता। मनुष्य-स्वभाव का अटपटापन एक साथ हँसाता और रुलाता था।

आकाश का दृश्य। वातावरण। भावी योजनाएँ सरल हुईं। ल्यूसर्न के स्वप्न का साक्षात्कार हुआ। घड़ियाँ खरीदीं। 'मादाम पोंपादोर' नाम का जर्मन-नाटक देखा। ल्यूसर्न से राम-राम!

दूसरे दिन, ग्यारह तारीख को बम्बई से पत्र आया। 'गुजरात की हवा चल पड़ी।' साहसी योद्धा प्राण देने के लिए युद्ध पर जा डटे, ऐसा खयाल आया। 'योद्धा और युद्ध-घोषणा' मैंने नोट किया और इण्टर-लाकन को रवाना हुए। एक शब्द उस समय की मनोदशा दिखलाता है—'चिन्ता।' इण्टरलाकन सुन्दर अवश्य था, परन्तु यात्रा की प्रेरणा नष्ट हो गई थी। लीला का और मेरा सम्बन्ध, मेरे वास्तविक जीवन में क्या स्थान ग्रहण करे—इस समस्या को सुलझाने में मैं लगा था।

यहाँ ब्रीएंज़ और टूना दो सरोवर नहर से सम्बद्ध कर दिये गए थे, इसलिए इस गाँव का नाम 'इण्टरलाकन' पड़ गया है। इसके चारों ओर का सृष्टि-सौन्दर्य सीमा पार कर जाता है। पैदल पुल पर घूमने गये। दोपहर को मोटर में। ट्रमलबक का प्रपात देखा। लिफ़्ट से ऊपर गये। पर्वत के अन्दर शंकर की जटा में से गंगा निकल रही हो, ऐसा लगा। बिजली की लाल बत्तियों का प्रकाश गह्वर में पड़ता था और जादू के महल का खयाल करा देता था। अन्दर सतत बह रहा प्रपात और उसका बाह्य रूप—एक भव्य और भयंकर, दूसरा थिरकता और वेगवान।

रेल से शैडग गये। युङ्फ्रौ और सिल्वरहॉर्न, मक और वेटर-

हॉर्न के हिमाच्छादित शिखर देखे। बरफ में चले, पहली बार। घर की छतों पर भी बरफ पड़ा हुआ देखा। एक बार बरफ से पैर फिसल गया और मैं गिर पड़ा। साथ में एक अमेरिकन साहित्य-रसिक स्त्री और पादरी थे। उनसे भारतीय राजनीति पर बात-चीत की। शाम को सरोवर के किनारे घूमे और उसके सौन्दर्य और वातावरण की मोहिनी के वशीभूत हो गए।

१३ अप्रैल को गुजरात से पत्र आये। घूमे। प्रकृति के सिंहासन के समान गिरि-शृङ्ग देखा। गीता का पारायण किया। 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' बनाने का ध्यान किया। सबने मिलकर भजन गाए।

१४ अप्रैल। हर्डरकुलम के शिखर के रास्ते घूम आए। वहाँ से गाँव का सुन्दर दृश्य दिखलाई पड़ा। संगीतपति वेबर, मेंडल होसन और वेगनर की तख्तियाँ देखीं। बादलों के व्यूह की अपूर्व रमणीयता निरखी। दोपहर को बीओटस की गुफा देखी। जल के प्रपात, उस पर के पुल और उसके सौन्दर्य को देखा। बीओटस का आश्रम देखा प्रागैतिहासिक झोंपड़ी देखी और उस समय के पुरुषों, स्त्रियों और बालकों की हू-बहू प्रकृतियाँ देखीं। उनकी संस्कृति का निरीक्षण किया।

बातें करते हुए चलने लगे। विवाह के मौलिक तत्त्व, घर, दाम्पत्य और प्रेममय जीवन की भव्यता सिद्ध करना इसका हेतु था। कुटुम्ब की भावना ज्यों-ज्यों राष्ट्र की भावना में परिणत होती है, त्यों-त्यों समाज में स्त्री-पुरुष के ऐक्य का भाव वृद्धि पाता है, व्यक्तिगत प्रेम विकसित होता है, उसकी आवश्यकता भी बढ़ जाती है। इस प्रकार प्रारम्भिक दशा का गृह-संसार एकता की भावना में परिणत होता है। बीओटस की गुफा में गये। वहाँ, अन्दर, जल के गहन प्रपात हैं। पर्वत का प्रान्तर स्थापत्य है। झरनों का प्रच्छन्न जीवन और उनके रचे सौन्दर्य को देखा। स्टेलेक्टाइटो स्वयम्भू शिव-लिंगों की तरह लगे। भूल-भुलैयां में घूमे। चाय पी।

१५ अप्रैल। ब्रीएज़ के सरोवर पर घूमे। बेलव्यू होटल की ओर गये। वहाँ बरफ की फुहारें ऐसे पड़ रही थीं, मानो फूलों की वर्षा हो रही हो। आकाश से पुष्प झड़ते हैं, यह बात सच है; परन्तु पृथ्वी का स्पर्श होने पर उनका विनाश हो जाता है। यह पुष्प उच्चगामी ही अच्छे। टून-सरोवर के आस-पास बादलों के वसन धारण किये शृङ्ग खड़े थे। खेतों में घास लहरा रही थी। हिम की परछाइँ, हरे भूरे सरोवर के जल में पड़ने से, उसका रंग कुछ निराला हो गया था।

१६ अप्रैल। हर्डरकुल्म के छत्र के नीचे बैठकर इण्टरलाक की रमणीयता निरखी। एक-दूसरे के लिए प्रणयीजन कब तक प्रतीक्षा कर सकते हैं, इसकी चर्चा की। "राइडर हेगार्ड की 'शी' दो हज़ार वर्षों तक प्रतीक्षा करती बैठी रही थी," लीला ने कहा।

"विन्ध्याचल अभी तक प्रतीक्षा करता हुआ बैठा है—कि कब अगस्त्य मुनि अपने दिये हुए वचन का पालन करने को आएँगे," मैंने कहा।

दोपहर में गीडलवोल्ड गये। चारों तरफ बरफ के खेत फैले हुए थे, यात्रा भी बरफ में ही की। बल्यूग्रोटो की हिम-गुफा देखी। बरफ की निर्मलता से उसका रंग निर्मल भूरा हो गया था। वहाँ जाड़ों में बरफ के खेल भी खेले जाते हैं। ऊपर की हिम-सरिता (Upper Glacier) वर्ष-भर में एक हज़ार फीट आगे बढ़ती है। वेटरहॉर्न जाने की लिफ्ट देखी। बरफ की वर्षा हुई। एक अद्भुत दृश्य—चारों ओर बरफ था, उसमें एक झरना बह रहा था—ऐसा, मानो अचेतनता में अकेला चेतन बह रहा हो।

१७ अप्रैल इण्टरलाकन में अन्तिम दिन था। यूरोप की सौन्दर्य-यात्रा समाप्त हो रही थी। लक्ष्मी की तबियत अस्वस्थ थी, इसलिए लीला और मैं हर्डरकुल्म पर चढ़े। जमकर तेजी से चलने में हमें शारीरिक और

मानसिक उल्लास प्राप्त होता था। उस समय की बातचीत अपनी नोट-बुक के सहारे सजीव करता हूँ।

"अब कल यह सौन्दर्य-यात्रा पूर्ण हो जायगी—ल्यूसर्न का स्वप्न पूर्ण हुआ—इण्टरलाकन भी पीछे रह जायगा। पेरिस में हमारे परिचित हैं, अतएव यह जादू चला जायगा।"

"कल आप घर की भावना की बातें कर रहे थे," लीला ने कहा और उसाँस ली, "हमारे भाग्य में यह नहीं लिखा है।"

"ग्लोरिया, यह बात जाने दो। हमने जिस साहचर्य की चिन्तना की थी, उसकी अन्तिम घड़ी है। इस समय क्षण-भर के लिए मान लो कि तुम ही 'देवी' तन-मन-बचपन की सखी हो। पहले ही हमारा विवाह हो चुका है। यह हर्डरकुल्म हमारा घर है।

"और मानो यहीं सदा से रहते आए हैं। नित्य मैं तुम्हारे लिए फूल तैयार रखता हूँ।"

"ऐसा घर गुजरात में कब बनेगा? इण्टरलाकन का प्रकृति-सौन्दर्य वहाँ नहीं ले जाया जा सकता; परन्तु गुजराती और गुजरातिन इस परम रमणीय ध्येय की साधना कब करेंगे? या वे एक-दूसरे को त्याग देंगे?"

"कभी नहीं त्यागेंगे। गुजरात में यह रमणीयता आएगी या नहीं, पर इण्टरलाकन तो है ही—हमारे हृदय में।"

हम मौन-मुख दौड़ते हुए लौट आए।

मैंने घड़ी की ओर देखा। "हर्डरकुल्म हमारी अविभक्त आत्मा का घर है। इसकी सिद्धि इस जीवन में नहीं होगी। चलो, इस जीवन में प्रवेश करें। किसी जीवन में हर्डरकुल्म बसाएँगे।" हम दोनों की आँखों में आँसू थे।

नोट-बुक अन्त में रुदन करती है—'करुणता।'

हमने यह सोचा था—ल्यूसर्न का स्वप्न सिद्ध हुआ कि हम फिर जैसे थे वैसे ही बनकर रहेंगे। परन्तु इण्टरलाकन ने नये बाँध बाँध दिए।

पेरिस जाते हुए ऐसा लगा, मानो मैं पूर्वाश्रम के विहार-स्थान में जा

रहा हूँ। यहाँ की गलियों में एस्मेरल्डा[1] नृत्य करती थी; नोत्रदाम में कोसी-मोडो घंटा बजाता था। मार्गोट ने यहाँ राज-वंश की लम्पटता की पराकाष्ठा अनुभव की थी और केथेराइन मेडीसी ने शासन के लिए विष दिया था। दार्तान्या यहाँ कीर्ति प्राप्त करने को आया और रीशल्यू ने दाव-पेंच से फ्रेञ्च राष्ट्र को एक किया। यहाँ वेल्समो ने जगत् को ठगा और मेरी आंत्वीनेत का हार चुराया।[2] यहाँ मोण्टे क्रिस्टो ने शत्रुओं से बदला लिया। विश्व-विमोचन के संग्रामस्वरूप फ्रेञ्च विप्लव की यह रंगभूमि है। यहीं से मीराबो, दांतां और रोबेसपियर[3] की वाक्पटुता ने यूरोप को कँपाया था। और नेपोलियन की—जिसकी छोटी-मोटी बातें मेरे हृदय पर अंकित हैं, उसकी—यह राजधानी है, जहाँ से उसने यूरोप को जीतने के लिए प्रयाण किया था। जो था, वह मेरी संस्कार-यात्रा का अन्तिम धाम था।

१८ अप्रैल को इण्टरलाकन से नमस्कार कर लिया। हृदय पर आघात हुआ। होटल दुलाक के मालिक—पति-पत्नी—स्वजनों की तरह लगे। ट्रेन से बर्न गये। बर्न बहुत साफ-सुथरा नगर है। वहाँ गहरे कुएँ-जैसे गढ़ों में रीछ रखे गए हैं। उन्हें देखने को लोग शाम-सवेरे आते रहते हैं और खाने को कुछ डालते रहते हैं।

रात को पेरिस जाने वाली गाड़ी में बैठे। कुक के आदमी ने कहा कि मध्य रात के समय पोण्टर्लियर के पास दुआ—वीरमगाम में थी ऐसी नाका-बन्दी—आएगा, इसलिए, साथ में सामान रखेंगे, तो उठकर, खोलकर दिखलाना पड़ेगा। लगेज में रखवा दीजिएगा तो पेरिस तक बाधा न होगी। हमने उसकी सलाह मान ली और केवल हाथ के बेग के सिवा दूसरा सब सामान लगेज करा दिया। समझा, चलो छुट्टी हुई। "वागोंलीज़"—सोने की गाड़ी—में हम सोये। आधी रात को दो बजे पोण्टर्लियर आया। एक फ्रेञ्च स्त्री ने आकर पटर-पटर बोलना शुरू कर दिया। फ्रेञ्च पढ़ने

१. ह्यूगो के विख्यात उपन्यास की पात्र
२. ड्यूमा के उपन्यास के पात्र
३. फ्रेञ्च विप्लव के महान् नेता

के अपने प्रयास से मुझे एक वाक्य आता था—"पालेवू लांगले" (आप अंग्रेजी बोलते हैं ?) 'बगाज' अंग्रेजी 'बेगेज' होना चाहिए, यह मानकर अपने हाथ के बेग दिखलाए। उस फ्रेञ्च-महिला ने ल्यूसर्न में खरीदी हुई हमारी पन्द्रह घड़ियाँ जब्त कर लीं और फ्रेञ्च में भाषण करती चली गई। रूर में फौजें जमा थीं, इसलिए नाकेबन्दी बहुत सख्त थी, यह हमें क्या मालूम ? हम सो गए। बहुत सवेरे लायोन्स स्टेशन पर उतरे। झिरमिर-झिरमिर वर्षा हो रही थी। कुक का आदमी मिला और हमने 'बगाज' 'बगाज' की रट लगाकर घण्टे-भर व्यर्थ की पुकार मचाई। आखिर खबर लगी कि हमने पोण्टर्लियर पर उतरकर बक्स खोलकर सामान नहीं दिखाया, इसलिए हमारे सब 'बगाज' वहीं रख छोड़े गए हैं। परिणामस्वरूप कड़कड़ाती ठण्ड में एक ही वस्त्र पहने हम अजाने नगर में आ उतरे।

ज्यों-त्यों करके हम होटल में गये और मैनेजर ने—हमारी बातों से शंकित होते हुए भी—हमारे लिए रखे गए कमरे खोल दिए। अपने बड़े बक्स हमने समुद्र-मार्ग से, ब्रींडिसी से पेरिस रवाना करवाए थे। हम कुक कम्पनी में गये, वहाँ खबर लगी कि हमारे बड़े बक्स, कस्टम वालों ने रोक लिए हैं। फ्रेञ्च-अधिकारियों ने साड़ियों को कपड़े के थान मान लिया था और वे उस पर चुङ्गी चाहते थे। हम वहाँ से कस्टम-ऑफिस गये। अधिकारी कहने लगे कि साड़ियाँ पहनने के वस्त्र नहीं हैं, बेचने का कपड़ा है। मैंने कहा—"यह भारतीय स्त्रियाँ इस प्रकार पूरी साड़ी पहनती हैं। यह पहनने के वस्त्र हैं, कपड़ा नहीं।" आखिर, केवल फ्रेञ्च जानने वाले अधिकारी को मेरी अंग्रेजी का अर्थ समझ में आया और "मेरसी मॉस्यु" (बड़ी कृपा हुई, साहब) की तोता रटन्त करते हुए बक्स हमें दे दिए। हमारे पास बदलने के लिए कपड़े नहीं थे, इसलिए मैं "Old England" नाम की दुकान में तैयार कपड़ों का आर्डर दे आया। तीन दिन में पोण्टर्लियर से हमारा 'बगाज' आया। हमारी घड़ियाँ तो हमें तब मिलेंगी, जब हम भारत जाने के लिए मार्सेल्स में स्टीमर पर सवार होंगे। बड़ी कृपा—"मेरसी, मॉस्यु।"

दोपहर में हम घूमने निकले। जिन ऐतिहासिक अवशेषों की बातें पढ़-पढ़कर मैं बड़ा हुआ था, वे सब अपनी आँखों से देखे। मेरे साथियों को अधिक रस न मिला। मुझे प्लास द कोंकोर्द और प्लास द बास्तिल देखकर फ्रेञ्च-विद्रोह का, नोत्रदाम का देवालय देखकर विक्टर ह्यूगो का घण्टा बजाने वाला कोसीमोडो और ऐस्मेरेल्डा का स्मरण हो आया। होटल देज़िन्वा-लिद्स, जहाँ नेपोलियन की कब्र है, वहाँ गये। मैंने केवल दण्डवत् प्रणाम ही नहीं किया, इस नरसिंह को हृदय से अंजलि अर्पित की। रात को ऑपेरा में गये। सीनरी और ड्रेस बहुत ही सुन्दर; परन्तु संगीत रोम से हल्का।

२२ अप्रैल। वरसाई गये। वहाँ का बाग देखा। फ्रोन्तेन्ब्लो का उद्यान देखा। जंगल की सुन्दर पगडंडियाँ देखीं। कला का रचा हुआ, संस्कृति का यह नन्दन वन है....। वरसाई का महल देखा। इसके अद्भुत ऐतिहासिक संस्मरण ताजे किये। चौदहवें लुई और ला विलियर्स ने यहाँ प्रेम का जो पागलपन प्रकट किया था, वह याद आया।[1] विद्रोह के समय, मेरी आन्त्वीनेत और डोफीन पर कुपित होते हुए लोग जब यहाँ आये थे, तब जिस खिड़की से उसके पुत्र को दिखाया गया था, वह भी देखी। इस महल में ही, फ्रान्स के कटु क्षणों में विल्हेम जर्मन-सम्राट् हुआ, इसकी घोषणा बिस्मार्क ने की थी। महायुद्ध का सन्धि-पत्र भी यहाँ Hall of Mirrors में—आदर्श भवन में लिखा गया था।

वरसाई में शोभा है, कला नहीं है। इसकी ऐतिहासिक चित्र-माला देखी। ऐतिहासिक संस्मरणों को संग्रह करके सजीव बनाये रखने की शक्ति फ्रेञ्चों में अधिक है। फ्रान्स, अर्थात् भावनापूर्ण वीरता। फ्रेञ्च इतिहास में स्त्रियों का भाग भी कम नहीं है। जोन ऑफ आर्क, केथेराइन मेडीसी, मेरी मेडीसी, मोन्तेनाँ, पोंपादोर, दुबारी, मेरी आन्त्वीनेत।

ग्रांड त्रायोना को देखा। मेलेमेसन में गये। मेलेमेसन में बिस्तर

१. ड्यूमा की कहानी—Twenty Years After.

के पास मैं खड़ा रहा। उसे इस प्रकार रखा गया है कि मानो अभी-अभी नेपोलियन उस पर से उठकर बाहर गया हो। वहाँ पूज्य भाव से अंजलि अर्पित करते हुए उसकी महत्ता का माप मैं लगा सका। वह अपनी भावना को सिद्ध कर सका होता, तो यूरोप में आज एक राज्य-तन्त्र स्थापित हो गया होता। सदी की विपत्तियों से जगत् बच जाता। परन्तु यह बित्ता-भर वाले साधारण लोग तो इकट्ठे होकर विराट् का विनाश करते ही आए हैं। इन्हें तो अपनी चींटियों की बासियों में ही मजा आता है। नेपोलियन के गृहस्थ-जीवन का विचार किया।.....त्याग उसने किस प्रकार किया? व्यक्तिगत स्नेह और प्रकट कर्तव्य के बीच हमेशा विरोध होता है।

वेसीना में मों० शालिये के यहाँ गये। प्रोफसर का शान्त और संस्कृत जीवन देखा। इनकी स्त्री और बच्चों का सद्भाव देखा। इस प्रकार नित्य के संस्मरण चलते रहे।

मैं नाटक के टिकट लेने गया। बेचने वाले ने कहा कि "साहब, 'केसीनो' में जाइए—विदेशियों को साधारण नाटकघरों में अच्छा नहीं लगता।" हम 'केसीनो-द-पारी' में गये।

२३ अप्रैल। सेक्रेकर का मन्दिर देखा। प्रायश्चित्त का मन्दिर देखा। सोलहवें लुई और मेरी आन्त्वीनेत की कब्रें देखीं। जीवित राजाओं को मार डालते हैं, परन्तु वे जब मर जाते हैं, तब दया दिखलाते हैं। पेर लाशेज का कब्रस्तान देखा। ऐबेलार्ड और हेलोइस की कब्र देखी। प्रेम और पद्धति की आपस में शत्रुता होती है। सहजीवन प्राप्त न हो तो लोग सहशान्ति हमें प्राप्त करने देंगे?

ला फ्रोन्तेन, मोलियर और मुसे की कब्रें देखीं। मुसे का काव्य 'Le nui'—रात्रियाँ—याद आया। बीब्लीओथिक नाशिओनाल (राष्ट्रीय पुस्तकालय) देखा। फ्रेञ्च एकेडेमी देखी और एफीएल टावर पर चढ़ आए। ऐसा लगा, मानो स्वर्ग में जाने का प्रयत्न कर रहे हों। रात को 'फोलीबर्ज़ेर' में गये। होटल के कार्यकर्ता की सलाह से

गये तो सही, परन्तु वहाँ हमारा जी घबरा गया। वहाँ नग्न स्त्रियों के कलामय नृत्य के सिवा कुछ नहीं था और सभी युवतियाँ पेट के लिए प्रदर्शन करती थीं। इस खयाल से हम इतने अकुला गए कि बीच ही से उठ आए।

२४ अप्रैल। लुव्र का महल देखने गये और सेण्ट लुई, हेनरी, रीशल्यू, तथा चौदहवें लुई ने नेपोलियन के इतिहास की परम्परा के संस्मरण ताजे कर दिए। लिओन गेम्बेटा और क्लेमेंशो की पत्थर की मूर्तियाँ भी देखीं। लुव्र का म्यूज़ियम देखा। सुप्रसिद्ध फ्रेञ्च कलाकारों की कला देखी। दोपहर में बृहत् गुजरात का प्रवेश हुआ--एस० आर० बमन जी, मंगलदास बैंकर और मगन श्राफ।

२५ अप्रैल। लुव्र में जाकर टेपेस्ट्री देखी। बैंकर के यहाँ भोजन किया। विदेश में बसे गुजराती, वहाँ के रहन-सहन को नहीं अपनाते और अकेले अलग रहते हैं। नये संस्कारों को अपनाने का प्रयत्न ही नहीं करते। बहुत दिनों पर गुजराती भोजन किया। खाई हुई रोटी की मिठास भुलाई नहीं जा सकती थी। लुव्र में पुनः शिल्पाकृतियाँ देखीं। साथ में श्राफ था। यह बैरिस्टरी पास करके आया, तभी से इसे पहचानता था। अब यह पेरिस में जौहरी का काम करता है। इस समय यह हमारे साथ था। मैंने इससे कहा कि मैं 'विनस-द-मिलो' की शिल्पाकृतियाँ देखने जा रहा हूँ।

'विनस-द-मिलो!' उसने गर्व से कहा, "तुम भी इन पेरिस के लोगों की तरह पागल हो गए हो? इसमें कौन देखने की चीज रखी है? अधनंगी, टूटे हाथ-पैर और कान वाली पुतलियों में ऐसा क्या है कि व्यर्थ में समय नष्ट कर रहे हो?" मैं अवाक् रह गया।

'विनस-द-मिलो' से मेरा पुराना प्रेम था। इसका एक आने वाला चित्र मैंने वर्षों पहले मढ़वाकर अपने कमरे में टँगवाया था। इस मूर्ति को देखकर, मेरी कल्पना को पूर्ण सन्तोष प्राप्त हुआ।[1]

---

१. विवरण के लिए 'मेरी अनुत्तरदायित्वपूर्ण कहानी' देखिए पृष्ठ ११३।

यह सुश्लिष्ट मानव-शरीर सुन्दरता का मन्दिर है। सुरेख, सुरूप और छटापूर्ण स्त्री के शरीर की अपूर्वता इस सुन्दरता की अन्तिम कक्षा है। इस कक्षा का इस शिल्पाकृति में साक्षात्कार हुआ है। ऐसे अनुभवों से ही मैं सुन्दरता के विश्लेषण या पृथक्करण कर सका।[1]

फिर शांज़ एलिस के नृत्य-गृह में गये। श्राफ भी साथ था। लोगों की मौज करने की वृत्ति बड़ी तीव्र है। विलास की भूख भी बहुत है। जीवन में उल्लास और नृत्य का निकट सम्बन्ध है। रात को कोमेडी फ्रान्से में नाटक देखने गये—La Marionette। यह मोलियर की रंगभूमि है, नाटक और नाट्य की कला बहुत उच्च प्रकार की थी। फ्रेञ्च बोलने की रीति बड़ी उतावली है। हाथों की छेड़-छाड़ भी अधिक होती है। फ्रान्स का संस्कृत-समाज यहाँ देखा।

२६ अप्रैल। पत्र आये। मोती भाई की मृत्यु का समाचार आया। बच्चों की तबियत के समाचार भी मिले। दोपहर में प्रोफेसर शालेये का लंच था। बुलोन-सर-सीन की सुन्दर बस्ती में गये। वहाँ से फिर लुव्र में आये। मिसर और असीरिया के विभाग देखे। वहाँ से लौटते हुए म्यूज़ियम-द-कार्निवल देखा। लौटने पर इन्दुलाल के जेल जाने का समाचार मिला। देश की राजनीतिक परिस्थिति और उसकी अस्थिरता पर बातचीत की। वृत्ति और भाव के विरोध और उनके जय-पराजय पर चर्चा हुई।

२७ को यूरोप की यात्रा पूर्ण की। आनन्द के धाम पेरिस को नमस्कार किया। तूफानी चैनल को लाँघा। डोवर आया। इंग्लैण्ड का सृष्टि-सौन्दर्य, खेत-खलिहान और वृक्षों की सुघड़ता देखी। लन्दन पहुँचे और कान्तिलाल पंड्या मिले। मानो घर-द्वार आ गया। अंग्रेजी भाषा आई। सेसिल होटल में गये।

---

१. देखिए, 'साहित्य के रस-दर्शन'

लन्दन खरचीला है, बम्बई जैसा, अँधेरे वाला, बादलों से छाया-सा, बेढंगा। ट्राफालगर स्क्वेयर देखा। कान्तिलाल तथा अन्य मित्रों ने पटनी में गुजराती रसोई की व्यवस्था की थी, उसका निरीक्षण किया। यूस्टेस माइल्स और अब्दुल्ला के विश्रान्ति-गृह देखे। एक बार हम पटनी में मिसेज़ नाइट के बोर्डिङ्ग-हाउस में, जहाँ कान्तिलाल रहते थे वहाँ, श्रीखण्ड, पूरी, पकौड़ियाँ और वाल (गुजरात का एक अन्न) की दाल खा आए। गुजराती विद्यार्थियों ने बनाना सिखाया था, परन्तु इन्होंने उसे बहुत सुघड़ बना दिया था।

इंग्लैण्ड की नोट-बुक में केवल देखी हुई वस्तुओं के नोट्स हैं। 'सर्व-साधारण मकानों का सौन्दर्य यहाँ यूरोप की तरह नहीं सँभल पाया। उसमें शिथिलता है।' पार्लामेण्ट देखकर अकुलाहट आ गई। "भारत को गढ़ने की निहाई' यह नाम उसका रखा गया है। वेस्ट मिन्स्टर ऐबे में सुप्रसिद्ध व्यक्तियों के नाम स्मरण किये—परन्तु हृदय-मंथन नहीं हुआ। अंग्रेजी इतिहास के अवशेषों से भी कल्पना उत्तेजित न हुई। अंग्रेजी जीवन कहाँ दिखलाई पड़ सकता है? केवल सार्वजनिक भवनों, संस्थाओं, होटलों, गेलेरियों डॉक्टरों, नाटकघरों······" पार्लामेण्टरी कमिटी में शास्त्रीजी, जमुनादास द्वारकादास और कामथ से मिले। इनका व्यवहार बहुत ही दीन प्रतीत हुआ। "भारतीयों में अपने प्रति गर्व नहीं है। प्रचार बहुत ही शिथिल है।"

लन्दन में नाटक बहुत देखे। सच कहा जाय तो वहाँ नाटकों का ही आनन्द मिला। इंग्लैण्ड के ऑपेरा तो निर्जीव-से हैं, परन्तु सामाजिक नाटकों ने मुझे मुग्ध कर लिया। मेथेसन लेंग और द मूरियर की अद्भुत अभिनय-कला देखी और मेरी मान्यता को यह समर्थन मिला कि 'नाटक ही कला का सर्वांग सुन्दर रूप है।' 'स्ट्रेटफोर्ड ऑफ एवन' में कुछ प्रेरणा मिली। भूलाभाई और इच्छा बहन मिले। मानो बम्बई मिल गई। हँसते-खेलते क्रिस्टल पैलेस में हो आए। परन्तु यात्रा का रूप-रंग बदल गया। लीला का विचार था कि यहाँ रहकर कॉलेज में पढ़ा जाय। रुपयों का प्रबन्ध करने को मैं तैयार था; परन्तु वह विलायत रहे, इसके विरुद्ध था।

मुझे ऐसा लगा करता कि हमारे साहित्य-साहचर्य में विक्षेप पड़े, तो "अविभक्त आत्मा" का हम द्रोह करेंगे। इतने में तार आ गया—"पेढ़ी-दुकान की दशा बहुत डाँवाडोल है, इसलिए तुरन्त आइए।" अनिच्छा-पूर्वक लीला ने विलायत रहने का विचार त्याग दिया।

बिना मालिक की स्त्री का अपना क्या खयाल है, इसका अनुभव हुआ। एक मित्र और उनकी पत्नी ने हमें चाय पीने को बुलाया। हम चाय पी रहे थे कि लीला बाहर छज्जे में चली गई। वह मित्र भी पीछे-पीछे गये और धीमे स्वर में कहा कि यदि लीला साथ चले, तो वह खुद कार लेकर अकेले उसे मौज करा लाएँ। दोनों का पहला ही परिचय था। लीला ने जलती हुई वाणी का ऐसा दाग़ दिया कि उस दाग़ को वे मित्र नहीं भूले।

१८ मई। सब लोग सरपण्टाइन पर घूम आए। संकल्प किया परम ऐक्य का। संकल्प कैसे पाला जाय, यह सोचते रहे। जुदा हो गए। करुणामय विजय—(Tragic Triumph)!

२० मई। फ्रान्स के लिए रवाना हुए। क्रोयडन से हेंडलपेज एरोप्लेन में बैठे। बैठने से पहले विचार हुआ कि पिछले सप्ताह जैसी दुर्घटना हो गई थी, वैसी हो जाय तब? उड़ते हुए विचित्र अनुभव होता है। पृथ्वी डोलती हुई मालूम होती है। आवाज़ से कान बहरे हो जाते हैं। उतरते हुए हृदय में कम्प होने लगता है और चक्कर आते हैं। आकाश में उड़ते हुए इंग्लैण्ड के खेत और गाँवों की सुन्दरता आकर्षक मालूम होती है। समुद्र पर होकर जाते हुए उसका सौन्दर्य भी बढ़ जाता है। उसकी शान्ति और गौरव में उसकी अभंग महत्ता है।—पेरिस।

२१ मई। मार्सेल्स के रास्ते साधारण दृश्य। मोण्टेकार्लो के मार्ग से गये। समुद्र के किनारे तुलोन देखा। यहाँ नेपोलियन की शक्ति का प्रथम प्रादुर्भाव हुआ था। रिवियेरा होकर मोण्टेकार्लो पहुँचे। भारत का सूर्य, समुद्र और वातावरण हो ऐसा लगा, परन्तु स्थान में मोहकता थी। होटल, बाजार और रास्ते ऐसे लगे,

मानो खिलौने-से हों—स्वच्छ, सुशोभित और सुविधापूर्ण। केसीनो में गये। इसका इतिहास अद्भुत है। इसके कारण यह निर्जन पत्थर तर गया। रौनक और स्थापत्य भी प्रभावित करने वाले हैं। जुआरी-खाना देखा। वहाँ जुआ खेलते हुए लोगों के मुख पर राक्षसी दृढ़ता दिखलाई पड़ी। एक स्त्री, वेटर के निकट बैठकर जुआ खेलना सीख रही थी। एक दाढ़ी वाला जुआ खेलने वाला पागल-जैसा दीखता था। एक हठीली बुढ़िया होंठ दबाकर खेले ही जा रही थी। हम उकता गए। हम कुछ खेलने के लिए निश्चय करके गये थे, पर नहीं खेल सके।

कला और सुख के समागम से विलास उत्पन्न होता है। जब विलास में से सुख चला जाय और कलामयता में से भावना चली जाय, तब जो अधम विलास-वृत्ति बच रहे, उसका महामन्दिर यह मोण्टेकार्लो है। यूरोप की संस्कृति का यह एक प्रदर्शन। यहाँ पैसे का···और अधम वासना का पोषण होता है—और कुछ नहीं। का सौन्दर्य देखने की वृत्ति भी किसी में नहीं है। विचार हुआ—विलास-वृत्ति का विकास कहाँ तक मनुष्य के लिए आवश्यक है? क्या वैराग्य और विलास-वृत्ति एक ही विषय में रह सकती है?

२३ मई। पर्वत के शिखर पर से मोनाको और मोण्टेकार्लो बहुत सुन्दर लगे। नीस देखा। रिवियेरा बोट में गये। मोनाको का बन्दरगाह देखा। मैं गम्भीर हो गया। भावनाओं को एकत्रित करने के प्रयत्न—नये प्रयत्न—नये जीवन के स्वप्न। वृत्ति और उसे जीतने का विग्रह। रात को चाँदनी में घूमने गये और स्थान का सौन्दर्य हृदय में उतारा। विसंवाद दूर करने का प्रयत्न सफल हुआ। सब एकतान हो गए। छोटे आत्मा और बड़े आत्मा, इन दोनों के बीच एकता पैदा करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। साथ में यह एक है, इस भान को सतेज रखने की आवश्यकता।

२४ मई। मोण्टेकार्लो को नमस्कार। मार्सेल्स के मार्ग से

अन्तिम यात्रा।

रात को लक्ष्मी ने और मैंने बक्स भरकर ठीक किये और लीला को मदद करने के लिए मैं उसके कमरे में गया। हम बड़ी देर तक कुछ न बोल सके। बक्स बन्द हो गए। हम एक-दूसरे की ओर देखते रहे। आँखें आँसुओं से भरी थीं।

"कह डाल" लीला ने वेदना के आवेश में तुनककर कहा। मैंने हिचकी भरी। 'स्वप्न पूरा हुआ।' हमारे हाथ मिले 'अब जाग पड़ें, मुर्गा बोला।' लीला का हाथ झटककर मैं लौट आया।

दूसरे दिन पी० एण्ड ओ० के स्टीमर 'कैसरे हिन्द' में रवाना हुए। इस स्टीमर का डेक ऐसा था, मानो चौपाटी। इतने में परिचित लोग मिल गए। लक्ष्मी को उषा, लता की याद आई। मुझे अपने रोजगार की याद आई और आगे आ रहा वियोग कंटकित करने लगा। लीला क्रोधित बाघिन की तरह स्टीमर पर अकेली घूम रही थी। नोट-बुक इतना ही कहती है।

> **'कैसरे हिन्द' पर सवार हुए। यूरोप समाप्त हो गया, बोट पर···मिले। 'राजाधिराज' लिखा।**
>
> **४-६ जून। गीता का पारायण किया। नई भावना और नये तप की तैयारी। अविभक्त आत्मा के उद्धार की कहानी।**

छठी जून को बम्बई पहुँच गए। सब लोग लेने आये थे। लक्ष्मी ने लता को ले लिया; मैंने उषा को। और पिता तथा माता के प्यार में बच्चे कल्लोल करने लगे।

लीला के मुख पर की वेदना को मैं समझ गया। परन्तु यह तो बम्बई थी।

७

वेदना का प्रारम्भ

त्रिकोण होते ही वेदना का संचार हुआ था। प्रेम के आवेश में मैं समझता था कि योगसूत्र के उपयोग से, इस त्रिकोणात्मक परिस्थिति में, मैं ऐसा सरल मार्ग निकाल लूँगा, जैसा किसी ने नहीं निकाला। यह मेरी मूर्खता थी। उस समय मैं यह समझता था कि प्रणय को मैं साहित्य-सहधर्मचार और कल्पना में रख सकूँगा और दाम्पत्य-जीवन को भी वैसा ही विशुद्ध रखूँगा, जैसा वह था। अभिमान में, भावनगर से लक्ष्मी को एक पत्र लिखा—

आज कई दिनों से बातें करना चाहता हूँ, समय नहीं मिलता। माताजी बातचीत नहीं करती हैं और न करने देती हैं, और तुम्हारे मस्तिष्क पर व्यर्थ का बोझ-सा रहा करता है।

मैंने तुमसे जुदाई कभी नहीं समझी। किसी भी दिन, अपने हाथों जान-बूझकर दुःख नहीं दिया। और तुम्हें दुःख हो, इसकी अपेक्षा मैं खुद दुःख सहूँ, यह मुझे अच्छा लगेगा।

तुम पर मेरा पूरा विश्वास है। मैंने शुद्ध हृदय से तुमसे बातें करने की रीति रखी है और वही रखना चाहता हूँ। मुझे तुम्हारी चोरी से या छिपाकर कुछ नहीं करना है। इसकी अपेक्षा मैं तुमसे गिड़गिड़ाकर माँग लूँ, तो तुम कभी इन्कार न करोगी, ऐसी तुम शुद्ध-हृदया हो। तब फिर मैं छिपाऊँ किसलिए?

लीला बहन शौकीन हैं, साहित्य-रसिक हैं, उनके पास बैठकर आकाश-पाताल की गप लड़ाने में मज़ा आता है। इनके अनेक गुण और खूबियाँ आकर्षक हैं, यह तो तुम जानती ही हो।...

इसमें वहम या शंका की क्या बात है ? अन्य स्त्रियाँ आकर्षक लगें, तो उन्हें बहन का रूप देने में ही सुख है। उस लीला बहन को बहन का रूप दिया है।

जो फौज उनके आस-पास घूमती है, उसमें मैं कभी न घूमूँगा। परन्तु यदि विशुद्धता के साथ, निर्दोष रहकर, उनके साथ बन्धुत्व रहे, तो मैं रखना चाहता हूँ।

मैं भावनगर गया और लक्ष्मी के हृदय के भाव खुले। उसकी टूटी-फूटी भाषा में आवेश आ गया।

आपकी कीर्ति सुनकर मुझे कितना आनन्द मिलता होगा ? केवल चिन्ता एक ही है। कब तक उर्वशियाँ (आप पर) रीझेंगी, प्रसन्न होंगी ? उनके लिए मुझे कब तक कितने व्रत करने पड़ेंगे ? कितनी रातों जागरण करने पड़ेंगे ? बड़े परिश्रम से दस वर्ष तप करके मैं अपने घनश्याम को खोजकर लाई थी। अब फिर दस वर्ष बाद मुझे मिलेंगे, या जल्दी ? उर्वशी तो ज्यों-त्यों करके चली जायगी, पर उर्वशों को निकालना तो कठिन ही पड़ेगा। जूनागढ़ से...जैसे युवराज को न लाइएगा। कारण, कि पिताजी ठीक न समझें, तो बड़ी कठिनाई होगी। वहाँ भाषण सुनने तथा देखने को बहुत से पुत्र तैयार होंगे ही।

जगदीश, उषा आपको बहुत याद करते हैं। छोटी बच्ची की राशि मिथुन है—जो आपकी है। इसलिए क्या नाम रखा जाय, यह लिखिएगा। हमने कोकिला, कीर्तिदेवी, कमलादेवी और कला यह पसन्द किये हैं। स्वास्थ्य का ध्यान रखिएगा। (८-१२-२२)

मैंने उत्तर दिया—

तुम्हारा स्थान सबसे जुदा, ऊँचा और स्पर्श न किया जा सके,

ऐसा है। मेरी लहरी दुनिया में, सम्भव है, तुम प्रवेश न कर सकी हो, ऐसा तुम्हें लगता होगा। परन्तु अपने जीवन की रचना में तुम्हारे सुख और सन्तोष को मैंने आगे रखा है···जिस दिन तुम कहोगी कि इसके साथ इस प्रकार व्यवहार न रखा जाय, उस दिन उसी क्षण, तुम्हारी बात का, मैं कैसा भी दुःख उठाकर पालन करूँगा। उर्वशी से घबराने का कोई कारण नहीं है। मेरे हृदय में एक प्रकार का पागलपन है, उसे तुम समझ नहीं सकीं। उस पागलपन को मैंने कठोर और निर्दय प्रयत्न से दूर-दूर ही रखा है। केवल मेरी कहानियों में ही दिखलाई पड़ता है, वह किसी को देखकर ज़रा-कुछ समय के लिए फूट पड़ता है। इस समय मेरा मस्तिष्क ऐसा सबल है कि तुम यदि कहोगी कि इस प्रकार का पागलपन मैं बन्द कर दूँ, तो मैं तनिक भी बाधा नहीं डालूँगा।

उर्वशी से भी मैंने एक बार कहा था कि तुमसे छिपाकर या तुम्हारे बिना मैं कोई भी सम्बन्ध नहीं रख सकता।

बच्ची का नाम क्या रखा जाय यह लिखूँगा। कल्पलता कैसा लगता है? (१२-१२-२२)

लक्ष्मी ने उत्तर दिया—

आपके विलायत जाने का क्या हुआ? आपके स्वास्थ्य के लिए मेरा जी बहुत अधीर है, इसीलिए मुझे लिखना पड़ता है। आपसे मिलने को लोग आते और जाते होंगे, इससे सोने को समय न मिलता होगा। शरीर को अच्छी तरह सँभालिएगा।

लक्ष्मी को किसी के आगे हृदय खोलने की आदत नहीं थी। उसकी कोई सहचरी नहीं थी। मेरे जीवन-परिवर्तन से वह अकुलाती थी और उस पर एक आत्मकेन्द्रित कवि की निर्दयता से, बड़ौदे से आते ही मैंने उससे सब कह दिया, इस कारण उस पर आकाश ही टूट पड़ा। मैं अधिक अनुभवी और सशक्त था और निर्णय करना मेरा कर्तव्य था। परन्तु उस समय मुझे आत्मश्रद्धा थी कि गंगा को जटा में धारण करके, पार्वती के साथ

जैसा सुख था, वैसा मैं भोग सकूँगा। इसके लिए नाग की फुङ्कारें, कण्ठ में विष और शरीर पर भस्म सहनी और लगानी होगी, इसका भान नहीं था। तीन दिन तक विचार करके निर्णय करने का भार मैंने क्रूरता से इस बेचारी पति-प्रेमिनी पर डाल दिया। वह किससे पूछे? यदि वह 'नहीं' कहे, तो मैं दुखी हो जाऊँ और उस पर से मेरा विश्वास उठ जाय, यह उसे भय था। उसके मन में यह होगा कि लीला चंचल चित्त की है, इसलिए कुछ समय में जुदा हो जायगी? चाहे जो इसमें कारण हो, परन्तु अप्रतिम भक्ति से प्रेरित होकर उसने लीला की और मेरी मैत्री, जो मूलतः स्पष्ट रूप में प्रेम था, उसने स्वीकृत कर ली।

परन्तु इस घटना से, मैं दूर खड़े देवता के बदले बालक पति बन गया। वह अधीर होकर मुझसे चिपट गई। मैं उसकी भक्ति और आत्म-त्याग से दीन बनकर, ऐसा व्यवहार करने लगा कि उसमें ज़रा भी न्यूनता न आने पाए। विलायत जाना भी उसने प्रसन्नता से स्वीकृत कर लिया। इसमें भी उसकी एक मसलहत थी। वह न चले, तो मैं न जाऊँ और इससे मेरा इच्छित आनन्द नष्ट हो जाय, यह उसे बहुत खला। आत्म-समर्पण की सीमा लाँघने को वह बैठी थी। भड़ोंच से उसने पत्र लिखा—

विलायत जाने की बात माताजी (मेरी माताजी) को बहुत दुखी कर रही है। मैं यहाँ पहुँची और तुरन्त यह बात चल पड़ी। माता जी और नानी बाई दोनों रो पड़े, कारण कि समुद्र से होकर जाना, वहाँ युद्ध चल रहा है और बच्चे यहाँ। यह सब उन्हें समझ नहीं पड़ रहा है। दो दिन हुए, उन्हें बातें समझाई हैं। आज चित्त शान्त हुआ। माताजी तथा नानी बाई पिछले आठ दिनों में आएँगी और २६ तारीख को बच्चों को लेकर फिर लौट जायँगी, यह निश्चय किया है। माताजी को बहुत दुःख हो रहा है; पर मैं आपकी सेवा और रक्षा के लिए चल रही हूँ, इसलिए अच्छा है और उनकी चिन्ता कम हो गई है।

दिन-रात जहाँ भी घूमती हूँ, घनश्याम मेरे साथ ही रहते हैं।

भाई खोजने बैठती हूँ, तब भी आप आ पहुँचते हैं। जहाँ जाती हूँ, वहाँ आपकी परछाईं दिखाई पड़ती है। क्या आपने मुझे इतनी निर्बल बना दिया है? कल बम्बई के मेहमानों को लेकर कुरसियों के पास गई तब, महारुद्र गई तब, सब जगह कृष्ण के समान ही दिखलाई पड़े। क्या इस गाँव में कृष्ण के सिवा दूसरे देवता पूजे ही नहीं जा सकते? कृष्ण! तुम क्या कर रहे हो? यह सब इतनी अधिक आशाएँ खड़ी करके दुखित तो नहीं करोगे? अभी तक तुम मुझ अकेली के थे; पर अब नहीं रहे हो, ऐसा मालूम होता है। निद्रावस्था में भी रोज पकड़ने को आना पड़ता है। मन कुछ निश्चय ही नहीं कर पाता। प्रियतम, फिर पन्द्रह-सोलह वर्षों पहले वाली दशा हो गई। क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? किससे कहूँ? मुझे किसी भी प्रकार सूझ नहीं पड़ती। आपके सिवा किसी को देखा नहीं और देख भी न सकूँगी। बहुत हो गया। न कही जाने वाली बातें कह जाती हूँ।

प्रियतम, दया करके अच्छी तरह सोना सीखिए। अब नींद आती है, या नहीं? इस समय क्या कर रहे हैं? मुन्शी सबके, कृष्ण सबके, भाई सबके, तब मेरे क्या हो? (३०-१-२२)

मैं समझता था कि लक्ष्मी मुझे अनुकूल करने के लिए, दो मास की कल्पलता से पीछे बिठाने को तैयार हो गई है। इसलिए यह पत्र मेरे हृदय को बेध डालते और पढ़ते-पढ़ते मेरी आँखों में आँसू भर आते। अपनी बेढंगी अवस्था से मैं व्याकुल था। कहीं ऐसा न हो कि दोनों में से एक भी सम्बन्ध मेरे हाथ से निकल जाय—इस भय से मैं क्षण-क्षण काँप उठता था। मैंने उत्तर दिया—

तुम अधीर किसलिए होती हो? किसी का कुछ भी हो, परन्तु तुम्हारा पहले होगा, फिर और सबका। पार्वती ने तपस्या करके शरीर को सुखा डाला था, तब शंकर मिले थे। उसी प्रकार तुम अपने प्राप्त हुए शंकर की गोद में सदा शोभित रहोगी। इतने दिन

बीत गए; पर तुम पहले से भी अधिक प्रिय होती जा रही हो। इस बार तुम गईं, तब से पहली बार ही यह घर ऐसा खल रहा है। अकेला—सूना-सा लगता है।

पत्र के पीछे भी कुछ लिख रहा हूँ—

तुम घबराना मत। तुमसे कोई क्या कह सकता है.....मैं नहीं हूँ? तुम घबराओगी, तो जब थक जाऊँगा, तब किसके पास जाऊँगा? (१-२-२३)

मैंने और भी लिखा—

हमारा सुख तो हमारा ही है। कोई ले नहीं सकता और कोई अधिक दे नहीं सकता। सुख हम दोनों के बीच ही मिलेगा। मेरे और तुम्हारे बीच भाव और विश्वास है, त नियं झक मारेगी। (३-२-२३)

पार्वती और गंगा को साथ रखने की बा सरल थी; परन्तु उनका साहचर्य कठिन मालूम होने लगा।

भड़ोंच से लक्ष्मी ने लिखा—

आपकी ओर से कोई पत्र नहीं आया, अतएव चिन्ता हो रही है। कृष्णजी काम में लगे हैं, या किसी बहन की सहायता को गये हैं? जब दुःख पड़ता है, तभी भक्ति पैदा होती है। मेरा भी यही हाल है। मेरा घनश्याम मुझे रात को सोने भी नहीं देता। सचमुच आपकी भक्ति के सिवा इस जीवन में कुछ भी न कर सकूँगी! आपको जो अच्छा लगे कीजिएगा, जहाँ इच्छा हो जाइएगा। परन्तु दिन में एक बार तो अपनी सेवा करने दीजिएगा। आपको ऐसा लगता होगा कि ब्याह-शादियों में घूमकर मैं मजा कर रही हूँगी। हाँ, मजा करती हूँ, घूमती हूँ, खाती हूँ। क्यों न करूँ? हँसकर बात करना मेरा कर्तव्य है। छुटपन से यह कर्तव्य पाला, तो अब क्यों न पाला जाय?

विलायत जाने से पहले कुछ निश्चय करने पड़ेंगे.......मुझे कैसा

बरताव करना चाहिए, यह निश्चय कर रखिए। कर्तव्यवश कोई भी काम करने की शक्ति है। जड़ भरत की तरह हो गई हूँ। सुख और दुःख की अब मुझे परवाह नहीं है। मेरे लिए आपको दुखित नहीं होना चाहिए। मेरी एक ही माँग है। यदि मुझ पर दया आती हो, तो अपने शरीर को सँभालिएगा। आपकी तबियत देखकर मेरा कलेजा जल उठता है। मैं सुख की भागी नहीं हूँ। अपने हृदय को जलाकर, मेरे सुख की परवाह न कीजिएगा। आपको सुखी देखकर मैं सुखी होऊँगी। भक्ति से जीवित रही हूँ, भक्ति करके ही जीवित रहूँगी।

मन को ठिकाने रखते हुए भी बहुत लिख गई हूँ। क्षमा करते आये हैं, इसलिए क्षमा करना। जब आपका शरीर चंगा देखूँगी, तब चैन मिलेगा। क्षमा कीजिएगा।

लक्ष्मी बम्बई आई और हम यात्रा की तैयारी करने में लग गए; इसलिए उसे घूमने-फिरने का उत्साह आ गया। उसे ऐसा लगा कि मेरा विलायत जाने का पागलपन पूरा हो जायगा, तो सब ठीक-ठिकाने लग जायगा। मुझे ऐसा लगता कि विलायत हो आऊँगा, तो मेरे हृदय के एक पागलपन को सन्तोष मिलेगा और फिर सब ठीक-टाक हो जायगा।

बम्बई से रवाना होने पर, वहाँ से पेरिस तक हमने बड़ी मौज की। परन्तु पेरिस में बम्बई के मित्र मिले और घर के समाचार मालूम हुए, इसलिए लक्ष्मी को बच्चों की चिन्ता होने लगी। साथ ही उसके हृदय में बड़ा भय समा गया। उसने समझा था कि अधिक परिचय से मैं लीला की मैत्री से उकता जाऊँगा और वह मनमौजी है, इसलिए मेरी मैत्री त्याग देगी। परन्तु ज्यों-ज्यों हमारी मैत्री गाढ़ी होती वह देखती गई, त्यों-त्यों उसकी यह आशा जाती रही। पेरिस में, एक दिन उसने एक पद के शब्दों को बदलकर अपने हृदय के भावों को व्यक्त किया था।

कानुड़े न जाणी मारी प्रीत।

(अर्थात् —कान्हा ने जानी नहीं मोरी प्रीत)

आवी पड़्युं स्हेजे सहेवुं,
प्रीतनी आशाए रहेवुं,
अजब ए प्रीतनी रीति।—कानुड़ा—

(अर्थात्—जो सिर पर आ पड़े उसे सरलता से सह लेना होगा,
प्रीति की आशा पर ही रहना होगा,
इस प्रीति की रीति अजब है।)

× × ×

दुःखड़ा सौ भूली जईश,
माथे पड़्युं स्हेजे सहीश,
वहाला मानजे प्रीतनी ए रीत!—कानुड़ा—

(अर्थात्—सब दुःखों को भूल जाऊँगी,
जो सिर पर आ पड़ेगी उसे सहज ही सह लूँगी,
प्रियतम, इस प्रीति की रीति को समझ लेना।)

(२०-५-२३)

यह कविता मैंने पढ़ी। उसका दुःख देखकर मैं भी रो पड़ा। वह भी खूब रोई। हमने एक-दूसरे से गले लगकर रात बिताई, मानो एक-साथ रहने से डूबते बच जायँगे।

लन्दन दौड़-भाग में ही निकल गया। 'कैसरे हिन्द' पर भी तबियत उचटी रही।

बम्बई आई और प्राणों ने उग्र रूप धारण कर लिया।

मैं तीसरी मंजिल पर, लीला सबसे नीचे और बीच में अन्तरायों का सागर लहराये। केवल पत्रों द्वारा एक वेदना-भरी दृष्टियों के आश्लेष में अपना सहजीवन हम बनाये रहे। ६ जून को 'कैसरे हिन्द' से उतरते ही लीला ने मुझे पत्र लिखा—

तुम्हारे भव्य-सुन्दर-स्वप्नों में हिस्सेदार होने का निमन्त्रण मैं सहर्ष स्वीकृत करती हूँ। प्रभु की भाँति मेरे लिए तुम सर्वस्व रूपों

में प्रकट होने के लिए ही सर्जित हुए हो·······तुम्हारे उड्डयन उच्च हैं। तुम्हारे परों पर बैठकर आकाश को नापने की लालसा है। ऊँचे चढ़कर मुझे चक्कर आ जायँगे, तो तुम्हारी संरक्षक-शक्ति में मुझे विश्वास है। दिशा और काल के पार देखने का प्रयत्न कर रही तुम्हारी दृष्टि में मुझे कैसे-कैसे दिव्य दर्शन होंगे?

इस प्रकार साथ-साथ गुजरात को नये संस्कारों से मढ़ने की हमारी महेच्छा थी; परन्तु वास्तविक जगत् इस महेच्छा को पचा ले, ऐसा पागल नहीं था। दूसरे ही दिन लीला ने फिर लिखा—

आपकी तबियत ठीक नहीं है, यह मैं देख रही हूँ। साथ रहकर छोटी सेवाएँ मैंने किसी दिन नहीं कीं।

परन्तु, भाई, मेरे जीवन का आधार तो आप ही पर है। आपकी तबियत बिगड़ जायगी, या और कुछ हो जायगा तो मुझसे खड़े न रहा जायगा। ऐ भाई, सँभालिएगा। नहीं तो युद्ध-क्षेत्र में भिड़ना है, वहाँ कैसा होगा?

आप साथ थे, तब दुःख देते रहे। अब यह दुःख देने की आदत घड़ी-घड़ी दुःख देती है।

लीला ने मेरा दुःख देखकर लिखा—

मुझे त्याग क्यों नहीं देते। मैं तुम्हारी होऊँ तो मुझे दुःख देने का भी तुम्हें अधिकार है—वैसे ही, जैसे राम ने सीता का त्याग किया। (९-६-२३)

फिर लिखा—

आज तुम कैसे दुखी दिखाई पड़ रहे थे? हम ऐसे मिथ्या जगत् में रहते मालूम होते हैं कि सत्-असत् समझ में नहीं आता। परन्तु निराश न होना। इससे तड़प-तड़पकर मौत आएगी, सच्ची मौत से भी बुरी। (१०-६-२३)

मैंने तीसरी मंजिल से नीचे पत्र लिखा—

दो दिनों से तबियत सुधर गई है। मस्तिष्क स्वस्थ होता जा

रहा है। कुछ दिनों में ध्यान आरम्भ करूँगा। जप चल रहा है। पार्वती अभी ठिकाने नहीं है। क्लास में मैं ऐसा लगता हूँ, मानो मेहमान हूँ.........कई बार रोने को मन होता है।

फिर जीजीमा, लक्ष्मी और बच्चे भड़ोंच में प्रायश्चित्त करने की तैयारी करने को गये। फिर मैं गया—उग्र संकल्प करता हुआ। लीला पालीताना की यात्रा को गई। भड़ोंच जाकर लौटने तक के सब विचार मैंने पत्र में लिखे—

शुक्रवार को भावनगर की यात्रा के बाद, पहली बार, फर्स्ट-क्लास के डिब्बे में अकेला सोया। सोते ही स्वप्न दृष्टि के आगे आ गए। कितने युग उदय और अस्त हुए? मैं बिलकुल नये स्वरूप में आया.........निराशा में भी आशा के रंग फूट पड़ते हैं.........बिलकुल सवेरे नर्मदा आई। जैसे पो, टाइबर, सीन और टेम्स देख रहा हूँ, ऐसा लगा। मैं उसे तुम्हारा परिचय कराने लगा। रेवा मानो मेरी बहुत पुरानी सहचरी है। उन्हें तुम्हारा परिचय कराये बिना क्या रहा जा सकता है?

घर गया। अतिलक्ष्मी आदि सब प्रसन्न हैं। ब्राह्मण लोग जरा ऐंठ गए थे, उन्हें सीधा किया। इतने में सूतक पड़ गया, इसलिए प्रायश्चित्त आगे बढ़ गया। बेचारे मेरे-जैसे अर्वाचीन ब्राह्मण की कैसी परिस्थिति है?

घर बहुत अच्छा बना है। हवा और प्रकाश, रेवा के दर्शन, अस्पर्श्यता, सब-कुछ मिल सकता है। मित्रों और सगे-सम्बन्धियों से मिला। कुछ अंश में मेरे गुण, कुछ अंश में पैसा—ऐसे कारणों से इनके हृदय उभरे पड़ते हैं। यह मेरी पुरानी दुनिया है। एक ओर उसकी और दूसरी तरफ अतिलक्ष्मी की और मेरी संस्कारिता के बीच कितना फेर पड़ता जाता है?

सन्ध्या समय नदी पर घूमने गया। मैं इस नदी के साथ बात-चीत कर सकता हूँ.........नदी पर आश्रय के लिए एक जगह ले

रखी है। वहाँ खड़े-खड़े भी कुछ नये विचार आये। नये क्रम के आस-पास जीवन गढ़ता जा रहा है और भावना की सिद्धि सरल मालूम होती है।

तुम्हारे साथ रहकर मुझमें बहुत से परिवर्तन होने लगे हैं। तुम में परिवर्तन होते हैं, तब तुम चिढ़ती हो। मुझमें परिवर्तन होते हैं, तब मैं उनका स्वागत करता हूँ। यदि पुरुष तुम्हें गढ़ना चाहे, तो तुम्हें बुरा लगे और यदि स्त्री तुम्हें गढ़ना चाहती हो, तो उसे आनन्दवाहिनी—स्वर्गीय—कहा जाय।

पिछले तीन महीनों में मैं इतना (irritating) बुरा, खिझाने वाला न लगा होता, तो कितनी प्रगति होती और कितना समय बचता?

(ट्रेन में) जीवन में अजब शान्ति छाई हुई है। या तो यह प्रयत्न की प्रेरणा करती है, या अस्वस्थ निर्बलता में विराम पा जाती है। वशिष्ठ, याज्ञवल्क्य, व्यास, अरुन्धती, मैत्रेयी—कैसे-कैसे बड़े आदर्श हम साथ रखते हैं? परन्तु इन्हें हम कलंकित कर बैठें तो?

ऐसे गम्भीर और स्वस्थ रूप में लिखना दुःसह हो पड़ता है। कभी-कभी जोर से चिल्ला पड़ता हूँ। कभी कलम फेंकने को मन होने लगता है। पेरिस के कब्रस्तान में सात सदियों से विकट व्रत का पालन कर रहे युगल का स्मरण होता है। कुछ भी हो, परन्तु तपोमय विचारों में आश्वासन है। नहीं तो, जीवन भयंकर लगे। मेरी तबियत अब ठीक है। ठंडे पानी से नहाना शुरू कर दिया है। पान खाना छोड़ दिया। मसाला भी छूट जायगा। अब, जब-तब मौन पालन करना है—परन्तु तुम्हारे साथ नहीं। तुम क्या कर रही हो? हमारा प्रयोग और जीवन-क्रम कुछ विचित्र, कुछ नया लगता है। हमने उसमें प्रत्येक समय कुछ अजब-से बल दिये हैं। बल सीधे हैं या नहीं, यह भविष्य जाने। तुम्हें क्या लगता है? हमने जो मेहनत की है और जो-कुछ हमने सहा और सँभाला है, उसकी

तुलना नहीं हो सकती। अभी-अभी तुम्हारी काश्मीर की डायरी पढ़ी है।[1] मुझे वास्तविक असल देखनी है। कोई बाधा न हो, तो दिखाना। तुम कैसी भयंकर स्त्री हो, इसका कुछ आभास होता है। तुम्हारा पूछा हुआ एक प्रश्न सुन्दर मालूम हुआ—"जीवन का उद्देश्य कहीं खोजे मिल सकता है? अँधेरे में कितना समय बिताना पड़ेगा?" तुम अद्भुत हो। काश्मीर के रमणीय अकेलेपन में प्रकाश के लिए भटकती बालिका! इसे कब प्रकाश मिलेगा? फिर कुछ दिनों पहले का पत्र पढ़कर विश्वास कर लिया। यह दोनों मनुष्य क्या एक ही हैं?

(बम्बई आकर) यह नोट-बुक कुछ परिवर्तन करके छप जाय, तो बड़ा अच्छा हो। इसे क्रम से प्रकाशित करने की योजना बना रहा हूँ। रात को जब अपने घर बम्बई आया, तब यह आशा की थी कि तुम पीछे कोई सन्देश रख गई होगी। कैसी मूर्खता थी? सुना कि आज तुम पालीताना जाओगी। एक विचार आया। हमने बहुत सी वस्तुओं की समानता देखी, पर एक समानता कल ही दिखलाई पड़ी। हम लोग लगभग निरीश्वर हैं और फिर भी दोनों के हृदयों में आदर्शमयता का वहन होता रहता है और इतना ही नहीं, वैदिक ऋषि की भाँति हम प्रकृति-पूजक भी हैं। समुद्र के देवता को हम नहीं मानते, समुद्र को ही देव मानते हैं। उसी प्रकार हिमवान शिखर को हर्डर कुलम में पूजते हैं। सरोवर से हमने व्यक्तिगत सम्बन्ध कर लिया। नदी और वर्षा भी हमारे मित्र हैं। मनुष्य-देह को हम गौरव और विशुद्धिमत्ता अर्पित कर सकते हैं। यह प्रकृति-पूजा का अस्तधारण धर्म ऐसा है, जिसका पालन वैदिक आर्य और प्राचीन ग्रीक करते थे। हम यह स्पष्ट नहीं देख सके; मुझे ऐसी आदत थी ही, आज तुम्हारी काश्मीर की नोट-बुक पढ़कर समानता स्पष्ट हो गई। लगभग वशिष्ठ मुनि

---

१. 'गुजरात' में और संगृहीत कृतियों में छपी है।

के आश्रम में पहुँच गए हैं।....और यह वरुण का महापूजक है। "असुर वरुण" महान् तेजस्वी व्योम है। अब मैं सो जाता हूँ, नहीं तो अरुन्धती उकता जायगी। कुछ भी हो, परन्तु जीवन में उत्साह तो मालूम होता ही है। ऐसा उत्साह कुछ वर्षों बनाए रखें, तो कितना अच्छा हो! रहेगा, मज़ाक नहीं है।

स्वराज्या-पार्टी की ओर से विधान-धारासभा में जाने का निमन्त्रण आया था। क्षण-भर के लिए मन हुआ, पर दूसरे ही क्षण अपना क्रम याद आ गया और इन्कार कर दिया। थोड़ा-सा परिश्रम करूँ, तो जा सकता हूँ और हो सकता है कि प्रधान पद भी मिल जाय? क्या करूँ? दुनिया में इसकी भी अपेक्षा बहुत सी वस्तुएँ बड़ी और आकर्षक हैं। विभाकर को निकाल देने के लिए स्वराज्य-पार्टी प्रयत्न कर रही है।

आज सर चिमनलाल सीतलवाड़ ने बुलाकर बातें कीं। ये लिबरल-दल की पुनर्व्यवस्था कर रहे हैं। मुझे दबाव डालकर शामिल होने को निमन्त्रित किया। उन्होंने बताया कि वे मुझ पर आशा बाँधे हुए हैं। ऐसा लगता है कि इस समय मेरा मूल्य कुछ बढ़ गया है। मैंने न हाँ कही, न ना कही। भय का कारण नहीं है। जरा विचार करना।

'मार्गोट एस्क्विथ' वाला लेख कहाँ रख दिया है? प्रेस वाले चिल्ला रहे हैं। 'यात्रा-वर्णन' में तुम आ गई हो। जो लिखा है, उसकी नकल कराके अनुमति के लिए भेजूँगा।

पालीताना से लीला ने साहचर्य में कीर्ति प्राप्त करने के स्वप्न और स्त्रियों के स्थान के विषय में पत्र लिखा।

मैं बम्बई आया और 'अविभक्त आत्मा' (नाटक) लिखने लगा। उसे चार-पाँच दिन में समाप्त कर लिया।

यह हमारी प्रणय-गाथा ही है। मैंने लिखा—

इतने दिनों से नाटक के पीछे पागल था, इसलिए सूनापन कम मालूम हुआ। हम दोनों का पुनर्जन्म हुआ है। कल मिलान के मन्दिर का चित्र देख रहा था। हम ऊपर गये थे, यह याद आया। कैसा अच्छा लगता था! संस्कार ताजे हो गए। वह पराकाष्ठा मालूम होती थी। फिर कितनी पराकाष्ठाएँ हो गईं? एक शिखर पर चढ़े कि उससे भी ऊँचे शिखर दीखने लगे। मनुष्य की महत्त्वाकांक्षाओं का कुछ पार है?

तुमने यह लिखा था कि ध्येय-सिद्धि करते हुए निस्त्रैगुण्य बन जाना चाहिए। मान लो कि अरविन्द घोष की तरह सहसमाधि में रहें तब? परन्तु यह सही है कि दोनों में से एक को भी, अपने स्वार्थ के बड़प्पन में अलग होकर यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वह आगे बढ़ गया है। कहीं भी जायँ, परन्तु घड़ी के पेण्डुलम की-सी 'हर्डर कुल्म' की मनोदशा होनी ही चाहिए।

(रविवार प्रातः) रात को ताजमहल के डिनर में गये। घर में कुछ बादल छाए हैं। इस समय निराशा पैदा हो रही है। सारा प्रयत्न छोड़कर, सिर झुकाकर, समुद्र को सिर पर आ जाने दूँ, तो अच्छा—ऐसा मन होता है।

दूसरे दिन फिर उत्साह आ गया।

गुजरात के अच्छे-से-अच्छे संस्कारों और साहित्य को जीवन में समाविष्ट किया जाय, शरीर और जीवन की ऋजुता का तप से संरक्षण किया जाय, किसी भी दृष्टि-बिन्दु से आकर्षित न होकर, अपनी भावना को स्पष्ट दिखलाने वाली व्यवसायात्मिका बुद्धि उत्पन्न की जाय। फिर वशिष्ठ और अरुन्धती के आत्मा को ॐकार समझकर उसे 'सर्व कर्म'-संन्यस्त किया जाय, जो हो जाय, वही ठीक है।

मैं 'यात्रा-वर्णन' (अनुत्तरदायित्वपूर्ण कहानी) के प्रथम परिच्छेद में तुम्हें लाया हूँ। मैंने नकल कराई है। मिलते ही भेज

दूँगा। कुछ कृपा-दृष्टि हो तो पहले ही से मुझे क्षमा कर देना। मैंने एक वैदिक नाटक लिखना आरम्भ किया है। तुम स्वस्थता से, चित्त लगाकर पढ़ सको, तो मैं तुम्हें इनाम दूँ। अभी नहीं लिख रहा हूँ; तुम आओगी, तब लगभग तैयार हो जायगा। अच्छा बन पड़ेगा, तो प्रकाशित कर दिया जायगा।

नई राजनीतिक पार्टी में (स्वराज्य-पार्टी में) शामिल नहीं होना है—बिना तुम्हारी अनुमति के। रुपया भी इकट्ठा करना है।

'मार्गोट एस्क्विथ' वाला लेख कहाँ है? उसके बिना 'गुजरात' रुका पड़ा है। कल फ़्लोरेन्स की याद आ गई।....ट्रेन में शैली पढ़ रहे थे तब से लेकर मुझे बुखार हो आया था। अर्ध-जाग्रत अवस्था में स्वप्न देखा। इस समय फ़्लोरेन्स दिमाग में बसा है। एक बात सही है। तुम न होतीं तो मेरी व्यवसायात्मिका बुद्धि निर्मल न रह पाती। यूरोप और अपना रोजगार और विसंस्कारी संसर्ग मुझे न जाने कहाँ ले जाते। राजनीतिक प्रवृत्तियों के कीटाणु अभी कुलबुला रहे हैं। इस समय दाँते की 'डिवाइन कॉमेडी' पढ़ रहा हूँ। बिएट्रीस उसे हाथ पकड़कर स्वर्ग ले जा रही है।

इस प्रकार हम सब बम्बई लौट आए; इसलिए सपनों के रंग जीवन में से उड़ने लगे।

मेरे जीवन-क्रम ने धीरे-धीरे विचित्र रूप धारण कर लिया। मैं सवेरे थके शरीर और दुखते सिर को लेकर उठा करता। ज्यों-त्यों एकाग्रचित्त होकर ब्रीफ़ें पढ़ता। भोजन करके नीचे उतरने पर, बरामदे की गेलेरी में लीला बैठी दिखलाई पड़ती। वह 'गुजरात' के लेख देती और साथ में एक पत्र। मोटर में पत्र पढ़ता हुआ कोर्ट जाता। ११ से ५½ तक मुकदमों की पैरवी करता। बीच में चाय पीने के समय, या पैरवी के बीच में जवाब लिखता। सन्ध्या समय सोलिसिटरों के साथ, कॉन्फ्रेन्स और प्रेस के मैनेजर या विद्वानों के साथ चर्चा में लगा रहता। साढ़े सात बजे लक्ष्मी बुलाने को आती।

पौने आठ बजे लीला के दीवानखाने में पाव-आध घण्टा 'गुजरात' की तैयारी करने में जुट जाता और प्रतीक्षा कर रहे चित्रकार या लेखक को सूचना कर देता। चलते-चलते लीला के हाथ में, दृष्टि-मात्र से अवर्णनीय एकता का अनुभव करके, अपना पत्र रख देता और उसाँस लेकर ऊपर चढ़ आता।

जब मैं निर्बल हो जाता हूँ, तब योग का कार्य-क्रम आरम्भ कर देता हूँ। वही इस बार भी किया। उसके पत्र भी मेरे सामने पड़े हैं।

मैंने 'देव-पूजन'[1] की व्याख्या की।

वशिष्ठ और अरुन्धती—तपश्चर्या तथा संस्कार की मूर्तियाँ। विश्वामित्र, परशुराम, व्यास—आर्य-संस्कार की स्थापना, और विस्तार, संस्कार तथा साहित्य का संग्रह और निरीक्षण। याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी—संस्कार और समाज के नये युग की स्थापना, ज्ञान का संशोधन; जीवन-मुक्ति, मेज़िनी और अरविन्द—राष्ट्रीयता।

इन तपस्वियों का मैं स्मरण किया करता और लीला को भी ऐसा करने के लिए सूचित करता। इन महाभागों के नाम का जप करके हम मन को स्वस्थ रखने का प्रयत्न करते। सबेरे-शाम मैं ध्यान करता और इससे व्याकुलता कुछ दूर हो जाती और आचार में प्रविष्ट होने का प्रयत्न करने वाला ब्रह्म-राक्षस, तपस्वियों द्वारा रचित आदर्शों के पिंजरे में बन्द हो जाता।

लीला पालीताना से लौट आई। हम शाम को मिले और उसने लिखा—

तुम अकेले ऊपर गये और तुम्हारे पीछे मेरा हृदय भी दौड़ पड़ा। कैसे आऊँ? तुम्हारी यह निराशा देखकर मेरा हृदय टूटा जाता है। अभी तो हमें दुनिया जीतनी है। तुम ऐसा करोगे, तो कैसे बनेगा? हमारा सुन्दर जीवन, हमारा धर्माचार, हमारा संस्कृति-प्रसार का उद्देश्य—जप से इन सबमें तुम्हारी श्रद्धा रह-पाती है? अभी तो जगत् के साथ युद्ध आरम्भ ही हुआ है और तुम पहले ही निर्बलता दिखलाओगे? शस्त्र फेंक दोगे? निर्बलों

---

1. देवद्विजगुरु प्राज्ञ पूजनं—गीत।

की तरह हम भाग नहीं सकते। गिरे हुओं की तरह हमसे गिरा नहीं जा सकता। मर जाना होगा, तो साथ ही मरेंगे।

कुछ दिनों बाद उसने फिर लिखा—

तुम मेरी बात नहीं सुनते और शान्ति से नहीं सोते। तुम कितने दुखी हो! जब से मैं तुम्हारे जीवन में आई हूँ, तब से मैंने तुम्हें दुखी कर दिया है। मैं अपने-आप ही अपना तिरस्कार करती हूँ, पर मुझसे आया नहीं जाता।

किसी दिन सन्ध्या समय हम मिलें और अकेले हों, तो निःश्वास के साथ यह ही शब्द मुँह से निकले—'क्या होगा।' कभी-कभी क्रोध से लीला को कुछ कह बैठता।

एक बार मैंने लिखा—

मैं बहुत निर्दय हो गया हूँ। तुम शान्त होगी, तब क्या सोचोगी? यह हमारी बेढंगी स्थिति का परिणाम है। मेरा तप इतना और ऐसा नहीं है कि मैं अपने आस-पास अभेद्य वातावरण उत्पन्न कर सकूँ, अन्यथा ऐसी क्षुद्र बात के लिए ऐसा अवसर उपस्थित नहीं होता। (७ अथवा ८—२३)

अब पत्र में रुदन सुनाई पड़ने लगा है। कभी-कभी एक-दूसरे को उत्साहित करने के लिए इंटरलाकन को हम स्मरण करते, या प्रतिज्ञाओं को फिर से ताजा करते। परन्तु पत्र के सिवा दुःख रोने का अन्य साधन और स्थान नहीं था।

मैंने लिखा—

मनुष्य को कहाँ रुकना है—इसकी सीमा समझ लेनी चाहिए। हक—स्वत्व—कितना रखा और कितना दिखलाया जाय, इसका बाँध तो उसे बना ही लेना चाहिए। आत्मा को सर्जित करने की अपेक्षा उसे सँभालना कठिन होता है। वृत्तियाँ उसमें विघ्न डाले बिना नहीं रहतीं। अभिमान, बीच में किला खड़ा करने का प्रयत्न करता है। मैं निर्बल हूँ, बहुत निर्बल हूँ। मेरा जीवन तुम्हारे हास्य और

क्रोध पर अवलम्बित है।

मैं कई बार अकुलाहट के कारण क्रोधित हो जाता। कई बार अपनी वृत्तियों को दबाने के लिए लीला जुदे ही प्रकार का बरताव करती। पन्द्रह मिनट की भेंट में इस बरताव से मुझे बड़ा आघात होता और अपना उद्वेग मैं पत्रों द्वारा निकालता।

लीला ने लिखा—

तुमने सुख और शान्ति का बलिदान कर दिया। तुमने सुविधा और आनन्द का बलिदान कर दिया। परन्तु कई बार ऐसा हो आता है कि तुम्हारा यह बलिदान मुझे कुचले डाल रहा है। मैं तुम्हें इतना चाहती हूँ कि अधिक नहीं चाह सकती। परन्तु हमेशा तुम्हारे बलिदान की छाया सामने आ जाती है।

उसने फिर लिखा—

मैंने जिन्हें सुख के सोपान जैसा समझा था। उन सब सम्बन्धों को विधाता ने दुःख के मूल के रूप में निर्मित किया है, ऐसा लगता है।

लीला ने एक पत्र में सूचित किया कि इस असह्य वेदना से मुक्त होने के लिए वह अहमदाबाद चली जाना चाहती है।

मैंने लिखा—

जैसे तुम कहती हो वैसे हम अलग हो सकते हैं। इसकी अपेक्षा मर जाना क्या बुरा है? मैं तुम्हें कैसे जाने दे सकता हूँ? कल से मुझे चैन नहीं पड़ रही है। दो महीनों में यह दशा हो गई—अगले दो महीनों में और क्या होगा? तुम्हें समझाने-मनाने की मुझमें शक्ति नहीं है, समय नहीं है, संयोग नहीं है। मैं क्या करूँ कि जैसी तुम पहले थीं, वैसी ही हो जाओ। एक महान् प्रयत्न करो।

आखिर लीला का उत्तर आया—

मुझसे तुम्हें दुःख दिये बिना रहा नहीं जाता और दुखी हुए बिना भी नहीं बनता।......मुझे तुमसे क्षमा माँगनी है।

इन तीन दिनों में, मैंने तुमसे पूछे बिना, और तुम्हारे बिना, तुम्हें दूर से देखकर प्रसन्न रहते हुए जीने के कितने ही विचार किये। मैं कोई बलिदान नहीं कर सकती, और किसी की बलि लेते और देखते, प्राणों पर आ बनती है। क्षमा नहीं कर दोगे?

कभी-कभी कविता की तरह कुछ पंक्तियाँ लिखकर लीला हाथ पर रख देती—

सौंदर्यना सत्व हे तारला,
मारी बारीमां तमें डोकिया कर्या करो छो,
तमारूं सौंदर्य तो हूँ कबूळु छुँ;
पण एथी य वधारे सुन्दर तो तमें क्यारे देखाओ—
ज्यारे ए प्रिय नयनोनी तेजस्वितामाँ डूबकी मारी
तेना सहाधिकारी थाओ त्यारे।

अर्थात्—

"सौन्दर्य के सार हे तारक! तुम झुककर मेरी खिड़की में देखा करते हो। तुम्हारे सौन्दर्य को तो मैं स्वीकृत करती हूँ, परन्तु इससे भी अधिक सुन्दर तो तुम तब दीखो, जब इन प्रिय नयनों की तेजस्विता में डुबकी लगाकर, उसके सहाधिकारी बन जाओ।"

कई बार वह विचारों में बहुत व्यग्र रहा करती और मैं इसे निर्दयता समझकर क्रोधित हो उठता।

मुझे ऐसा लगा करता कि लीला कोई स्वतन्त्र कार्य शुरू कर सके, तो भविष्य सुधरे। एक बार मैंने उसे कॉन्वेन्ट में जाकर पढ़ाई शुरू करने को सूचित किया। और, आवश्यकता हो, तो खर्च देने के लिए भी कहा। लीला को बुरा लगा।

मैंने लिखा—

बालक ने फिर मुझे लात मारी है—क्रूरता के साथ। उससे इसकी चर्चा नहीं करनी है। परन्तु, जैसे मैंने सूचित किया था, उसके सिवा गौरव से रहने के लिए दूसरा मार्ग ही नहीं है। लात

का बदला लात से लेने को जी होता है—परन्तु किसे मारूँ ? बालक चाहे न बोले, पर उससे तो बोलना ही पड़ेगा। ल्यूसर्न और इंटरलाकन दूसरा मार्ग बता ही नहीं सकते। (२०-६-५०)
दूसरे दिन मैंने लिखा—

सोचा था कि तुम आओगी, परन्तु तुम नहीं आईं। उत्तेजना-पूर्ण एक शब्द की आशा की थी, पर वह फलित न हुई। मुझे बहुत ही अकेलापन मालूम होता है। अपने अकेलेपन की हिस्सेदार बनाने के लिए तुम्हें निमन्त्रित करने को नीचे आ रहा था। हमारे बीच का अन्तर तुमने ही खड़ा किया है, उसे तोड़ना है। परन्तु नहीं,······तुमने खड़ा किया है, तो तुम ही तोड़ो। परन्तु तुम ऐसी मूर्खता क्यों कर रही हो ? ऐसे अनावश्यक मतभेद क्यों खड़े करती हो ? तुम जानती तो हो कि तुम 'हाँ' कहो या 'ना', परन्तु मैं तुम्हारे लिए यथासाध्य प्रयत्न करता ही रहूँगा। तुम्हारा हक है—सम्राज्ञी का—लेने का। मेरा हक है—मालिक का—सब आवश्यकताएँ पूर्ण करने का। तुम इंटरलाकन की सम्राज्ञी हो। तुम कैसे कह सकती हो कि मुझे इतना सब-कुछ नहीं—नहीं। नहीं। ऐसा तुम नहीं कह सकतीं।

कभी-कभी निराशा के कारण मन को मनाने का प्रयत्न होने लगता।

सब कुछ स्वप्न के समान है, यह मुझसे न कहना। यदि हमारी एकता सिद्ध न करनी होती, तो ईश्वर हमें अवतार ही क्यों देता ? अविभक्त आत्मा के आधे-आधे भाग व्यर्थ ही एकत्रित हुए, ऐसा मुझसे न कहना।

कुछ ही महीनों में क्या हमने कुछ कम किया ? यदि 'प्रेरणा' से 'यात्रा' तक का सर्जन किया, तो तुमने स्त्री-पात्रों से 'मालती' की सृष्टि की। प्रेस खड़ा किया। 'गुजरात' को नया मन्त्र दिया। भविष्य के स्वप्न देखे। यह कुछ कम है ? थोड़े से लोग बुरा कहते हैं, इससे क्या हुआ ? मुझे उद्वेग सहना पड़े, इसमें कौन

बात है ? मेरे निकट के कुछ लोग दूर हो जायँगे, इससे क्या होता है ? ब्रह्मा हंस का कमल-निवास भले ही छीन ले; रन्तु वह भी—

न तस्य दुग्ध जल भेद विधौ प्रसिद्धाम्
वैदग्ध्य कीर्तिमपहर्तु मसौ समर्थः ॥

हमारी भावनाओं को कौन छीन लेगा ? हमारे स्वप्नों को कौन भंग कर देगा ? हमारी आत्मा को कौन मार सकेगा ? कल्पना के महान् प्रयत्न से हम एक-दूसरे का उत्साह बनाये रखने लगे। अन्तिम प्रयत्न अगस्त में आरम्भ किया।

लीला ने लिखा—

तीन महीनों का लेखा पढ़ा। निराशाजनक नहीं है। इसी प्रकार बूँद-बूँद करके सरोवर भर जायगा। अन्त में जोड़ की सब संख्या कम न होगी।

हमारी अधीरता बहुत बढ़ गई है। और कई बार इतना अन्तर भी नहीं सहा जाता। जुदा रहते हुए भी निकटता कम नहीं पैदा की है। वशिष्ठ और अरुन्धती ने साथ रहकर जो एकता पैदा की होगी, हमने उससे—शरीर के अतिरिक्त—कम एकता नहीं पैदा की। निराश क्यों होना चाहिए ?........

परन्तु तुम्हारे हृदय में निराशा ने फिर स्वर साधना शुरू कर दिया है। ध्यान रखना, इसको चिल्ल-पौं बढ़ न जाय। तुम्हारी प्रेरणा से मैंने बल पाया है और तुम्हारे साहचर्य से मैं जीवन की सफलता अनुभव करती हूँ। तुम क्यों हार खाओगे ? परन्तु भली-भाँति देखते हुए, निराशा के स्वर प्रौढ़ होते जा रहे हैं। जीवन भयंकर, शुष्क और वियोगकर प्रतीक्षा करता खड़ा है। समझ में नहीं आता कि क्या होगा। विजय प्राप्त होगी, या धराशायी होना पड़ेगा, यह नहीं कहा जा सकता।......

कुछ दिन बाद मैंने लिखा—

दो कैदियों को पिंजरे में बन्द रहकर, एक-दूसरे की ओर देखते

रहने की सज़ा मिली है। यह क्या दशा है ? मस्तिष्क में कितना उफ़ान आता है ? दीवारें टेलीफ़ोन होतीं, तो उन्हें छूकर कह सकता था।

कुछ दिनों बाद फिर लिखा—

मैं बिलकुल थक गया हूँ, यह मैं क्यों नहीं कहता ? कुछ दिनों बाद कहूँगा। अपना थका-हारा माथा, तुम्हारी गोद में रखकर मुझे मरना है।

लीला ने आशा को प्रेरित करने के कृत्रिम प्रयत्न आरम्भ किये।

वैभव, सुविधा और सामाजिक जीवन हमें जीवन के साथ बाँध नहीं रखते। कर्तव्य के नाम का खोखलापन तुम्हें खलने लगा है; परन्तु वह वास्तव में खोखला नहीं है। जिन बालकों को तुमने सर्जित किया, उन पर से तुम्हारा अधिकार कैसे भुला दिया जायगा ? जिस पत्नी ने अखण्ड भक्ति और अटल व्रत से तुम्हारे चरणों में इनका जीवन रख दिया है, जिन्हें तुम्हारे बिना दूसरा परमेश्वर नहीं है, या तुम्हारे बिना दूसरी दुनिया नहीं है, उसे कैसे भुलाया जा सकता है ?

साहित्य-संसद् की अष्टमी का उत्सव हुआ। वहाँ मैंने बड़े उत्साह से आरम्भिक भाषण या 'आदि वचन' पढ़ा। 'गुजरात एक सांस्कारिक व्यक्ति' और मेरा जीवन-मन्त्र सर्वसाधारण के सम्मुख उपस्थित किया गया—'गुजरात की अस्मिता।' पर यह उत्साह भी अधिक समय तक नहीं टिका।

मैंने लिखा—

कल से मैं बिलकुल अकेला और दुखी हो रहा हूँ। मेरा चिल्लाने-रोने, कुछ कर डालने को जी होता है। स्वप्न कब सिद्ध होगा ? प्रतीक्षा करो—प्रतीक्षा करो—प्रतीक्षा करो—यह कठिन है—और जीवन बहा जा रहा है।

तुम वास्तविक हो, हाड़-मांस की या केवल एक कल्पना, मेरी कहानी के पात्र-जैसी ! तुम दूर हो, यह मैं मान नहीं सकता—

और तुम तो दूर—ओह—कितनी दूर हो। कल मैं बहुत ही व्यग्र था। सारा उत्सव निराशाजनक था। इन लोगों के लिए कितनी शक्ति का व्यय? धीरे-धीरे मेरा मन मार्ग खोजने लगा।

कर्तव्य! किसलिए? किसके लिए? कर्तव्य मेरी ओर, तुम्हारी ओर, हमारी ओर नहीं? और अन्य सबकी ओर कर्तव्य! हमें प्रतिष्ठा, पैसा, सुख और यश त्यागना भला नहीं लगता इसलिए? और, कर्तव्य को भयभीत करने के व्यर्थ प्रयत्न भी किये।

तुमने कर्तव्य का जो सन्देश भेजा, वह मिला। हाँ, कर्तव्य तो मेरे पीछे ही लगा है, पच्चीस वर्षों से—भयंकर और प्राणहारी। कर्तव्य पिता के प्रति, कर्तव्य माता के प्रति, पत्नी के प्रति, सन्तान के प्रति। इस भयानक ब्रह्मराक्षस ने मुझे जड़—पत्थर—बना डाला है, और इसे ईश्वर की मूर्ति समझकर मैंने पूजा है। और प्रति-वर्ष यह मेरा खून चूसता जाता है। विधाता ने निर्मित ही कर दिया है कि रक्त की अन्तिम बूँद रहने तक यह चिपटा रहे।

मैं कायर हूँ—बिलकुल कायर। मेरी गुलामी में मर मिटने वाली तुम्हारी सलाह की आवश्यकता नहीं है। खड़े होकर, इस ब्रह्मराक्षस को ललकारने का साहस मुझमें कभी नहीं था, न अब ही है, और न आएगा। क्षण-भर के लिए मैं जैसा प्रकृति ने बनाया था वैसा बन नहीं सकूँगा, इसलिए यह सब कष्ट करने की आव-श्यकता नहीं है।

फिर एक दिन लिखा—

रात को मैं वेदनापूर्ण अवस्था में पड़ा रहा। बिना सोये। सारा दिन अस्वस्थ रहा। मैं निर्मूल-सा हो गया हूँ। श्रद्धा, शक्ति श्रम करने का साहस—सब विदा हो गए हैं। मैं थक गया हूँ—तड़फड़ाने की शक्ति भी अब नहीं है। माथा भूमि पर रखकर मृत्यु-शय्या पर पड़ना है। और 'क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप,' कहने

वाला भी कोई नहीं है।

अनेक बार भाग खड़े होने के विचार आते। कभी-कभी मोटर में, अंधेरी के रास्ते जाकर, दोनों ज़हर पीकर सो जायँ, ऐसे खयाल भी पैदा होते।

एक बार मैंने लिखा—

पागलपन भरा एक जंगली विचार आया। चाँदनी घनी हो गई। कुछ क्षणों के लिए तुम्हारे साथ घूमने को जाने का मन हुआ—एक क्षण को प्रिय और वृद्ध निशानाथ की किरणों में दो जने अकेले। मैंने इच्छा को कुचल डाला। इस इच्छा को मैं व्यवहार में नहीं ला सकता—लाने की हिम्मत नहीं है—नहीं लानी चाहिए। कर्तव्य तो था। मैंने गाड़ी को रवाना कर दिया और दौड़कर ऊपर चढ़ गया—सम्भव है, कहीं संकल्प शिथिल हो जाय। मैं दुखी होने के लिए बना हूँ। सारी रात बिस्तर पर तड़फड़ाता रहा।

लीला धीमे-धीमे अंकुश का व्यवहार करती, फिर भी मेरी निराशा से मुझे बचाने का प्रयत्न करती रहती। उसने लिखा—

रात कैसे बिताई? कल तुम्हें छोड़कर आते हुए मेरा जी बहुत ही दुखी हुआ। तुम्हारे ऐसे मनोमन्थन के समय मैं तुम्हारे साथ बैठ भी नहीं सकती। कुछ भी हो, मैं तुम्हारी बग़ल में सदा खड़ी रहूँगी—जीवन में और मृत्यु में। यह बादल मेरे कारण ही तुम पर आये हैं। इसमें भाग लेना, मेरा और तुम्हारा समान ही अधिकार है, इसे न भूलना।

इसे न भूलना।

तुम्हारे साथ किसी भी प्रकार का तप करने में मैं नहीं अकुलाऊँगी। तुम्हारी आज्ञा पर ही मेरा जीवन अवलम्बित है।

अक्तूबर की छुट्टियों में मैंने संकल्प किया कि लक्ष्मी का प्रसव हो जाने पर मैं संसार त्याग दूँगा और चाँदोद के पास मालसर में जाकर रहूँगा।

उस समय का लीला का एक पत्र है—

तुम्हारे जाने के बाद सारी रात जागती रही। तब तक और फिर सपने में भी तुम्हारा ही विचार किया। अपनी अयोग्यता से मुझे बड़ी लज्जा मालूम होती है। मुझे ऐसा लगता है, मानो मैंने अभी तुम्हें भलीभाँति पहचाना नहीं है। तुम्हारी महत्ता को मैंने अच्छी तरह परखा नहीं है। अभी तक मुझे आत्म-समर्पण करते हुए स्वभाव बाधक होता है। मेरी-जैसी निकम्मी स्त्री कोई पैदा नहीं हुई।

तुमने मेरे लिए क्या-क्या किया और कितना सहा है। मेरे द्वारा उसका हज़ारवाँ भाग भी न दिया जा सकेगा। मेरे पास सत्ता नहीं है, सौन्दर्य नहीं है, कुशलता नहीं है, काम करने और तुम्हारी सहायक बन जाने की शक्ति नहीं है। घर के या बाहर के जीवन की एक भी चतुराई नहीं है। मेरा जीवन, निष्फलता की परम्परा का इतिहास है। एक बार जैसा मैंने तुमसे कहा था, मैं ऐसी हूँ कि खुद भी डूबूँ और साथ ही दूसरे को भी डुबा दूँ। मैंने तुम्हारे उद्धार के जो प्रयत्न किये, उन पर विचार करते हुए चक्कर आने लगते हैं। मुझे क्षमा कर देना।

तुम जब कहो, तब जाने को तैयार हूँ। मुझे लगता है कि इससे हम दोनों का भय कम हो जायगा। मैं यहाँ रहूँ और इस प्रकार रात-दिन तुम्हें और मुझे चिन्ता में रहना पड़े, इससे न तो कोई काम करते हमसे बनेगा और न शान्ति मिलेगी। समय आने पर, जब कहोगे तब, घण्टे-भर में मैं तैयार हो जाऊँगी।

क्रोध को, तिरस्कार को या प्रमाद को एक ही भाव से जिसने ग्रहण किया है, उस आर्या को, उसके लिए, जो उसके पैर छूने के योग्य भी नहीं है, कैसे त्यागा जा सकता है? और जिस वृद्धा माता की एक ही आँख और एक ही आशा तुम हो, उसे भी कैसे भुलाया जा सकता है?

अपना कर्तव्य मैं भूल जाऊँ, तो तुम्हारे स्नेह के योग्य मैं नहीं हूँ। जिसके अंचल से जगत् ने मुझे बाँधा है, उसका बुढ़ापा मैं यों ही नहीं छोड़ दूँगी। और जो बालिका, इस जगत् के सम्बन्ध ने मुझे दी है, उसका मेरे बिना ऊपर आकाश और नीचे पृथ्वी के सिवा कोई नहीं है। उसे, मुझसे जगत् की दया पर नहीं छोड़ा जा सकता। तुम्हारे देवता के समान हृदय में बसने का अधिकार कर्तव्यहीन को कैसे मिल सकता है?

परन्तु मैं त्राहि-त्राहि कर रहा था।

अन्य पत्रों में भी यही स्वर चला आता है—

कल तुम्हारे पास से लौटते समय जो बातें कीं, उनसे मैं बहुत व्यग्र हो गई। तुम जो विचार-धारा रखते हो, वह हमारी एकता के लिए बहुत भयपूर्ण मालूम होती है। मैं इसी समय चाँदोद जाने को तैयार हूँ कि इस वेदना का अन्त हो जाय, हर क्षण जलते हृदय रुक जायँ।

एक साथ मरने का विचार भी हमने बहुत समय तक रखा। एक पत्र में लीला ने लिखा—

कल तुम्हें छोड़कर आने का मेरा जी नहीं हो रहा था। तुम अपने आत्मा और शरीर पर दुःख डाल रहे हो। परन्तु ये दोनों अब तुम्हारे नहीं रह गए······नहीं सहा जाता हो, तो आमने-सामने बैठकर, एक साथ इनका अन्त कर डालने में देर नहीं लगेगी। परन्तु जब तक आशा की डोर टूटी नहीं है, तब तक निर्बलता अनुभव करने से क्या लाभ?

हमारा परिचय अब युगों का होता जा रहा है।

मैं अकुलाकर कई बार गुस्सा हो जाता। लीला के गर्वीले स्वभाव पर इससे आघात होता। परन्तु उसे भी आत्म-समर्पण मिल गया था।

गुस्सा करो, और चाहो तो दण्ड दो—जितना देना हो उतना। परन्तु मेरी मूर्खता के कारण अपना प्रेम कम न होने देना। मैं

उपद्रवी हूँ, नालायक हूँ। पर तुम्हारे प्यार के बिना नहीं जी सकती।

तुम्हारे प्रेम की याचना करने की धृष्टता करती हूँ, इससे मुझे शरम नहीं आती। जो भक्त हो, वह भगवान् को अर्घ्य दे। मैं अपने दोष और अहंभाव अर्घ्य के रूप में देती हूँ। अपना अहंभाव मुझे बहुत प्यारा है, केवल प्रेम से ही कुछ कम। इसलिए मेरे भगवान् के सिवा इसे कोई नहीं छुड़ा सकता।

मैं आज बहुत खिन्न हो गई हूँ। खिन्नता दूर ही नहीं होती। सबमें उदासीनता का अनुभव होता है। कुछ ऐसा लगता है कि सब-कुछ उलट-पुलट होने वाला है। जैसा तुमने लिखा है, उस प्रकार, किसी दिन 'हरनानी'[1] की तरह रास्ते पर दो शव ही पड़े मिलेंगे।

बम्बई आने के बाद मुझे जीतने की लक्ष्मी की आशा मर गई। उसने भी फरियाद करना छोड़ दिया। साथ में घूमने को जाने या बातचीत करने को बैठने से इन्कार कर दिया।

लीला और मैं अपना पत्र-व्यवहार बन्द न कर सके। मैं काल्पनिक 'देवी' को पूजता, इसमें किसी ने पाप नहीं समझा था। मैं 'देवी' को नित्य ही प्रणय-पत्र लिखता और साहित्यकार की भाँति उनके उत्तर देता, इसमें मुझे कोई दोष नहीं दीख पड़ता। यह 'देवी' देहधारी थी, उसके साथ का मेरा पत्र-व्यवहार मेरा श्वास और प्राण था। इसे छोड़ने को मेरा जी न हुआ। जगत् का सार्वभौमत्व तो मेरे आचार पर था, उसे मैं उसके चरणों पर रखे जाता। पर अपना हृदय मैं किस प्रकार रखूँ? न रखने में पाप हो, तो वह मुझे स्वीकृत ही कर लेना चाहिए।

लक्ष्मी मेरा आचार-विवेक और मानसिक अविवेक भी जानती थी। अपनी दिनचर्या की व्यवस्था मैंने ऐसी की थी कि शायद ही मैं कभी साथी के बिना रहता। अनेक बार, उदारहृदया लक्ष्मी मुझसे विनीत शब्दों में

1. सुप्रसिद्ध फ्रेञ्च साहित्य-स्वामी विक्टर ह्यूगो का नाटक।

कहती—'तुम्हें अच्छा नहीं लग रहा है। मेरी तबियत ठीक नहीं है। तुम लीला बहन के साथ मोटर में घूम आओ।' कई बार मन हो आता कि इस उदारता का लाभ उठाकर मैं अपने हृदय को हल्का कर आऊँ, परन्तु यह सती जिस आत्म-विसर्जन से विनय कर रही थी, उसकी भव्यता से मेरी आँखों में पानी भर आता, और मैं उसके बिना, जाने से इन्कार कर देता।

युवावस्था में मुझे यह कल्पना होती कि लक्ष्मी एक बार भी मेरी आज्ञा का उल्लंघन कर दे तो हमारे पारस्परिक सम्बन्ध में मानवता के रंग भर जायँ। अब भी कई बार ऐसा होता कि यह ईर्ष्या दिखाए, लड़ पड़े, ताने-तिस्ने सुनाकर मुझे हैरान करे, तो कुछ मानुषी तत्त्व हमारे सम्बन्ध के बीच आ जायँ। परन्तु लक्ष्मी, भक्त की परम भूमिका से विचलित नहीं होती। फरियाद नहीं करती। ईर्ष्या या द्वेष हो, तो वह उसे प्रकट नहीं करती। 'चरण-रज' के सुन्दर आदर्श की मूर्ति वह बन गई थी।

यदि पसली या सिर दुखे और मेरा हाथ वहाँ उठे कि लक्ष्मी पूछ बैठे—"पसली दुख रही है? सिर दुख रहा है?" और उसकी आँखों में आँसू आ जायँ। हँसकर, तुरन्त मुझे बड़े उत्साह से कहना पड़े कि "मैं बिलकुल ठीक हूँ।" यदि वह दीवानखाने में आये और मैं ब्रीफ़ में निमग्न होऊँ, तो वह पास खड़ी हो जाय और केवल देखती रहे—ऐसी करुणता से, कि मुझे चाबुक-जैसा लगे। भोजन करते समय वह कोई चीज रखे और मैं 'न' कह दूँ, तो उसके मुख पर वेदना का ऐसा बादल छा जाय कि मैं काँप उठूँ। मैं स्वभाव से ही अधीर और शीघ्र-क्रोधी; जरा-जरा-सी बात में मेरी भवें तन जायँ। उन्हें बनने से रोकना कठिन कार्य था, किन्तु लक्ष्मी को इसका वर्षों से अनुभव था। परन्तु अब—हे भगवान्!—जरा ही मेरे माथे पर बल पड़ें कि उसके मुख की ललाई जाती रहे और आँखों में बिना बरसा पानी दीखने लगे; और ऐसा भास हो कि जैसे वह अभी गिर पड़ेगी। मेरे आकुल स्वभाव को यह सब ऐसा लगता मानो मुझ पर आरा चल रहा हो। परन्तु मैं न तो बोल सकता था, न रो सकता था और न अपनी अकुलाहट को ही प्रकट कर सकता था। बहुत ही सावधानी का व्यवहार

करूँ; पर दिन में एक बार कुछ-न-कुछ अवश्य हो जाय। मैं क्षमा माँगूँ, तो लक्ष्मी अधिक दुखी हो जाय। मैं देवता था, मैं माफ़ी कैसे माँग सकता हूँ!

हम बच्चों के साथ सवेरे चाय पीते, खाना खाने को बैठते। छज्जे में खड़ी लक्ष्मी पर नज़र डालकर मैं कोर्ट जाता। दोपहर में वह अकेली बैठती। किसी दिन बगल की पड़ौसिन आ जाती और बातचीत करने का उसका एक ही विषय होता—"अति बहन, यह लीला बहन और मुंशी भाई के विषय में जो-कुछ कहा जा रहा है, वह अब मुझसे नहीं सुना जाता।" लक्ष्मी उत्तर देती—"तो क्यों सुनती हो?" या ऐसा कहती—"मुझसे जब सुना जाता है, तब तुमसे क्यों नहीं सुना जाता?"

भूला भाई की पत्नी इच्छा बहन बहुत बीमार थीं। सन्ध्या समय लक्ष्मी उनकी खबर ले आती और ऑफिस पहुँचती।

साढ़े सात बजे हम एक साथ घूमने जाते। आठ बजे लौट आते। कुछ मिनटों के लिए वह मेरे साथ लीला के दीवानखाने में आती। रात को भोजन करके हम साथ में बैठते।

सदा ही वह मुझे सुखी करने और मैं उसे सुखी करने के लिए दुखी जीवन बिताते।

रात को ग्यारह के पश्चात् हम बातचीत करने लगते। कभी मैं कोई बात मनवाने या सुखी होने की बात कहने जाता कि उसकी आँखों से चौधार आँसू बहने लगते। कई बार हम मौन-मुख चिपटकर बैठते—बहुत देर तक—इस भाव से कि कहीं एक-दूसरे से अलग होकर डूब न मरें। लगभग रोज वह मुझसे चिपटकर ही सोती, इसलिए मुझे हिले-डुले बिना सो रहना पड़ता। वह सोती, तो कभी-कभी उसाँस भरती और मेरा हृदय फट पड़ता। वह यह जान पाती कि मैं जाग रहा हूँ, तो उठकर बैठ जाती। ज्यों-त्यों करके मैं दो-तीन बजे सो जाता।

हमारा तीनों का दुःख कहने योग्य नहीं था। परन्तु इससे मैं अधिक अकुलाता। मेरा स्वभाव बिना बोले अकुलाने वाला नहीं बना था। परन्तु

यह दुःख किससे कहता ? अपनी वकालत और साहित्य—ब्रह्मराक्षस से युद्ध और कर्तव्य—दो परम भक्त स्त्रियों के मेरे दुःख दूर करने के प्रयत्न और इन दोनों के दुःख घटाने का मेरा व्यर्थ परिश्रम—इन सबके कारण मैं पागल की तरह हो गया। मैं लीला के पास बैठा होता, तो चित्त तरसती आँखों से प्रतीक्षा करती लक्ष्मी के पास पहुँच जाता। और यदि मैं लक्ष्मी के पास बैठा होता, तो बिना बोले कुचली जा रही लीला का विचार हो आता। 'शाश्वत त्रिकोण' की बातें मैंने बहुत पढ़ी थीं, परन्तु ऐसे त्रिकोण प्रेम की मैंने कभी कल्पना नहीं की थी। अजगर की तरह यह हम तीनों जनों को एक साथ मुँह में दबाये था। तीनों में से कोई एक दूसरे के पास आ नहीं सकता था और न एक-दूसरे से अलग हो सकता था। लीला और मैं तो रोष-भरे पत्रों द्वारा आक्रन्द करके आकुलता निकाल देते, पर लक्ष्मी—भव्य करुणामूर्ति—बरफ़ के से जमे अश्रु-बिन्दु की बनी थी।

८

आत्म-विसर्जन की पराकाष्ठा

जीजी माँ मकान बनवाने के लिए वर्ष-भर से भड़ोंच में ही थीं। अक्तूबर से लक्ष्मी और बच्चे भी गये।

दिनोंदिन मेरे मस्तिष्क पर पड़ा भार असह्य होता गया। रात को मुझे नींद नहीं आती और सारा दिन सिर भारी मालूम होता। लक्ष्मी गई और दूसरे दिन मुझे सख्त बुखार हो आया। कोर्ट से लौटकर मैं सोफ़े पर लुढ़क पड़ा। लीला, मनु काका और शंकरलाल मेरी परिचर्या में लग गए।

लीला ने और मनुकाका ने रात और दिन मेरी ऐसी सेवा की, जैसे मैं ढाई दिन का छोटा-सा बच्चा हूँ। तीसरे दिन जीजी माँ और लक्ष्मी आ गईं, और बुखार उतर जाने पर हम माथेरान गए।

सारा नाटक करुण अन्त की ओर बढ़ा जा रहा था, यह मुझे प्रतीति हो गई। मेरा शरीर थक गया था। सिर हमेशा दुखता रहता था। मैंने माथेरान से 'प्रिय नर्स' को लिखा—

> निराशा के गहरे रंग आते जा रहे हैं। मैं बहुत ही अशान्त हो गया हूँ।......गत बुधवार को तुमने जैसी हिम्मत दिखाई, वैसी बहुत कम लोगों को होती है। प्रतिष्ठा और आबरू की आहुति तुमने किस बहादुरी से दी? इस प्रकार की बहादुरी से तुम अकेली हो जाओगी। (२६-१०-२३)

मैंने दूसरे दिन लिखा—

मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता। चन्द्रमा को अकेले देखना बुरा लगता है। इस समय जैसे सब बातों से निबटकर, सब आशाएँ छोड़कर आया हूँ, ऐसा लगा करता है।

मानसिक निर्बलता से भी ऐसा लगता होगा। इस बीमारी से मस्तिष्क बहुत निर्बल हो गया है। छः महीने या वर्ष-भर की बात कही जाती, तो चल भी जाता, पर मानसिक बल तो नष्ट हो ही गया है।

मैंने फिर लिखा—

मैं बहुत ही दुखी हूँ। शरीर में दर्द होता है और मेरा उत्साह उड़ गया है। अपना अकेलापन मुझे बहुत खलता है। तुम भी अकेलेपन से ऊब गई होगी। इस आत्म-सर्जित एकाकीपन से वियोग अच्छा है या बुरा? यह सप्ताह बहुत ही भयंकर बीता है। मैं सशक्त होने के बहुत प्रयत्न करता हूँ, परन्तु मुझे कितना मूल्य चुकाना पड़ता है?

तुम्हारे बिना मुझे अच्छा नहीं लगता। इस समय हमने जो प्रयोग किया है, वह सुख के लिए है, इसमें मुझे सन्देह है।

यूरोप से हमारे लौट आने के पश्चात्, जीजी माँ भड़ोंच में ही रहती थीं। वहाँ उन्होंने बहुत सी बातें सुनी थीं। वे सब माथेरान आते ही उन्होंने कह डालीं। मैं प्रेस के पीछे और मौज-मजे में पैसा खर्च किये डाल रहा हूँ, बहनों और भानजों के लिए पैसा नहीं खर्च करता। सबके लिए पैसे की सुविधा करनी चाहिए—इसका आदेश भी मुझे किया गया। मैंने उस दिन लीला को लिखा—

आदर्श को आँखों के सामने रखने का प्रयत्न करने वाले, सबके लिए शरीर को घिसे डालने वाले गधे में किसी को विश्वास नहीं है। और, न उसके लिए किसी को कृतज्ञता है।

मेरी कटुता का पार नहीं था। जीजी माँ से किसी ने कह दिया मालूम

होता था कि लीला के कारण मैं बहुत अपव्ययी हो गया हूँ। मैंने आगे और लिखा—

पैसे को लात मारने वाली ग्लोरिया! पन्द्रह हज़ार की कमाई के प्रति त्याग दिखलाने तथा स्नेहशील पुत्र, भाई और पति बनने का प्रयत्न करने वाले अभागे के विषय में क्या सोचा है?

(२७-१०-२३)

माँ ने अपने उभरते हुए हृदय को खाली कर दिया, अतएव माँ-बेटे के बीच का टूटा तार फिर जुड़ गया। पहले पैसे की बात हुई। आय का रुपया चेक से आता था। चेक बैंक में भेज दिया जाता था। उसका हिसाब चतुर भाई और मेहता जी (मुनीम जी) लक्ष्मी की देख-रेख में रखते थे। बड़ी बहन के पति आर्थिक कष्ट में होते, तो यहाँ बम्बई, घर में आकर साथ ही रहते। बात अब मुकाम पर आई। लीला के परिचय का कहाँ तक विस्तार हो गया है, यह भी कह दिया। गत अक्तूबर—भावनगर—लक्ष्मी के साथ की बातचीत—यूरोप की यात्रा की जहाँ 'अति परिचय से अवज्ञा' होनी होती, तो हो जाती; पिछले पाँच महीनों का सहचार, साहित्य के आदर्श, देह की शुद्धि; पार्वती का औदार्य; उद्वेग से उत्पन्न रुग्णता; व्यवसायात्मिका बुद्धि की सेवा, तप से सब-कुछ सहन करने का दृढ़ निश्चय—मरे बिना या वैराग्य लिये बिना दूसरा कोई अन्त नहीं दिखलाई पड़ता, यह सब मैंने कहा। यह कथा जीजी माँ ने दो घण्टे सुनी। "सुनने वाली, झिड़कना भूलकर, चकित होकर, भावना की महत्ता में खो गई। बहुत ही सहृदयता से पार्वती (जो उपस्थित थी) भी, सब-कुछ भूलकर, आनन्द मनाने और मनवाने को बैठी है। गंगा की ओर इस समय स्नेह उमड़ आया है।" ऐसी बात माँ और पत्नी से शायद ही किसी मूर्ख ने कही होगी। मैं रो पड़ा। उस समय जो-कुछ कहा था, उसका स्मरण अब भी मुझे है—

"माँ," मैंने कहा, "मैं क्या करूँ? लीला को छोड़ूँगा, तो मर जाऊँगा। लक्ष्मी को छोड़ने का प्रयत्न करूँगा, तो आत्म-तिरस्कार से मरने

के सिवा अन्य मार्ग नहीं है। मुझ मूर्ख ने सोचा था कि लीला के साथ साहित्य का सहचार रखूँगा और लक्ष्मी के साथ जीवन का सहचार; और महादेव बनकर पार्वती और गंगा के साथ आनन्द मनाऊँगा, परन्तु मेरी रग-रग में तो हलाहल भरा है।

"सारे जगत् के पास प्रेम आनन्द और उल्लास के रूप में आता है, परन्तु मेरे पास यम का बड़ा भाई बनकर आया। वह आया, और मेरे शान्ति और सुख जलकर भस्म हो गए। क्षण-क्षण मैं विष के घूँट उतार रहा हूँ।"

माता पुत्र के लिए और पत्नी—लक्ष्मी—पति के लिए जीवन धारण कर रही थीं। इस दुःख को देखकर वे भी रो पड़ीं। माँ ने इस प्रकार आश्वासन दिया, मानो मैं छोटा सा बालक हूँ, और, उलझी हुई गुत्थी को स्वतः सुलझाने का निश्चय किया।

इस चौकड़ी का चौथा मनका बम्बई में था। लीला मुझे उत्साहित करने वाले पत्र लिखने का प्रयत्न किया करती थी।

> आज बहुत ही एकान्त मालूम होता है। एक प्रकार की अशान्ति भी है।...बारह महीने पहले मैं विचार करती थी कि किसलिए मैं मर नहीं जाती। आज मैं कह रही हूँ कि मुझे जीवित रहना चाहिए। इसके लिए अनेक कारण हैं। मनोदशा में कितना परिवर्तन हो गया! मुझे मरना नहीं है। मुझे तो उन प्रणयभीनी आँखों में जीना है और हँसना है। जीवन के तट पर, अपने आत्मा के अर्द्धांग के साथ मोती और सीप बीनने हैं। उसके समुद्र से गहरे और अचल प्रेम का अनुभव करना और उसके आत्मा का संगीत सुनना ऐसा मोहक है कि नष्ट हो जाना निरा पागलपन ही है। (२९-१०-२३)

धीरे-धीरे मुझे स्पष्ट दीखने लगा कि यह उलझी हुई गुत्थी मेरे जीते-जी नहीं सुलझ सकती। दूसरे या तीसरे दिन, माणिक विला के कम्पाउण्ड के पत्थर पर बैठकर मैंने विचार किया। मैं थक गया था। लीला के उत्साह

दिलाने वाले पत्रों से, केवल चंचल-सा नशा चढ़ आता। दूर से बैलों के गले की घण्टी का स्वर सुनाई पड़ा। ऐसी कल्पना हुई, मानो यमराज के भैंसे का घण्ट सुनाई पड़ा हो। धीरे-धीरे मेरी शक्ति, मेरा संसार और मेरी जीवनेच्छा नष्ट हो रही थी। मैं धीरे-धीरे मर रहा था—तब, फिर, खुद ही कुछ क्यों न किया जाय? मैंने लिखा—

मुझे परसों रात को एक विचित्र दिवा स्वप्न आया। सारी रात नींद नहीं आई थी और चित्त भी व्यग्र था। सिर दुख रहा था। दोनों जने थककर, हारकर, मोटर में बैठकर, अंधेरी तक गये। माधव से कह दिया कि हम ट्रेन में बैठकर आएँगे। वहाँ से कुछ दूर, अँधेरी रात में रास्ते पर, दो जने जुगनुओं को देखते बढ़ने लगे। कुछ दूर चलकर रास्ते में बैठ गए···'हरनानी' का अन्तिम अंक याद है? जब दौड़ते-भागते घर से खोजने को आये, तब दो शव रास्ते के किनारे पड़े थे। उनका अविभक्त आत्मा अनन्त के उस पार पहुँच गया था।

लीला का उत्तर आया—

मरना होगा, तो हम दोनों साथ मरेंगे, और वह इस प्रकार कि जगत् देखता रहेगा।

वहाँ मैंने ऐसा संकल्प किया कि किसी भी प्रकार, मृत्यु द्वारा या त्याग के द्वारा, संसार से विलुप्त हो जायँ।

हम प्राणों के साथ खेल रहे थे, तब बम्बई में एक हास्यजनक नाटक हुआ। लीला अब दुकान पर नहीं जाती थी। दुकान आज और कल हो रही थी। नरू भाई और शंकरलाल-जैसे व्यवहार-कुशल व्यक्तियों ने लीला को सलाह दी कि पैसा बचाना हो, तो पत्नी को आठ वर्षों से त्यागा हुआ सम्बन्ध जोड़ लेना चाहिए कि जिससे पति पर फिर काबू हो जाय। धीमे स्वर में नरू भाई ने कहा कि पति तो पत्नी के व्यक्तित्व से वश में रह सकता है।

लीला ने लिखा—

परन्तु इसका अर्थ व्यक्तित्व नहीं, किन्तु मोहिनी होता है। ये लोग इस शब्द का व्यवहार सीधा नहीं करते थे, परन्तु इससे भिन्न अर्थ उनके मन में है, ऐसा नहीं मालूम होता। हे भगवान् ! जो बात सारी जिन्दगी में नहीं की, वह अब करूँगी ? और वह किसलिए ? कुटुम्ब की रक्षा करना मेरा कर्तव्य है। पर, यह कुटुम्ब मेरा किस प्रकार हुआ ? और अपने लिए तो मैंने मार्ग निश्चित कर रखा है। इस प्रकार अधःपतित होने से मर जाना अधिक अच्छा है।

हम बम्बई आये। और जीजी माँ ने मेरे गृह-संसार का सूत्र अपने हाथ में ले लिया। उन्होंने हिसाब देखा। दोपहर में लीला का परिचय प्राप्त करने लगीं। सारे दिन लक्ष्मी और सब बच्चों को इकट्ठा करके उन्हें खिलाने लगीं। जीजी माँ निरी भोली नहीं थीं, इसलिए मेरी जीवनचर्या का निरीक्षण भी करने लगीं।

जीवित अवस्था में भी मृत्यु लाई जा सकती है, अपना यह विचार भी मैंने लीला से कहा।

उसने उत्तर लिखा—

मुझे एक बात बहुत खटकती है। या तो अपने भावोद्‌गारों द्वारा मैं तुम्हें दुःख देती हूँ, या मेरे लिए तुम्हें दुःख सहना पड़ता है। तुम्हें इन सब दुःखों में से एक भी मार्ग नहीं सूझता। तुम कहो तो दुनिया के किसी छोर पर जाकर समाधि ले लूँ, या कहो तो पृथ्वी के किसी छोर पर तुम्हारे साथ तपस्या करूँ। इन दो के सिवा अन्य मार्ग नहीं सूझता।

मेरे दोष दिखलाई पड़ें, तो क्षमा कर देना; कारण, कि दोष दिखलाई पड़ें, ऐसी स्थिति में मैं आ गई हूँ। तुमने जो दिया, उसी पर मेरा अधिकार है, बाकी के लिए अनधिकारी हूँ।

धीरे-धीरे मेरा मन मालसर की ओर जाने लगा। जब मैं कॉलेज में पढ़ता था, तब एक बार मैं वहाँ गया था। वहाँ की मंद-मंद बहती हवा,

चारों ओर मन्दिरों के घंट-नाद, आदि स्मरण ताजे हो गए। लक्ष्मी का प्रसव-काल बीत जाय, तो मैं सब छोड़कर मालसर जा रहूँ, मेरा यह निश्चय पक्का होता चला। जो-कुछ मेरे पास था, उसका ट्रस्ट लक्ष्मी और बच्चों के नाम कर देने का निश्चय किया।

दिसम्बर के अन्तिम दिनों में माँ, लक्ष्मी और बच्चे भड़ौंच गये। २६वीं दिसम्बर को मेरा जन्म-दिन था, इसलिए मैं भड़ौंच जाने वाला था।

२७ दिसम्बर को साबरमती के कौल की वर्षगाँठ मनाने का हमने निश्चय किया। सवेरे लीला ने सन्देश भेजा—

> **सदा काल इसी प्रकार रहेंगे। परन्तु तुम या मैं नीचे गिर जाने के लिए तो नहीं पैदा हुए हैं। तुम अपने इतने उपकार के बदले नीचे गिर जाओगे, ऐसा विचार भी कभी मैं कर सकती हूँ? नहीं, तुम अपने अचल स्थान पर से, जगत् पर गौरवपूर्ण ढंग से देखना। मैं तुम्हारी नयन-पूजा करूँगी और संतोष पाऊँगी।**

दोपहर में हमने घोड़बन्दर जाने का निश्चय किया। महीनों से हम अकेले नहीं मिले थे। घोड़बन्दर में एक महादेव हैं। हमने उनके दर्शन किये और खेतों की मेड़ों पर होकर वहाँ गये, जहाँ अँग्रेज़ों के एक पुराने मकान का अवशेष टूटा पड़ा था। यह जीर्ण मन्दिर की तरह लगता था। समुद्र उसके टूटे हुए स्तम्भ से आकर टकराता था। एक बड़ासा पत्थर पानी में पड़ा था। उस पर हम दोनों बैठ गए। चतुर्दशी की चाँदनी में सागर की लहरें जगमगा उठी थीं। अपना भविष्य हमें अंधकारमय भास हुआ। केवल एक ही आशा की किरण थी—कि गृह-त्याग करके मैं मालसर जा रहूँ। लीला ने कहा—"मैं वहाँ आऊँगी। मृग-चर्म बिछाने को तो किसी की आवश्यकता होगी न?"

"लक्ष्मी भी आएगी, जब इच्छा होगी तब। परन्तु वहाँ जगत् का विघ्न न होगा," मैंने कहा।

परन्तु हम लड़ पड़े। दो-तीन दिन बाद ही साहित्य प्रेस के अपने शेयर्स और 'गुजरात' मैं लीला को दे जाना चाहता था। लीला के पास रुपया

नहीं था। पति से यह भोजन-वस्त्र के सिवा कुछ लेती नहीं थी। इसका क्या हाल होगा? वह गुस्सा हो गई। दूसरे दिन भड़ोंच जाकर मैंने लिखा—

मुझे अस्वस्थता मालूम होती है। तुम्हारे मनोभावों को मैंने नहीं समझा, तबियत नहीं देखी, और अवसर भी नहीं देखा······

एक बात पूछ सकता हूँ? तुम्हें ऐसा लगता है कि यह जिद मैं तुम्हें दुखी करने को करता हूँ या अपनी जिद पूरी करने के लिए ऐसा करता हूँ? तुम्हें दुखी करता हूँ, यह स्पष्ट है; मैं दुखी होता हूँ, यह तुम्हें स्पष्ट दीखता होगा। तब क्या मैं पागल हो गया हूँ? ज़रा तो दो अक्षरों का जवाब दो। नहीं दोगी? मैं प्रतीक्षा करूँगा।

परसों हम इस विषय पर झगड़ पड़े। मुझे रात को नींद नहीं आई। मैंने निश्चय किया कि कल वर्ष-गाँठ है, इसलिए मुझे गर्व छुड़ाने का, भविष्य के क्रम की नींव मज़बूत करने का अधिकार प्राप्त हुआ है। मुझे ऐसा लगा कि अधिक समय होने के कारण हम किसी निश्चय पर आ जायँगे। पर तुम नहीं आईं। एक-डेढ़ घण्टे तक दुखी होकर मुझे किट-किट करनी पड़ी। फिर तुमने अन्यमनस्कता से मेरी बात मानी। और फिर आते ही तुमने बात उड़ा दी—इसलिए मेरी मेहनत बरबाद हो गई। लौटते हुए कहा कि घर चलकर बात की जायगी। घर आये, तो नींद आने की बात कहकर मुझे रवाना कर दिया और सवेरे ऊपर मिलने को कहा। सारी रात, उस सवेर की प्रतीक्षा करते हुए, भयंकर कष्टदायक समय बिताया। मैं गुस्सा हुआ। यह मुझे कोई अस्वाभाविक नहीं मालूम होता······इसमें मेरा क्या दोष? मैं मनुष्य हूँ, मनुष्य की निर्बलता से भरा हूँ। मैं अपना संतुलन गँवा बैठा, गँवाना नहीं चाहिए था, यह मैं कबूल करता हूँ।

मेरे दृष्टिबिन्दु की गुणग्राहकता में तुमने एक अक्षर भी मुँह से नहीं निकाला। मेरी असफलता का, अभाग्य का इससे अधिक और

क्या प्रमाण होगा ? घोड़बन्दर के भग्न मन्दिर की आत्मा जब मुझे इस प्रकार दुखी करने में प्रसन्न हो सकती है, तब मुझे किस किनारे जाना चाहिए ? और वह भी गत सन्ध्या की अविभक्तता के पश्चात् ?

परन्तु उसी दिन मैं अपने निश्चय को व्यवहार में लाया। लक्ष्मी और बच्चों के लिए ट्रस्ट का मसविदा तैयार किया। मेरा हृदय हल्का हो गया। जब अकेले मिलते, तब हम लड़ पड़ते। दबाकर रखी गई शारीरिक वृत्तियों का यह परिणाम था। जब हम दूर हो जाते, तब कल्पना के प्रेमियों की भाँति हृदय के उद्गार प्रकट करते। जो विसंवाद जीवन में था, उसके दूर होते ही संवाद में परिवर्तित हो जाता। उसी रात को (२८ को) वर्ष का सन्देश मैंने लिखा—

कल वर्ष-गाँठ है। बारह महीने बीत गए। ऐसा लगता है, मानो एक वर्ष में एक जीवन समाया हो। कैसा परिचय, कैसी मैत्री, कैसे अनुभव, कैसे पराक्रम और कैसी-कैसी आशाएँ; साथ ही कैसा त्याग और कैसा संयम ! जो स्वप्न हमने लिया, उसे स्वप्न में भी लाने का कौन साहस कर सकता है ?

इस वर्ष में तुम क्या बनकर नहीं रहीं ? अग्रणी, मित्र, प्रेरिका—मैंने जिसकी कल्पना नहीं की, वह चेतन तुमने मुझमें प्रविष्ट कराया। हमने स्वप्न या भावना के उच्च-से-उच्च प्रदेश में साहचर्य रखा है। एक-दूसरे को नहीं छोड़ा। अभी और किन-किन प्रदेशों में साथ रहकर विचरण करेंगे ? वर्ष-भर पहले जो संकल्प-विकल्प होते थे, वे आज भी होते हैं। तुम वास्तविक दुनिया की हो, या कल्पना-लोक से उतरकर आई हो ? गत शनिवार कितना सुन्दर था ? तुम्हारे बिना, जीवन में यह दिन नहीं निकलता। हमारे सम्बन्ध से सम्बद्ध, सौन्दर्य और श्रद्धा को सिद्ध करने के लिए हमें जो भी सहना पड़े वह थोड़ा है। इतने सीमा-चिह्नों में एक और बढ़ा······अविभक्त आत्मा की यात्रा का कब अन्त होगा ?

साथ ही लीला ने भी वर्ष-गाँठ के निमित्त पत्र भेजा था। वह मैंने २६ को पढ़ा—

आज २६ दिसम्बर है। तुम्हारी जन्म-तिथि और हमारी मैत्री की वर्ष-गाँठ। डरते-डरते हमने जान-पहचान शुरू की। उस दिन हाथ मिलाने के लायक भी हमें विश्वास नहीं था। आज हम इस प्रकार भविष्य के द्वार पर खड़े हैं, जैसे युगों का परिचय हो। आदर्श भूले नहीं हैं। परस्पर उन्हें मापने का तप आरम्भ किया है। कर्तव्य और व्यवहार-बुद्धि को भी यथासम्भव प्रतिष्ठा दी है। तुम्हारे भगीरथ प्रयत्न के परिणामस्वरूप बाहर की सब कठिनाइयाँ जीती जा सकी हैं। जुदे घरों में रहते हुए भी, इस प्रकार पारस्परिक विचार या सहवास में एक-एक क्षण बिताया है, जैसे एक ही निवास में बस रहे हों। तुम्हारी मैत्री से मेरा जीवन सफल हुआ। तुम्हारी भावनाओं की भागिन होकर मेरी आत्मा ऊँची उठी। तुम्हारे प्रेम से मेरा अन्तर जाग्रत हुआ। तुम्हारी उदारता से मुझे जगत् में श्रद्धा हुई। इस एक वर्ष के संस्मरणों पर कब तक जिया जा सकता है?

हँसते-हँसते बाँधी हुई गाँठ पर आनन्द और शोक के बहुत बल आ गए हैं। आँसुओं ने डोरी को भिगो दिया है और अनेक सुन्दर क्षणों पर डोरी को मज़बूत बनाया है। हम रूठे और मनाये गए; रोये और आँसू पोंछे; दुःख दिया और सहा। अगणित स्वप्नों की माला बनाकर अपनी आत्मा को सजाया और जीवन के प्रत्येक प्रदेश में, सहचार की आशा के किले बनाए। और किस प्रदेश का विचार करना हमारे लिए शेष रहा है?

मेरी खामियों में तुमने प्रणय का रंग भरा, मेरे दोषों के प्रति तुमने सदा माता के समान क्षमा दिखलाई है। मेरी अपूर्णता को तुमने अपनी सम्पूर्णता से सदा पूर्ण किया है। माता, पिता, बन्धु, सखा, स्वामी, पुत्र—इन सब रूपों में तुम मेरे हुए हो। सारे

जीवन का जो कार्य-क्रम हमने बनाया है, यदि वह सफल हो जाय, तो जगत् में एक निराला और अद्भुत प्रयोग पूर्ण होगा। परन्तु यह पूर्ण न हो, और भावी भुला दे, तो भी तुम अपनी एक वर्ष की प्रियतमा के लिए अपने अन्तर का एक कोना अवश्य रिक्त रखना। (२६-१२-२३)

मैंने तुरन्त उत्तर लिखा—

मैं सवेरे पाँच बजे उठा। २६वीं हुई। मैंने उठकर तुम्हारी भेंट खोली। देवि! कितना आभार प्रकट करूँ? एक निर्जीव-सी वस्तु में तुम कितना सौन्दर्य का रस उँडेल सकती हो। तुमने मुझसे 'कोनों वाँक' (किसका अपराध) माँग ली, और यह दिया—कितना सुन्दर! मेरे हृदय का एक आशा-स्वप्न! प्रतीक्षा कर रहे तुम्हारे अर्धात्मा की झाँकी—और वर्तमान सम्बन्ध का अद्भुत चित्र मैंने तुम्हें दिया। और, तुमने अपने भविष्य का आशा-स्वप्न—dreamland home—संयोजित आत्मा का अन्तिम लक्ष्य—मुझे दिया। देवि! लिखित की अपेक्षा तुम्हारे सूचित सन्देश से अधिक गर्व हुआ। जब तक शक्ति रहेगी, मैं इस सन्देश को सिद्ध करने का प्रयत्न करूँगा। और यदि विधाता या निर्बलता निराश करेंगे, तो भी मैं सन्तोष के साथ मरूँगा कि इस अर्द्धात्मा के प्रेम और श्रद्धा की शोभा के योग्य प्रयत्न मैंने किया।

तुम्हारा पत्र भी पढ़ा। पुनः-पुनः पाँच बजे उठकर, पिछली रात की चाँदनी में नदी से मिलने की इच्छा हुई। अकेला, भूत की तरह, घण्टे-भर नदी पर घूम आया। सारा गाँव सो रहा था। एक किनारे केवल दो ब्राह्मण पढ़ रहे थे। सप्तर्षि आकाश में दिखलाई पड़ रहे थे। इस मधुर एकान्त में, वरुण के तेजोमय सान्निध्य में, मैंने तुम्हें सन्देश भेजा। तुम भविष्य का दर्शन करना चाहती हो। भविष्य का मुझे भय नहीं है। सब लौटेगा, बदल जायगा। हमारी आत्मा को कोई नहीं ले सकता। इस आत्मा

की सिद्धि के सिवा और कोई उद्देश्य नहीं है।

इस समय एक बात के लिए क्षमा चाहता हूँ। तुम्हारे सामने, संस्कारों और रीति-रिवाजों द्वारा स्थापित बहुत से नियमों का उल्लंघन मैं कर जाता हूँ। मैं पशु की भाँति क्रोधित हो उठता हूँ। कभी-कभी मैं तुम्हें दुखित करता हूँ। इस सबके लिए क्षमा नहीं करोगी? यदि मैं लापरवाह होकर 'शीतल' हो जाऊँ, तो सब न हो। परन्तु तुम्हारे साथ ऐसा नहीं होगा। जैसा हूँ, वैसा ही रहे—हुए—बिना नहीं रहा जाता। तुम यह सब नहीं निभा लोगी,—तुम्हारी उदारता पर भार पड़े, तब भी?

परन्तु यह क्षण-भर का नशा उतर गया।

दूसरे दिन मैंने लिखा—

मेरे हृदय में वेदना का पार नहीं है। मैं अकेला हूँ। रुग्ण हूँ। आश्वासन नहीं मिलता। खिन्न हूँ। ऐसा प्रतीत होता है, धीमे-धीमे मरने को पड़ा हूँ। मेरा जीवन अब भँवर में फँस गया है। भविष्य अनिश्चित है। मेरा सारा उत्साह भंग हो गया है। वर्षों के बाद ऐसी अस्वस्थता आई है।......

मैंने जगत् को ललकारा है कि उसे जो करना हो, वह कर डाले। सारी प्रणाली तो मैंने तोड़ ही डाली है—केवल यह ताज पहनने के लिए। जगत् तुम पर अनेक कलंक लगाएगा। उसकी विषैली फुङ्कारें मेरे और तुम्हारे पीछे आएँगी। मैंने संकल्प कर लिया है। जो सृष्टि मैंने खड़ी की है, वह नष्ट करनी ही होगी। उसे भंग नहीं करूँगा, तो कुछ दिनों में मैं समाप्त हो जाऊँगा। सारा दिन और रात मेरा माथा फटता रहता है। वह अब अधिक भार नहीं सह सकता।

यदि साधारण लोगों की तरह हमने मौज ही मनाई होती, तो सम्भव है, स्थूल विलास में इतना दुःख नहीं उठाना पड़ता। यदि हम एक-दूसरे को छोड़ सके होते, तो सम्भव है, समय अपना

काम करता; न हम स्थूल विलास भोग सके, न एक-दूसरे को छोड़ सके। इस समय 'लाओकून' [1] की तरह ज़हरी सर्प हम तीनों से लिपट गया। मैं मर जाऊँ, या जीवन त्याग दूँ, इसके सिवा अन्य मार्ग नहीं है।

चतुर भाई मालसर हो आये हैं। वहाँ नदी-किनारे एक जगह देख रखी है। अब ट्रस्ट भी बना डालूँगा। यदि मुझे बेमौत न मरना होगा, तो अपना काम-धन्धा, प्रतिष्ठा और गृह-संसार छोड़ना ही चाहिए। जीजी माँ, लक्ष्मी, बच्चे दुखी होंगे। तुम्हारी भी भविष्य की आशाएँ नष्ट हो जायँगी। मेरी महत्त्वाकांक्षाएँ भी समाप्त हो जायँगी। परन्तु इसके सिवा दूसरा रास्ता नहीं है।

दूर, रेवा के तीर पर, एक झोंपड़ी खड़ी है। किसी दिन तुम वहाँ आना। जैसे घोड़बन्दर में पानी के किनारे बैसे थे, वैसे ही बैठेंगे। तुम्हारी आँखों का जो मनोहर तेज चाँदनी में प्रदीप्त होगा, उसे मैं देखता रहूँगा। देवि! मैं जब बुलाऊँगा, तब तुम वहाँ आओगी?

---

१. स्थापत्य का एक अद्भुत नमूना। इसके वर्णन के लिए देखिए, 'मेरी अनुत्तरदायित्वपूर्ण कहानी।' पृष्ठ ११६

लाओकून ट्रॉय का धर्म-गुरु था। ग्रीकों ने लकड़ी का घोड़ा बनाकर, उसके अन्दर कुछ वीरों को छिपा दिया। ट्रॉय के मूर्ख लोग उसे शहर में ला रहे थे। लाओकून ने मना किया। समुद्रदेव ने दो सर्प भेजे, और वे लाओकून और उसके दो पुत्रों से लिपट गए। पिता और पुत्रों के चारों ओर सर्पों ने आँटी भर ली। तीनों एक-दूसरे के सामने मरने लगे। पिता के मुख पर कैसी वेदना है! उसकी आँखों में कैसी भयंकर असमर्थता है! उसके स्नायुओं में कैसा रोदन है! आकृति देखते ही जी त्रस्त हो जाता है। सर्प की आँटी हमें लिपटती मालूम होती हमारी काया भी काँप जाती है।

तुमने तो मुझसे कह ही दिया है कि वहाँ आओगी। मृग-चर्म बिछाने को तो कोई चाहिए न? लक्ष्मी भी आएगी—वह तो पति-परायणा है। परन्तु वहाँ जगत् का विष न होगा।

(३०-१२-२३)

हम भड़ोंच से बम्बई लौटकर आये कि मैंने ट्रस्ट के दस्तावेज़ का मसविदा बना लिया। अन्त तक लक्ष्मी को पता न लगने देने का मेरा संकल्प था, इसलिए मैंने उसे रिझाने के प्रयत्न किये। दिन में वह मुझे अलग होने ही नहीं देती थी। रात को वह गले से लिपटकर सोने लगी। मैं किसी प्रकार अदृष्ट हो जाऊँगा, यह भय उसके हृदय में समा गया था और जैसे मुझे पकड़ रखने का प्रयत्न कर रही हो, ऐसा प्रतीत होता था।

आज भी उन दिनों की स्मृति से शरीर सिहर उठता है। यह समझ में नहीं आता कि मैं जीवित कैसे रहा। सारे दिन मेरे सिर में दर्द होता और कमर फटती रहती। रात को दो-तीन घण्टों के लिए ही आँखें बन्द हो पातीं। जब तक मैं घर में रहता, आदर्श पति का पार्ट अदा करता। पत्र लिखता तब कुछ क्षणों के लिए कवि बनकर व्योम में विहार करता, या निराशापूर्ण रोदन करने लगता। हृदय में सदा वेदना हुआ करती—संयम या आत्म-तिरस्कार के कारण। दुःख नहीं देना था, फिर भी दुःख का मूल मैं था, इसका भान मुझे चबाए डालता था। जीवन की मौज और साज-शोभा छोड़ देनी होगी, इस विचार से भी वेदना होती थी। आश्वासन कहीं से नहीं मिलता था, इसलिए इससे भी अकुलाहट होती थी। दिन में दो बार, कुछ क्षणों के लिए, 'अविभक्त आत्मा' का ध्यान करने मैं बैठता। इन क्षणों में मेरा एकाग्र चित्त श्रद्धा और शक्ति की प्रेरणा करता था और इन क्षणों से दिन-भर का संयम सरल हो जाता था। मैं यह मानता हूँ कि मैं बना रह सका, यह ध्यान का ही प्रताप है।

एक दिन के अद्भुत संस्मरणों को मैं अभी तक नहीं भूला हूँ। कभी-कभी अब भी सपने आ जाते हैं—उसकी चाह में मैं व्याकुल रहता था, प्राणों की बाजी लगाकर भी मैं पति के-से आचरण करता रहता था। घबराया,

तड़पता हुआ मैं किसी से सब-कुछ कहना चाहता था, पर कह नहीं सकता था।

लक्ष्मी को बाल-बच्चा हो जाय और वह उठकर काम से लगे, मैं यह प्रतीक्षा करने लगा। मेरे लिए यह मोक्ष की धन्य घड़ी थी।

परन्तु मनुष्य का स्वभाव विचित्र है। साढ़े दस बजे, एस्किथ और लॉर्ड द्वारा निर्मित बिलकुल विशुद्ध सिल्क के यूरोपीय स्टाइल के वस्त्र पहनकर मैं नीचे जाता। क्षण-भर को लीला से मिलकर उसका पत्र लेता। मोटर में बैठकर उसे पढ़ता। लाइब्रेरी में जाता, तो सॉलिसिटर प्रतीक्षा ही करते रहते। मेरे पैरों में पर लग जाते। सिर-दर्द को भूलकर, कोर्ट में कोई-न-कोई नई विजय प्राप्त करने को मैं दौड़ पड़ता।

फरवरी में, एक बड़े मुकदमे में मैं नियत हुआ।

युद्ध के बाद बम्बई में धन खूब हो गया था। कोचीन का एक अँग्रेज़ बम्बई आया। उसके पास जहाज बेचने का एक विज्ञापन और एक कल्पना, दो थे। वह सॉलिसिटर हीरालाल मेहता से मिला। हीरालाल, न्यायमूर्ति काजी जी के घर के आदमी थे, इसलिए अँग्रेज ने उनसे परिचय किया। बात सादी थी। इंग्लैण्ड में जहाज बिकते हैं। हिन्दुस्तान में जहाजों की बहुत कमी है। कम्पनी बनाई जाय, जहाज मँगाए जायँ, व्यापार किया जाय, फिर करोड़ों रुपया फावड़ों से समेट लीजिए। न्यायमूर्ति काजी जी द्वारा साहब ने सर हुकुमचन्द्र से परिचय किया। हीरालाल ने कम्पनी स्थापित करने की योजना बनाई। एंग्लो-इण्डियन स्टीमशिप कम्पनी स्थापित हुई। काजी जी और सर हुकुमचन्द्र की प्रतिष्ठा की आवाजें चारों ओर सुनाई पड़ने लगीं। लोगों में अफवाह फैली कि कम्पनी के पास जहाज आ गए हैं। शेयरों के लिए भाग-दौड़ मच गई। हाईकोर्ट में, काजी जी के चेम्बर में ही डाइरेक्टरों की बैठक हुई; कारण कि उनका बीस वर्ष का लड़का डाइरेक्टर था। शेयर बेचने का कमीशन भी उसे मिलता था। हीरालाल के उत्साह का पार न था। इस समय जहाँ बम्बई की धारा-सभा है, थोड़े दिनों में ही वह मकान बाईस लाख में खरीदा गया।

जहाज थे विज्ञापनों में। लोगों का रुपया इन डाइरेक्टरों के हाथ से पानी के बहाव की तरह बह गया। कम्पनी दिवालिया हो गई। पता लगाकर लिक्वीडेटरों ने डाइरेक्टरों पर दावा कर दिया। दावा न्यायमूर्ति के कैम्प में आया। लिक्वीडेटरों की ओर से एडवोकेट जनरल कांगा, भूलाभाई और कनिया थे। डाइरेक्टरों की तरफ से सर चिमनलाल, तारापोरवाला और मैं। दो अन्य बैरिस्टरों के नाम मैं भूल गया हूँ। इस केस के लिए रोमर और मंचरशाह ने बड़ी तैयारियाँ की थीं। तैयारी का बहुत सा भार मैंने भी उठाया था।

यह केस—मुकदमा—कुछ दिनों चला और सौरी में लक्ष्मी की अवस्था बिगड़ गई। उसे दो-तीन रोज़ में सूतिका रोग हो गया—बहुत गहरा। उसका पैर सूज गया। आठवें दिन वह अचेत हो गई। जीजी माँ जी-जान से सेवा में लगी रहतीं। सवेरे और शाम डॉक्टर मासीना, पुरंदर और सुखटणकर सुबह-शाम आया करते।

इस समय मेरे भाग्य में तो कर्तव्य की शृङ्खला ही बँधी थी। मैं केस को न छोड़ सका। इतना बड़ा केस, इतने अधिक बैरिस्टर, और हमारी ओर से तैयारी की निधि मैं मैं। काजी जी की प्रतिष्ठा और पद दोनों जोखिम में थे, इसलिए केस ने गम्भीर रूप धारण कर लिया था। साढ़े दस से साढ़े पाँच तक मैं कोर्ट में रहता। सवेरे, शाम और आधी रात के समय मैं लक्ष्मी के पास बैठता। वह अचेत की-सी दशा में पड़ी रहती। मेरा हाथ छू जाता तो 'नाथ' शब्द वह अस्पष्ट रूप में बोलती। मैं सिर पर हाथ रखकर पुकारता तो वह नशे की-सी आँखें खोलती। मेरा स्वर और मेरा स्पर्श दोनों ही उसके जीवन की तंत्री बन गए। उसका शेष संसार विलुप्त हो गया।

उसकी स्थिति बिगड़ती चली। केस अधिक गम्भीर रूप धारण करता गया। न्यायमूर्ति काजी जी की भी जाँच शुरू हुई। उन्हें तैयार तो मैंने किया था। मैं क्योंकर ग़ैरहाजिर रहता? मेरे मस्तिष्क का भार कहने योग्य नहीं था।

चार दिन—बीस घण्टे—मैंने अपनी दलीलें पेश कीं और कोर्ट छोड़ी। मैं लक्ष्मी के पास दिन और रात बैठा। 'नाथ' का उच्चारण अस्पष्ट—और अधिक अस्पष्ट होता गया। डॉक्टरों ने सिर हिलाये।

तीन दिन में उसने देह त्याग दी।

दूसरे दिन मैंने उसकी अलमारी देखी। एक खाने में उसने मेरे चार-पाँच पत्र इकट्ठे कर रखे थे। यूरोप की यात्रा में उसने नोट-बुक रखी थी। दो-एक गीत थे। उसे खबर थी कि वह कूच करने वाली है।

चि० बहन सरला,

बहन, तू सबसे बड़ी है। बड़ी बहन माँ के समान है। मेरी मृत्यु के बाद अपने इन छोटे बच्चों को संभालना। तेरा 'भैया' बड़ा हठी है, बड़ा उपद्रवी-उधमी है। इन सबको हैरान करेगा, सबसे लड़ेगा, पिटेगा। परन्तु बहन, जब तेरे पास आये, तब इसके अवगुण तू भूल जाना और आश्वासन देना। मेरी मृत्यु से तुझे बड़ा दुःख सहना होगा। उषा, लता को तू अपने साथ रखना। इनको भूखे-प्यासे पूछती रहना।

तेरे पिताजी की तबियत बहुत बिगड़ती जा रही है। उनकी सेवा अच्छी तरह करना।

तेरा विवाह हो जाय, तब अपने पति को सन्तुष्ट रखना। उसकी आज्ञा में रहना। उसके सुख में तेरा सुख समाया है।

तू बहुत दीन और दयनीय है, इसलिए तेरी मुझे बहुत चिन्ता है।

परन्तु दुनिया में हिम्मत से रहना। किसी के कहने से बुरा काम न करना। सचाई और साहस में बहुत सुख है।

मेरे लिए एक विचित्र सन्देश छोड़ गई। किसी समय यात्रा में, या बाद में, एक उद्गार लिखकर उसने रख लिया और शेली की कब्र पर से उठाकर जो फूल मैंने उसे दिया था, वह उसने उसमें रख छोड़ा—

प्यारे सागर राज,

अपने तट पर लाकर तुमने मुझे शान्त किया। मुझे निर्जीव करके मेरे हाथ तोड़ डाले। प्रियतम, जरा विचारो तो कि तुम्हारे लिए जन्म धारण करते मुझे कितनी पीड़ा हुई होगी। अचल पर्वत को चीरकर मैं बाहर आई। पहाड़ को तोड़ा, इससे उसने मुझे जमीन पर पछाड़ा। इसकी भी मैंने परवाह नहीं की। और वेग से तुम्हारे पास आने के लिए दौड़ पड़ी। रास्ते में उगे हुए पौधे मैंने उखाड़ दिए; उनके फूल भी नहीं रहने दिए। रास्ते में आने वाले मनुष्यों को भी मैंने मौत के घाट उतारा। जो बीच में आया, उसे अलग करके मैं तुम्हारे पास आई। परन्तु, सागर राज, तुम तो शान्त रहे। एक बार भी अपनी उछलती लहरें तुमने मुझ पर न डालीं। एक बार भी प्रेम से दौड़ती हुई लहरें तुमने मेरी ओर भेजी होतीं, तो उन्हें स्मरण करके पड़ी रहती। प्रियतम, तुम्हें मेरी परीक्षा लेनी थी ?

मैं परीक्षा लेने वाला कौन ? यह तो वह सती-शिरोमणि स्वयं दे गई।

मनसा कर्मणा वाचा यथा रामं समर्चये ॥
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हती।

मन, कर्म और वाणी से यदि मैंने राम का सदा अर्चन किया हो, तो हे पृथ्वी माता, मुझे मार्ग दे—यह वचन केवल सीता ने उच्चारित किया था, ऐसी बात नहीं थी—इस कलियुग की स्त्री ने उसे कर दिखाया था।

यह विचार आते ही मैं पूज्य भाव से विह्वल हो जाता हूँ। उसके आत्म-समर्पण की कथा जैसी अद्भुत कथा मुझे जगत् में और न मिली।

विधाता के विचित्र विनोद का पार नहीं है। 'देवी' को स्मरण करने वाला मैं, जिसमें 'देवी' न देख सका, वह अपने भव्य आत्म-विसर्जन से वास्तव में देवी बनी, और मुझे जीवन का दान देकर अलोप हो गई।

× × ×

प्रभुवर ! यह करुणतम उपालम्भ जब मैं पढ़ता हूँ, तब मेरा हृदय फट

पड़ता है। लक्ष्मी ने मुझे सर्वस्व दिया। मैंने उसे सब-कुछ दिया, पर प्रेम न दे सका और इसके लिए तरसती वह चली गई। हे प्रभु! मुझे ऐसा क्यों बनाया? मेरे जीवन को गढ़ने वाली···तीन आर्याओं में से एक चली गई। तीनों में यह थी, उदात्त और सरलता की सत्त्व। वह जीवित रही—केवल मेरे लिए। गई—श्वास-श्वास से मेरा नाम रटती हुई। मरते हुए मुझे प्राण-दान दे गई।

दूसरा भाग

९
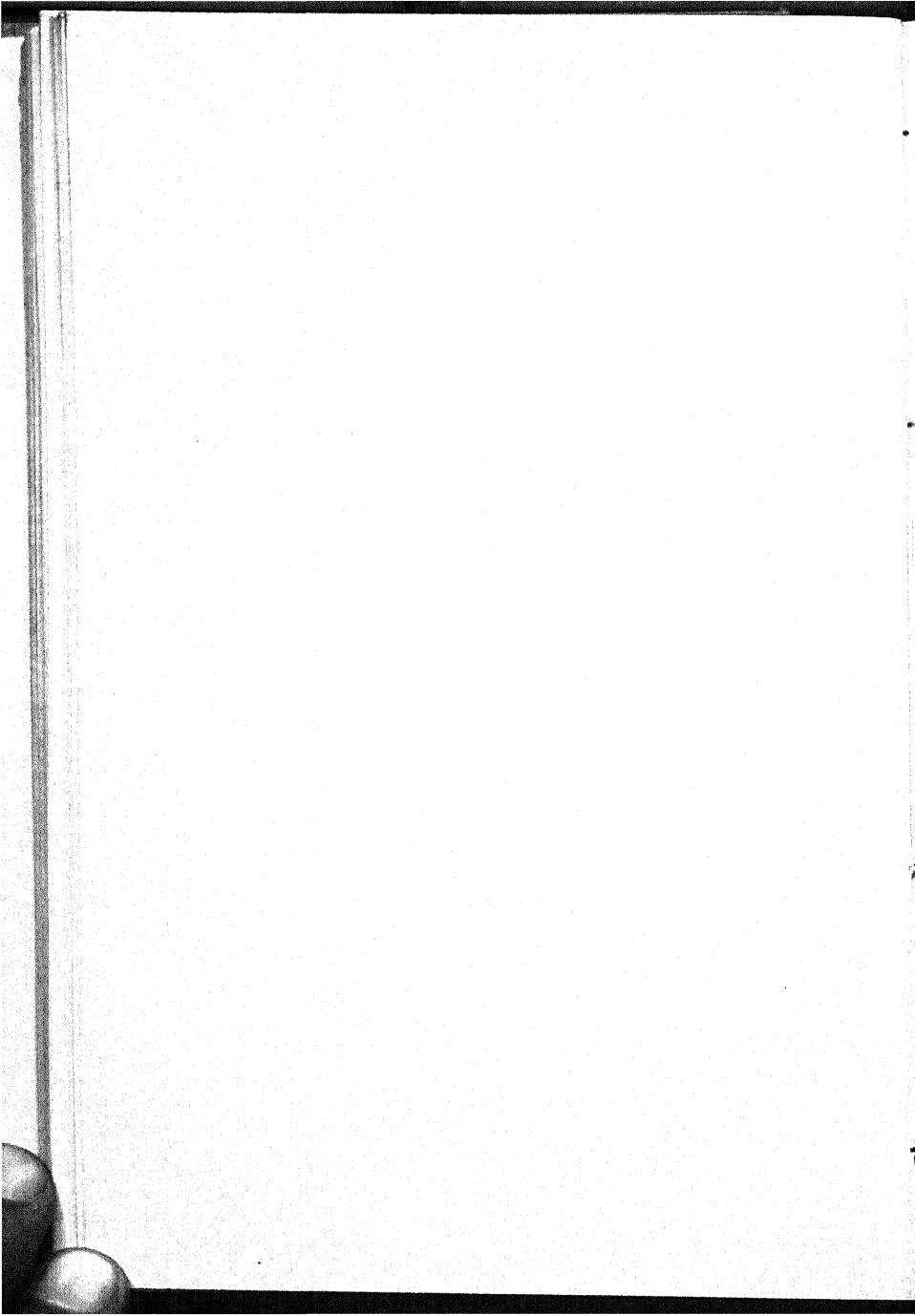
नई घटना

जब लक्ष्मी का देहान्त हुआ, तब घर में दो नौकरानियाँ थीं—गंगा उषा के लिए और दूसरी लक्ष्मी, लता के लिए। मृत्यु रात को हुई, इसलिए रीति के अनुसार शव सारी रात घर में पड़ा रहा। साल-भर से जीजी माँ मकान बनवाने के लिए भड़ोंच में रहती थीं, इसलिए गंगा को यह खयाल हुआ कि माँ-बेटे में नहीं पटती, इस कारण लक्ष्मी की बीमारी दूर होते ही जीजी माँ भड़ोंच चली जायँगी। गंगा की महत्वाकांक्षा बढ़ी। इसी घर में सेठानी बनकर रहने के स्वप्न उसे आये। अन्तिम दिन की धमा-चौकड़ी में उसने लक्ष्मी के तकिये के नीचे रखा चाबियों का गुच्छा ले लिया।

हम श्मशान गये, इसलिए जीजी माँ आलमारी खोलने के लिए चाबियाँ खोजने लगीं। 'चाबियाँ किसने लीं', 'चाबियाँ किसने लीं' इस प्रकार खोज होने लगी। दूसरी नौकरानी ने कह दिया कि गुच्छा गंगा के पास है। जीजी माँ ने गंगा से गुच्छा माँगा। गंगा ने उत्तर दिया कि "लक्ष्मीबाई गुच्छा और बच्चे मुझे सौंप गई हैं और कहा है कि मेरे बच्चों को और घर को सँभालना। मैं इन्हें अपनी छाती से लगाकर रखूँगी। गुच्छा तुम्हें नहीं दूँगी।"

"अच्छा, यह बात है?" जीजी माँ ने कहा। डपटकर गुच्छा ले लिया और तुरन्त उसे घर से निकाल दिया। गंगा का पिछला इतिहास भी

लाक्षणिक था। कुछ महीनों बाद वह अस्पताल में नौकर रही, और नर्सों के रसोईघर पर अधिकार जमाया। चोरी का सन्देह हुआ। संस्था के मुख्य संचालक ने उसे अलग कर दिया। उसने जाने से इन्कार किया—"मैं तुम्हारी गृहिणी हूँ," उसने संचालक से कहा।

अपनी स्त्री के सिवा, अपने निकट किसी दूसरी होशियार स्त्री को रखना बड़ा जोखिम का काम है, यह मेरी समझ में आ गया।

स्त्री गँवाना एक विपत्ति समझा जाता है। एक दृष्टि से, अधेड़ वयस में इससे बड़ा दुख और नहीं है। लक्ष्मी चली गई, इसलिए मेरे छोटे-से जगत् में उत्पात खड़ा हो गया। एक रसिक और सुप्रसिद्ध वकील—हजारों का कमाने वाला और साहित्यकारों में अग्रगण्य—विधुर हो गया! बहुत सी लड़कियों के माँ-बापों के मुँह में पानी भर आया—बस, अब हमारी लड़की के भाग्य जागे! और, मेरा मूल्य तेज़ी से बढ़ गया।

रात को दस बजे एक मित्र और उनकी पत्नी समवेदना प्रकट करने को आये। उसी दिन यह दम्पति परदेस से आये थे। "मुन्शी भाई पर विपत्ति आ पड़ी, इसलिए मन हुआ कि चलो हो आयें। हमारी मैत्री दस वर्ष पुरानी है।" मित्र ने कहा—"बहुत बुरा हुआ। अतिबहन-जैसी स्त्री नहीं हो सकती। परन्तु मौत के आगे किसकी चलती है?" मित्र-पत्नी ने और आगे कहा—"अब तो नया घर-संसार बसाना ही पड़ेगा।"

मित्र ने वार्तालाप आगे बढ़ाया—"इन मिसेज़ की एक बहन हैं। पढ़ी-लिखी हैं। विलायत हो आई हैं। विधवा हैं—पर यह इस ज़माने में कौन बात है? आप क्या उसे नहीं जानते? बस, यह आपके लायक है।"

मैंने गम्भीर मुख से कहा—"समय पर विचार किया जायगा। उनसे और कौन योग्य मिल सकती है?" उनका मुख हँसने को होने लगा।

सबेरे······के पिता आये—"भाई, दूसरा विवाह कर लो।"

मैंने कहा—"अभी कल ही तो 'वह' सिधारी है, ज़रा स्वस्थ तो हो लूँ।"

"अरे भाई, इसमें अधिक विचार नहीं करना चाहिए। श्मशान-

वैराग्य तो सबको होता है, समझे ? तुम्हारे भाई (उनके पुत्र) की माँ मर गई, तब मैं चिता पर बैठने को गया था। दूसरे दिन किसी प्रकार नींद ही न आये।······की माँ से मेरा विवाह तय हो गया, तभी नींद आई। भैया, जब तक स्त्री नहीं होती, तब तक चैन ही नहीं मिलती। और अभी तुम कहाँ बूढ़े हो गए हो ?"

"काका जी, अभी विचारने को बहुत समय है," मैंने कहा।

काका गुस्सा होकर चले गए।

दूसरे दिन जाति वालों में से दो-एक जने आए—"मेरे भाई की लड़की बारह वर्ष की है। पाँचवीं किताब पढ़ती है," एक ने कहा।

"मेरी······बिलकुल आपके लायक है।" दूसरे ने कहा, "ज़रा छः महीने छोटी है, पर उसका शरीर अच्छा भरा हुआ है। और बच्चों को पाला-पोसा है, इसलिए उषा और लता का पालन-पोषण भी कर सकेगी।"

"हाँ, हमारे बीच कोई भेद नहीं है," पहले व्यक्ति ने कहा, "आप जिसे चाहें, दोनों में से एक ले लें।"

"अभी तो विचार करने योग्य मेरा मन स्वस्थ ही नहीं हुआ है," मैंने उत्तर दिया।

सदा के हमारे एक जोषी—ज्योतिषी—आये। उन्होंने तो मेरे लिए एक कन्या खोज ही रखी थी। मैं समझ गया। मैंने उसकी जाति पूछी। जोषी जी ने कहा—

"ब्राह्मण जाति की है। ब्राह्मण से भी ऊँची मानी जा सकती है। छोटी लड़की की जन्म-कुण्डली मैंने अभी कुछ ही दिनों पहले देखी थी। मुझे तो वही तुम्हारे भाग्य में बदी मालूम होती है।[1]

ब्राह्मण देवता की उस्तादी मैं समझ गया। बोला—"देखो, पहली स्त्री

---

१. यह नागर ब्राह्मण था। और पुराने जमाने के बहुत-से नागर अपने को ब्राह्मणों से श्रेष्ठ समझते थे। किसी समय भार्गव ब्राह्मण भी यही समझते थे।

ब्राह्मण थी। पुनः विवाह करने का अभी विचार नहीं है, परन्तु विचार हो, तो क्यों न किसी अन्य जाति की लड़की के विषय में सोचा जाय?

"क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।"

मैंने निर्लज्ज भाव से कहा।

अजी साहब, मजाक क्यों कर रहे हैं? आप-जैसे ब्राह्मण के लिए ब्राह्मण-कन्या ही शोभा दे सकती है।"

कुछ महीनों पश्चात् एक पारसी और दक्षिणी सज्जन, एक मित्र को ले आए। बोले—"एक राजा की रखेल की लड़की है। विलायत में लालित-पालित और पढ़ी है। पिता ने लाखों रुपया उसे दिया है। वह अब भारत में आना चाहती है और किसी सार्वजनिक कार्य में लगे उदीयमान नेता से विवाह करने का विचार है।"

मेरे एक प्रसिद्ध मित्र भी अभी-अभी विधुर हो गए थे और उनसे भी ये मिले थे। परन्तु वे पुनः विवाह नहीं करना चाहते थे और उन्होंने मेरा नाम बता दिया था।

"आप विलायत चलें," आगत सज्जन की देश-भक्ति उमड़ पड़ी, "राजकुमारी से मिलें। आप दोनों मिलकर अच्छी देश-सेवा कर सकेंगे।"

मेरी कल्पना स्तब्ध हो गई। राजा की रखेल की लड़की—विलायत में लालित-पालित—धनाढ्य—और उससे मैं विवाह करूँ? पाउडर, लिपस्टिक, कोकटेल पार्टी, डिनर, डान्स, रेस-कोर्स, मोण्टेकार्लो मे रूले और इस ओर गरीब ब्राह्मण, और उसके बच्चे, गीता, योगसूत्र, गुजरात की संस्कृति की सेवा...उषा और लता! हँसी रोककर मैंने माफ़ी माँग ली—"ऐसा प्रस्ताव अस्वीकृत करते मुझे दुःख हो रहा है, परन्तु जब विवाह करने का मेरा विचार होगा, तब देखा जायगा।" हताश होकर विवाह कराने वाले दलाल चले गए।

परन्तु सच्ची बात तो जो दो स्त्रियाँ मेरे जीवन की अधिष्ठात्री रही थीं, उनके साथ हुई।

तीसरे दिन जीजी माँ मुझे अकेला पाकर आईं—"भाई! ये विवाह के

प्रस्ताव लेकर आने वाले तो मेरा जी खाये जा रहे हैं। तुम ब्याह नहीं करोगे न ?"

मैं हँस पड़ा—"माँ, तुम तो जानती हो। मैं विवाह नहीं करूँगा।"

"तो भैया, ईश्वर सब भला करेगा। मुझे लीला बेटी बहुत भली लगती है। मैं बच्चों को सँभालूँगी। मेरे रहते वे बड़े हो जायँगे।"

इस अद्भुत माता ने पुत्र की स्त्री-मित्र को पुत्री बना लिया था। वह जननी थी—मेरी और मेरे सर्वस्व की।

उसी दिन लीला ऊपर आई। लक्ष्मी की मृत्यु से मैं विधुर हो गया, अब मुझसे मिलना पहले से भी अधिक दुर्लभ हो पड़ा।

"अब हमारी कठिनाइयाँ बढ़ गई हैं। अब हम अधिक मिलेंगे, तो जगत् तुम्हें फाड़ खायगा। मैं अब पत्नी-हीन हो गया हूँ।"

लीला हँस पड़ी—"पागल हुए हो ? अब मैं तुम्हारी और अति बहन के बच्चों की हूँ; वे अब मेरे बच्चे हैं।"

"परन्तु तुम करोगी क्या ?"

"मैंने निश्चय कर लिया है। मैं बाला को पंचगनी पाठशाला में रख देती हूँ। वहाँ यह अच्छी संगति से सुधर जायगी। और तुम छुट्टियों में महाबलेश्वर जाने वाले हो, वहाँ मैं तुम्हारी मेहमान बनकर कुछ दिन रहूँगी।"

"अरे, पर तुम्हारा क्या होगा ? जगत् क्या कहेगा ?"

"मेरे लिए जगत् नहीं है। मेरे लिए तो केवल तुम हो।"

"मान लो कि मुझे कुछ हो गया, तो दुनिया तुम्हें कहीं टिकने न देगी।"

"जब तुम न होगे, तब मैं हूँगी ,तभी न ?"

इस उदात्त स्त्री के समर्पण के सामने मैं क्षुद्र था। जगदीश बाहर आया और लीला काकी उसे नीचे ले गई। उषा और लता आईं, वे मेरे दोनों ओर बैठ गईं। "माँ थी न," उषा ने तोतली जिह्वा से शुरू किया—"हमारी माँ थीं न—वे—मर गई।" अपने दोनों हाथों से उसने पक्षी

के उड़ जाने का-सा इशारा किया।

मैंने दोनों को छाती से लगा लिया।

"फिर नहीं लौटेंगी," उषा ने जीजी माँ के शब्दों को दोहराया।

मैं दोनों को उठाकर अन्दर ले गया। सरला को कई दिन से बुखार था, मैं उसके पास बैठ गया। वह मेरे गले से लिपटकर रो पड़ी।

लक्ष्मी की मृत्यु से हम दोनों का नया अवतार शुरू हुआ। और हमारा जीवन एक-दूसरे को पत्र लिखने में समा गया। लक्ष्मी का अस्थि-विसर्जन कर आने पर कुछ घण्टों के बाद मैंने लिखा—"मैं निराशा के तल में जा बैठा हूँ। पागल कुत्ता भी अब मुझे काटने को नहीं आ सकता। मैं तड़प रहा हूँ।"

लक्ष्मी की उत्तर-क्रिया के लिए हम भड़ौंच गये। भड़ौंच में इस समय जैसी गरमी पड़ रही थी, वैसी दस वर्षों में नहीं पड़ी थी। "थकावट, जागरण, अशान्ति, एकाकीपन और बेचैनी।" मैंने लीला को लिखा—"रात को भी गरम-गरम हवा। तिस पर लता ने रोना मचा दिया; पिता ने बारह बजे नीचे उतरकर माँ बनने के प्रयत्न किये। ऊपर आया और उल्टी हो गई। सारी रात नींद नहीं आई। बम्बई लौटने को जी हुआ। इतने दिनों से चढ़ा हुआ सत् जैसे उतर गया।"

भार्गव जाति ने मेरी भावी पत्नी को खोजना शुरू किया।

एक मित्र ने कहा कि जब मैं यूरोप गया था, तब एक पारसी 'फ्रेण्ड' के साथ घूमा था और उसके साथ मेरा विवाह निश्चित हो गया है। तुम यूरोप साथ ही आये थे, इसलिए उसका नाम-ठाम मालूम हो, तो लिख भेजना। श्री·······आये और मनुकाका के कान में·······की बात कहते गए। "मुन्शी उसे तुरन्त स्वीकृत कर लेंगे। परी जैसी है।" मैंने कहा—"मनुकाका, आचार्य और लीला बहन की एक·······करने के लिए समिति बना दी जाय तो कैसा?"

लीला ने जवाब लिखा—

वह परी-जैसी कन्या कब आ रही है? सभी चीज़ों में मुझे जो हिस्सा देना निश्चित किया है, वह इसमें से कैसे दोगे? ज्यों वे दो स्त्रियाँ एक लड़के के लिए राजा के पास दावा करने गई थीं, त्यों ही इस परी के लिए हमें भी जाना पड़े तब? और कहीं इसका उलटा भी हो जाय। (२२-४-२३)

हम बम्बई लौट आए और ३० अप्रैल को मैं जीजी माँ और बच्चों को लेकर महाबलेश्वर के लिए रवाना हुआ।

रात बहुत अशान्ति में बिताई। चित्त उचटा ही रहा। रात को कई बार चौंककर जाग पड़ा······रास्ते में, बिना माँ के बच्चों की परिचर्या करने वाली एडवोकेट नर्स ने बहुत ही अच्छी सेवा कर दिखाई। भविष्य की, आगे बढ़ रही, स्वतन्त्र विचार की माताओं के घर में पिताओं को जिस प्रकार का मातृ-भाव विकसित करना चाहिए, वैसा विकसित किया। (१-५-२४)

उसी दिन लीला ने बम्बई से लिखा—

"हम एक साथ रहें, तो साहित्य के रूप में प्रकट होने वाला मेरे आत्मा का आविर्भाव, सम्भव है कहीं इस रूप में प्रकट होने से रुक जाय। मैं तो अपनों में ऐसी निमग्न हो गई हूँ कि किसी अन्य का विचार ही नहीं आता। तब फिर मेरा जो स्थान आज है, उतना ही बना रहेगा न? (१-५-२४)

इस पत्र के उत्तर में मैंने लिखा। यह हमारी नई परिस्थिति का सीमा-चिह्न है।

मैं तुम्हें लिखने की सोच रहा था और आज मुझे तुम्हारा पत्र मिला। कितना आभार प्रकट करूँ? जैसे अन्तर बढ़ गया है, ऐसा लगा करता था, वह इस पत्र के मिलने पर दूर हो गया।

आज बीस महीने हो गए कि हम एक दृष्टि से सब-कुछ देखते हुए एक ही लक्ष्य साध रहे हैं। जीवन, साहित्य, आचार, विचार यह सब बाहर की प्रवृत्ति के क्षेत्र में तो हम एक-दूसरे में

समा गए हैं। केवल बीच में अन्तराय आ जाते हैं; इससे ऐसा लगता है, मानो अभी समा जाने की क्रिया हो रही है।

संसार की दृष्टि में हमें कोई भी सम्बन्ध स्वीकृत करना पड़े और भावना की दृष्टि से कोई भी संयम पालना पड़े, परन्तु जो सत्य सूझा है, वही ठीक है।

अविभक्त आत्मा का सिद्धान्त ठीक है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे योगसिद्धि हो रही है। नहीं तो इतनी साम्यता, इतना औदार्य और इतनी भावनामयता कहाँ से आये?

मैंने तो एक मन्त्र जपा है, और जीवन-भर जपना चाहता हूँ—मैं और तुम केवल एक व्यक्ति हैं। शिव-पार्वती की अर्द्धनारीश्वर मूर्ति देखी है? एक आचार-विचार, एक भावना, एक इच्छा—मुझे इतना ही चाहिए। आत्मा की सिद्धि के लिए अनेक मनुष्य मर गए; अविभक्त आत्मा की सिद्धि हमारा ध्येय है; अतएव उसके लिए मरने से पीछे हटना भी मैं नहीं चाहता। तुम्हें भी यही संकल्प करना है। इस सिद्धि के मार्ग पर जिस तेजी से हम चले आ रहे हैं, उसी तेजी से आगे बढ़ना है। विकास अपूर्ण रहेगा तो असन्तोष होगा, यह ठीक नहीं है। हम विकास के लिए नहीं जी रहे हैं कि उसकी अपूर्णता हमें खा ले, कोई योगी हो और उसे कविता रचना न आये, तो क्या उसकी सिद्धि कम हो जायगी? नहीं, उलटी बढ़ेगी। हमारी सम्पूर्णता, तन्मयता रखने में है। फिर एक हुआ आत्मा क्या करता है और क्या साधक है, यह बात जुदा और अनावश्यक है।

तुम कहानी लिखती हो, इसलिए मुझे तुम्हारे प्रति आकर्षण है? तुम साहित्य-प्रेमी हो, इसलिए हमने यह मार्ग ग्रहण किया? नहीं, साहित्य हमारी आन्तर-रसिकता और हमारी कवित्व-शक्ति के कारण प्रकट होता है। हमारी रसिकता एक हो गई है, कथन-शक्ति एक हो गई है; कुछ समय में शैली के सिवा कोई अन्तर

नहीं रह जायगा और, वह भी बहुत कम। हमारी कवित्व-शक्ति कभी कम नहीं होगी, उलटी बढ़ेगी। हाँ, एक-दूसरे से सब-कुछ कह दें, तो यह शक्ति प्रकट उपयोग में अधिक आए। परन्तु इससे क्या? 'अविभक्त आत्मा' की सिद्धि यही महा सेवा है—इस सिद्धि के द्वारा होने वाली सेवा ही हमें मान्य है।

दो ही वस्तुएँ हमारे बीच भेद खड़ा करतीं—स्वार्थ और स्वभाव-भिन्नता। परन्तु उनका तो हमने कभी से नाश कर दिया है। मुझसे भिन्न ऐसा स्वार्थी विचार तुम्हें हो, यह सम्भव मालूम होता है? और हुआ, तो उसे करने की इच्छा, हमारी भावना के सामने टिक सकेगी? स्वभाव भिन्न नहीं है, एकतान हो गया है। फिर भी वृत्तियाँ भिन्न हो जायँ, तो क्या इस भिन्नता को हम अपने बीच अन्तराय बनने देंगे? दोनों में से क्या एक भी ऐसा नहीं निकलेगा कि जो ऐसी वृत्ति का त्याग कर सके? ऐसी वृत्तियाँ हम न छोड़ सकें, तब भी उन्हें जीतने तो नहीं देंगे। हम जीतेंगे—साथ ही देह-त्याग करेंगे—वृत्तियों को अपने बीच नहीं आने देंगे।

दुनिया तुमने देखी है; तुम समझदार हो, प्रौढ़ हो चुकी हो। फिर भी तुम मुझमें पूर्ण विश्वास रखकर उमंग लिये आई हो। मुझसे जो कुछ हो सकेगा, वह मैं तुम्हारे लिए करूँगा। एक-दूसरे की पूजा करने में ही जीवन पूरा करेंगे। अब योग्यता का प्रश्न नहीं रह जाता, इसका विचार करना पाप है। जीवन-क्रम की नई सीढ़ी पर चढ़ना है। हमारे सौभाग्य से यहाँ विचार करने का अवसर और समय दोनों मिल गए हैं।

तुम्हारे गौरव की ओर हमें लापरवाही नहीं करनी चाहिए। अपनी सेवा और सम्मान से मैं तुम्हारे गौरव की रक्षा करूँगा। परन्तु मेरे साथ इतना गाढ़ परिचय रखते हुए तुम्हें बहुत-कुछ सहना पड़ेगा। कुछ समय तक लोग न जाने क्या-क्या कहेंगे।

और इस अवसर में मुझे कुछ हो गया तब ? दुनिया की नजर में तुम्हें सम्राज्ञी सिद्ध किये बिना मैं चल बसा तो तुम्हें क्या-क्या सहना पड़ेगा ? इस विडम्बना से तुम्हें बचाने के लिए, कोई उपाय मुझे खोजना चाहिए।

दूसरा प्रश्न तुम्हारे आर्थिक स्वातन्त्र्य का है, इसके बाद हमारे भावी कार्यक्रम का। जब तक 'हर्डर कुलम' न आये, तब तक हमें संस्कार का केन्द्र बनना चाहिए·······

और उदीयमान युवक की निरंकुश और अतिशयोक्ति-भरी कल्पना से अपने स्वप्न को मैंने शब्द-शरीर दिया—

किसी भी समय मृत्यु हो, पर हमें अपना स्थान प्राप्त करना चाहिए—वसिष्ठ-अरुन्धती के समान एक, संस्कार और निर्भयता की मूर्तियाँ—चारों ओर प्रकाश और उत्साह फैलाते और 'अवि-भक्त' आत्मा की प्रेरणा बहाते हुए ! हमारे प्रेम, हमारी भावना और हमारे कर्तव्य तीनों को एक ओर सबसे निराले रखना है। तुम्हारे साहस और प्रेरणा पर यह सब अवलम्बित है। अब तुम कब यहाँ आ रही हो ?

४ तारीख को लीला बाला को लेकर पंचगनी पहुँची और हिन्दू हाईस्कूल में ठहरी। वहाँ से उसने मुझे लिखा—

सारा वातावरण एक ही जन से छा गया है। गाड़ी के पहियों और पत्तों की खरखराहट में एक नाम के सिवा और कुछ भी सुनाई नहीं पड़ता······घर की मेरी जो-कुछ रही-सही एकता थी, वह भी चली गई है और इन सब के बीच बसते बहुत ही विचित्र लगता रहता है। (४-५-२४)

बाला को लेकर लीला दूसरे या तीसरे दिन महाबलेश्वर आई और हमारे साथ 'बेवली' में रही। तुरन्त उसने जीजी माँ के घर का भार उठा लिया और प्यार के भूखे बच्चे 'लीला काकी' के पीछे घूमने लगे।

इन कुछ ही दिनों में हमें विश्वास हो गया कि सामाजिक विद्रोह किये

बिना चारा नहीं है। वैशाख शुक्ला त्रयोदशी को, लीला की जन्म-गाँठ पर मैंने लीला को पंचगनी लिखा—

एक-दूसरे की बगल में रहकर 'अविभक्त आत्मा' का प्रयास देखना ही हमारे जीवन का मन्त्र, आशा और धर्म है।

इसके उत्तर में भी यही ध्वनि थी—

प्रत्येक क्षण नये भाव अनुभव करते, अकुलाते, घबराते हुए कैसे-कैसे स्वर्ग और पाताल मैंने तुम्हारे साथ देखे हैं। अखण्ड विश्वास से तुम्हारे साथ, तुम्हारे पद-चिह्नों पर ताल में पैर उठाते हुए चलने का मैंने प्रयत्न किया है। इस नये वर्ष में भी उतनी ही श्रद्धा और उल्लास से तुम्हारा अनुसरण करने का मैं व्रत लेती हूँ।

साथ-साथ खेद और अकुलाहट के तूफ़ान मेरे हृदय में आते ही रहते थे। उनका प्रतिशब्द लीला में भी था।

तुम्हारी अकुलाहट से मैं बहुत ही विकल हो गई हूँ। तुम्हारा पत्र पढ़कर मैं महाबलेश्वर आने का विचार कर रही थी। मैं स्पष्ट कहे देती हूँ कि तुम अपनी यह अकुलाहट दूर न करोगे, तो मैं वहाँ आऊँगी और समाज की प्रतिष्ठा की परवाह किये बिना हमेशा के लिए वहाँ चिपटी रहूँगी।

.......बच्चे क्या कर रहे हैं? मुझे याद करते हैं? उषा का मुझे विश्वास नहीं है; ऐसी पक्की है कि लीला काकी वहाँ नहीं है, इसलिए उसे भूल जायगी।

इस समय लीला ने पंचगनी में कॉटेज किराये पर लेने और बाला को कॉन्वेन्ट में भरती करने की चेष्टा की, पर वह सफल न हुई।

१०

'गुजरात' और गुजरात की अस्मिता

जब मैं बड़ौदा कॉलेज में था, तब से गुजरात के इतिहास से मेरी कल्पना उत्तेजित हुई थी। कॉलेज का षाण्मासिक 'मेगज़ीन' में 'गुजरात : नष्ट साम्राज्यों का कब्रस्तान'[१] नामक लेख मैंने लिखा था और सन् १९१० में 'ईस्ट एण्ड वेस्ट'[२] नामक अंग्रेज़ी मासिक में 'सोमनाथ की विजय' पर ऐतिहासिक निबन्ध लिखा था। गुजराती में मैं अच्छा लिख लेता हूँ, जब मुझे यह विश्वास हो गया, तब उसके साहित्य को समृद्ध करने का मैंने संकल्प किया। रणजीतराम के परिचय से 'गुजरात का सर्वांगीण विकास करने की महत्त्वाकांक्षा भी मेरे हृदय में जाग पड़ी थी और 'गुजरात की अस्मिता' शब्द मैंने गुजराती में प्रचलित किया। १९१५ में 'पाटन की प्रभुता' द्वारा उसकी ऐतिहासिक महत्ता निर्मित करने का मैंने प्रयत्न आरम्भ किया और 'गुजरात का नाथ' ने गुजरातियों को भूत वैभव का आभास कराया। मेरी कहानियाँ पुस्तक रूप में 'मेरी कमला और अन्य कहानियाँ' के नाम से बलवन्तराय ठाकुर ने साहित्य-परिषद् मंडोल की ओर से प्रकाशित कीं। इसमें एक हो कहानी न आ सकी। वह 'हिन्दुस्तान' के अंक में छपी थी। इस कहानी में अकबर की उदारता से एक मुगल-

१. The Grave of Vanished Empires.
२. Conquest of Somnath,

कन्या राजपूत से विवाह करती है। यह कहानी छपने से इसलिए रह गई कि मित्रों के विचार में इसके संग्रह में छपने से हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य बढ़ने का भय था और फिर यह खो गई। मुसलमानों का एकपक्षीय भय फैला हुआ था, इसका मैंने उस समय पहला स्वाद चखा। एक मुसलमान हिन्दू स्त्री को उठा ले जाता है तो इसका वह गर्व करता है; अकबर जोधाबाई से विवाह कर लेता है, इससे हिन्दू प्रसन्न होते हैं। मुगल लड़की का राजपूत से विवाह करने की कल्पित कहानी कोई लिखे, तो वह अक्षम्य समझी जाती है।

अपनी सर्जन-शक्ति का मुझे आभास हुआ, इसलिए साहित्य-संसद् और 'गुजरात' (मासिक पत्र) द्वारा गुजराती साहित्य तथा संस्कार के विकास और विस्तार के लिए मैं तत्पर हुआ। नर्मद ने 'जय जय गर्वी गुजरात' गाया था। मैंने उसे 'गुजराती साहित्य के मन्वन्तर का मनु' के रूप में एक लेख में परिचित कराया था। अपने युग के लिए मैं भी कुछ ऐसा करूँ, यह इच्छा मुझे हुई थी और इससे मजाक में या अंधभक्ति में लीला मुझे 'मनु महाराज' कहा करती।

१६२२ के मार्च में मैंने संसद् की स्थापना की और मैं उसका सभापति बना और उसके मुखपत्र के रूप में 'गुजरात' निकाला। मनहरराम मेहता, मणिलाल नाणावटी और लाभशंकर मन्त्री; विजयराय कल्याणराय उप-मन्त्री; दुर्गाशंकर शास्त्री, खुशालशाह, एरच तारापोरवाला, मुनि विद्या-विजयजी, इन्दुलाल याज्ञिक, मनसुखलाल मास्टर, चन्द्रशंकर पंड्या, ललितजी, रविशंकर रावल, छोटूभाई पुराणी, रंजीतलाल पंड्या, मोहनलाल दलीचन्द देसाई, धनसुखलाल मेहता, शंकरप्रसाद रावल, गोकुलदास रायचुरा, बटुभाई उमरवाड़िया, मस्त फकीर आदि लेखक पहले ही से मेरे सहयोगी थे। प्रत्येक ने अपने क्षेत्र में साहित्य-सेवा की थी, इसलिए हमारा एक सम्प्रदाय बन गया। और, 'स० सा० सं०' (सभासद, साहित्य संसद्) अपने नाम के साथ लगाने में हमने प्रसन्नता अनुभव की। मैंने 'साहित्य प्रकाशक कम्पनी' बनाई और उसके अधिकांश शेयर्स भी मेरे थे।

उसका चेयरमैन भी मैं था। इस कम्पनी की ओर से चैत्र १९७८ में 'गुजरात' का पहला अंक निकला। इस अंक की सम्पादकीय टिप्पणी में मैंने अपना ध्येय प्रकट किया—

हमारे साहित्य एवं संस्कार का व्यक्तित्व स्पष्ट रूप में विकसित करने के लिए चारों ओर प्रयत्न होते हैं और इस व्यक्तित्व के परिणामस्वरूप जीवन में जो संस्कार, भाषा, भाव, कला और समाज में सांस्कारिक अस्मिता प्रकट हुई दिखलाई पड़ती है, उस अस्मिता को व्यक्त करके, उसे विकसित करके, गुजरात को अन्य सब संस्कृतियों में एक संस्कारात्मक व्यक्ति के रूप में स्थान दिलाना—इस इच्छा से यह साहित्य-संसद स्थापित हुई है।

'गुजरात' का पहला अंक प्रकाशित होने के कुछ समय पहले ही गांधी जी को सजा हुई थी। अपने पहले लेख में मैंने उन्हें अर्घ्य दिया। "गुजरात ने तीन हजार वर्षों बाद फिर परम आत्मा प्रकट किया है और वह सदा आर्यावर्त का आत्मा रहेगा—भारतीयों की आशा और अकांक्षा का प्रेरक तथा प्रकाशक; उसकी संस्कृति तथा स्वातन्त्र्य का प्रतिनिधि। न्याय तथा स्वातन्त्र्य प्राप्त करने के लिए लड़ रही जनता भविष्य में भारत को भी पहचानेगी, इस अमर महात्मा की पुण्यभूमि के रूप में ही।"

इसी अंक से 'गुजरात का नाथ' के अनुसन्धानस्वरूप 'राजाधिराज' उपन्यास आरम्भ किया। 'गुजरात का नाथ' में मैंने ज्यों पाटन और जूनागढ़ का सम्बन्ध दिखाया था, त्योंही अब भड़ौंच के साथ का सम्बन्ध दिखाने लगा। मेरी विनीत याचना स्वीकृत करके नरसिंह राव ने अपने ज़माने के गुजराती व्यक्तियों के शब्दचित्र 'स्मरण मुकुर' नामक लेखमाला में देना शुरू किये। ललितजी की कविता 'सखि आजेय एक बसन्ते', मनहरराम का लेख 'गुर्जर संगीत', खुशालशाह का नाटक 'मुझे नहीं ?', रायचुरा का 'गुजरातिन राधा' और धनसुखलाल का 'हमारा उपन्यास'—इन सब लेखों से हमने 'गुजरात' का श्रीगणेश किया। दूसरे महीने में बलवन्त राय ठाकुर 'मातृ-स्नेह' नामक कविता से, और दुर्गाशंकर शास्त्री गुजरात

के तीर्थधामों की माला 'मोढेरा के सूर्य-मन्दिर' वाले लेख से हमारे साथ हुए। 'संसद्' और 'गुजरात' की मुद्रा पर परशुराम का फरसा, श्रीकृष्ण का गरुड़ध्वज और सिद्धराज का कुक्कुटध्वज हमने अंकित करवाया। मनहरराम की एक कविता को अपना मुद्रा-लेख बनाया। उसमें उन्होंने 'गुजरात' का स्तवन किया था—

जयथजो, जय थजो—
ज्यां वस्या राम भार्गव वडा,
कृष्ण यादवपति, मोहन महान् नर—
ते पट्टणाधीश जयसिंह सिद्धराजेन्द्रनी
पुनित गुजरातनो।

इस प्रकार गुजरात के ऐतिहासिक महत्त्व की मेरी कल्पना साहित्य में मूर्तिमान हुई।

गुजरात का लेखक-समुदाय रंग-बिरंगा था। विजयराम, बटुभाई, और शंकरप्रसाद हमेशा कुछ-न-कुछ लिखते। दुर्गाशंकर शास्त्री ऐतिहासिक लेखों से पुरातन गौरव के दर्शन कराते। चन्द्रवदन मेहता ने भी अपनी आरम्भ की कविताएँ 'गुजरात' में ही छपवाईं। 'कान्त' भी लिखते थे। बाद में उनका 'रोमन स्वराज्य' नामक नाटक 'गुजरात' में ही प्रकाशित हुआ था। हम प्रतिमास नये विषय, नई शैली, नये दृष्टिकोण प्रस्तुत करके, 'गुजराती' साहित्य की सुघड़ रीति का विच्छेद करने लगे। जब 'मेरी काम-चलाऊ धर्मपत्नी' नामक मेरी कहानी छपी तब रविशंकर रावल ने अपने बनाए चित्रों पर अपना नाम देने की मनाही कर दी। इस प्रकार 'गुजरात' के romantic school—विविध रंग प्रधान साहित्यिक सम्प्रदाय—का आरम्भ हुआ।

१९२२ के मई महीने में लीला का और मेरा पत्र-व्यवहार शुरू हुआ और 'गुजरात' के श्रावण के अंक से उसने साहित्य-जगत् और हमारे मंडल में प्रवेश किया। संसद् के सभापति के हृदय में तो वह कभी से बसी थी।

उस समय से ही अपनी भाषाओं की आवश्यकता को मैंने महत्त्व देना

आरम्भ किया। सर चिमनलाल सेतलवाड ने अंग्रेजी की हिमायत की; मैंने उसका विरोध किया। 'जिस आन्दोलन के विरुद्ध सर चिमनलाल ने गर्जना की है, अब उसके स्वरूप को भी देख लिया जाय। वह आन्दोलन यह कहता है कि जिस भाषा के शब्द और स्वरूप हमारे पूर्वजों के जीवन और विचार से गढ़े गए हैं, जिस भाषा द्वारा हमारे पूर्वजों ने राष्ट्रीय संस्कार तथा भावनाएँ व्यक्त की हैं, जिस भाषा से हम सामाजिक एकता उत्पन्न कर सके हैं, उसी भाषा से विकास पा रहे जन-समाज के संस्कार गढ़े जाने चाहिएँ। उसी भाषा द्वारा ज्ञान मिलना चाहिए, उसी भाषा द्वारा विचार और भाव प्रदर्शित करने की आदत पड़नी चाहिए, उसके विकास पर ही शिक्षा का आधार रहना चाहिए।'

१९२२ के अक्तूबर से लीला की और मेरी साहित्य-विषयक साझेदारी शुरू हो गई। हम 'गुजरात' के लिए लेखों की योजना करते, प्रूफ़ देखते और चित्रकारों को चित्रों की कल्पना देते। उसकी प्रेरणा की आवाज़ मेरे साहित्य में पड़ने लगी। उसका व्यक्तित्व कुछ अंश में 'गुजरात' में प्रकाशित हो रहे मेरे उपन्यास 'राजाधिराज' की मंजरी में प्रविष्ट हो गया। मैंने 'दो शब्द' में (कार्तिक १९७९) दासी, डोसी (वृद्धा) और देवी, इस प्रकार स्त्रियों के तीन भाग किये और उसमें अपनी पिपासा प्रकट की।

'प्रत्येक पुरुष शिवाजी महाराज की तरह भवानी के—अपनी स्त्री सम्बन्धिनी के—चरणों में गिरकर प्रार्थना करने लगता है। उसे केवल आशीर्वाद की जरूरत नहीं होती, उसे तो प्रेरणा के रूप में तेजस्वी खड्ग की आवश्यकता होती है। और जब उसे 'भवानी' न मिले या उसकी 'भवानी' तलवार न दे सके, तब वह उठकर जीवन-रंग में जूझ पड़ता है—निराशा में और निष्फलता में।···ऐसी प्रेरणामूर्ति प्राप्त करना ही पुरुषों के जीवन का ध्येय होता है।'

दिसम्बर १९२२ में मैंने 'स्त्री-सुधारक मण्डल का वार्षिकोत्सव' नामक कहानी में, अपनी परिचित महिलाओं का संक्षिप्त चित्रण, बिना नाम के किया। उनमें जीजी माँ, लक्ष्मी और लीला, इन तीनों के चित्रण भी थे।

लीला ने 'गुजराती साहित्य के स्त्री पात्र' लिखे और 'रेखा-चित्र' वाली लेखमाला को आगे बढ़ाया।

१६२३ के जून में हम विलायत से लौटे और हमारे साहित्य में नये फल आए। लीला ने 'मार्गोट एस्क्विथ' पर लेख लिखा। जाने-अजाने पति की बगल में खड़े होकर सहयोगिनी बन जाने वाली स्त्रियों का आदर्श उसे आकर्षित करने लगा। 'पत्नी के रूप में, अपने पति के कार्यों में उसने एकता साधी थी। माता के रूप में, अपने ही बालकों को ठीक समझने वाली, वह अभिमानिनी माता थी। वैविध्य से पूर्ण और उत्साहित करने वाली वह मित्र थी।' (आषाढ़ १६७६ का अंक)

उसी अंक में मैंने 'एक प्रवास' : यूरोप की अपनी यात्रा की 'अनुत्तर-दायित्वपूर्ण कहानी' शुरू की। हम जगत् को अपने साहचर्य की घोषणा सुनाने में आनन्द का अनुभव करते थे; और 'राजाधिराज' में हमारी उस निराशा की आवाजें सुनाई पड़ने लगीं, जिसे हम एक-दूसरे से कह नहीं सकते थे।

> एक मन्त्री था; दूसरी महारानी थी। जिस विधाता ने उन्हें एक होने को बनाया था, उसने उनके बीच असंख्य और दुस्तर अन्तराय भी पैदा किये थे। दोनों ने सिर झुकाया और आज्ञा स्वीकृत की। मन्त्री मुंजाल की आँखों का प्रकाश कुछ धीमा पड़ता दिखलाई पड़ा। दूसरे ही क्षण उसने बात शुरू की। अकाव्य बन्धन से बँधी वल्लरी ने कठोर वैधव्य पद का एकाकीपन स्वीकृत कर लिया, उसकी त्यागवृत्ति ने उन्हें सदेह मृत्यु का स्वाद चखाया।
>
> 'परन्तु मेहता जी,' रानी के स्वर में भाव का संचार पहली बार हुआ। 'इस त्याग से पैदा हुई सुगन्ध ने सारी सृष्टि सजीव भी की या नहीं ?'
>
> 'यह तो पता नहीं,' मुंजाल ने आगे कहा, 'परन्तु इस सुगन्ध में लिपटी उनकी एकता पर वे जीने लगे।' मन्त्री ने सतर्क

होकर चारों ओर देखा, और जैसे वे जये वैसे ही मरे——अकेले।

इसके पश्चात् हमारे अविभक्त आत्मा के लिए तड़पते आत्मा के रुदन के रूप में 'अविभक्त आत्मा' नाटक मैंने लिखा। मैंने वसिष्ठ के मुख से प्रार्थना की—

सहस्राक्ष! तुमने मेरे अन्तःकरण में बसकर कहा था कि मैं और अरुन्धती एक हैं। देव, मैं उसके बिना जी नहीं सकता। उसके बिना तप-साधना नहीं कर सकता। तुमने मुझे सिखाया—'मैं और वह भिन्न नहीं हैं। तुमने एक आत्मा और दो अंगों को काल-सरिता में बहते छोड़ दिया। अपने व्रत के पालनार्थ तुम उन अंगों को साथ लाये। अब हमारे एक आत्मा के दर्शन कराओ। इस दर्शन के बिना मैं दुखी हूँ।

पिता वरुण, मेरी शक्ति, मेरा तप यह मेरे नहीं हैं। यह सब उस आत्मा के हैं। वह आत्मा दो शरीरों में रहता है। वह ज्योति दोनों को जिलाती है। वह ज्वाला दोनों के तपोबल ज्वलन्त रखती है। अब उस आत्मा का उद्धार करने को आओ, अब प्रेरित करो उसी आत्मा के उत्साह को। अब स्वीकृत करो उसी आत्मा की अञ्जलि। वसिष्ठ और अरुन्धती जुदा नहीं हैं, एक हैं। पिता, मैं वसिष्ठ, तुम्हारा पुत्र''''तुम्हारे तप के बल से संकल्प करता हूँ कि तुम्हारे बनाये इस आत्मा को मैं एक और अभिन्न रखूँगा।''

जब आर्यावर्त के लब्धप्रतिष्ठ व्यक्ति वसिष्ठ का आश्रम जलाने को आते हैं, तब अरुन्धती को आत्मा के दर्शन होते हैं। वह वसिष्ठ से कहती है—

आज तुम्हें अकेला यहाँ देखा, तब इस आत्मा का मुझे दर्शन हुआ। वसिष्ठ, मैं मूर्ख थी। हम दोनों एक हैं। भिन्न देह में एक आत्मा बसती है। चलो, चलो।''

अरुन्धती फिर कहती है—

''ब्रह्मचर्य की अपेक्षा ऋत बड़ा है। हमने एक साथ जन्म लिया है—वर्षों हुए; एक हैं; हमारा आत्मा एक है।''

इन शब्दों का अर्थ हम अकेले ही समझते थे, यह बात नहीं थी। हमारे सम्बन्धी और गुजरात के बहुत से साहित्य-रसिक और परिचित भी यह बात समझ गए। कुछ को खेद हुआ, बहुतों ने मज़ाक उड़ाया—निन्दा की; और हमारा छोटा-सा जगत् इस आत्मा को स्वीकृत करने लगा। यह नाटक लिखते समय, मेरी कल्पना भविष्य की ओर भी दृष्टि दौड़ाने लगी। जगत् हमें किस प्रकार जलाएगा, हमारा आश्रम किस प्रकार उजाड़ देगा, इसकी भी छाया इस नाटक में है। और आखिर में वसिष्ठ-अरुन्धती के एक होने पर उनके जीवन की सफलता कैसी हुई, इसमें भी मैंने अपनी असाध्य-असम्भव आशा के स्वप्न का चित्रण किया।

'अविभक्त आत्मा' केवल आत्मकथन नहीं था। इसमें श्रीनानालाल के 'जया जयन्त' में लिखित सिद्धान्त को ललकार थी और आधुनिक जीवन की एक जटिल समस्या का हल था। 'जया जयन्त' में दो समान वयस्क युवक-युवती, प्रेम में निमग्न रहते हुए, कोई भी अन्तराय न होते हुए विवाह को दुत्कारकर, जीवन-भर ब्रह्मचारी बने रहने का उपक्रम करते हैं, ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। इस विघातक सिद्धान्त का यह नाटक जवाब था। देह, ऊर्मि और आदर्श, इन तीनों की समग्र तन्मयता में से ही अविभक्त आत्मा प्रकट होती है, और वह प्रेम, विवाह और सर्वांगीण अभेद्यता में मूर्त रूप धारण करके आनन्द से रहता है। यह सार मेरे नाटक का है।

दूसरा सत्य भी मुझे मिला। बहुत वर्षों से आधुनिक दाम्पत्य की समस्या मुझे व्याकुल किये थी। स्त्रियाँ सुशिक्षित और स्वतन्त्र होती जाये रही थीं, और प्राचीन काल की तरह पुरुष उन्हें अपहरण कर लाये हुए पशु की भाँति नहीं रख सकते थे। विवाह से धर्म की भावना कम हो रही थी। यह स्पष्ट था कि सीता की तरह एकांगी भक्ति स्त्रियाँ नहीं कर सकतीं। पुराने ढंग के विवाह में पशुता थी। यूरोपीय 'लव' में चंचल मोह की मुझे गन्ध आती थी। इसलिए, सम-संस्कारशील और समवयस्क प्रेमियों के सम्बन्ध की अचल नींव पर इसकी रचना हो, जिस प्रकार दोनों के बीच एक ही आत्मा है,

ऐसी दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न करनी ही होगी। इसी से, सप्तपदी से भी सुदृढ़ प्रेरक अभिन्नता लाई जा सकती है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को उन्नत करने के लिए, इसके सिवा कोई अन्य भावना मुझे नहीं मिली थी।

यह केवल सत्य का दर्शन नहीं था—हम दोनों के जीवन की धुरी थी। अपने लेखों से, अपने साहचर्य से और उसमें निहित अदृष्ट, किन्तु कल्पना को उत्तेजित करने वाले रहस्यों से हम गुजरात के हृदय में बसे थे। 'गुजरात' ने गुजराती अग्रगण्य स्त्री-पुरुषों के नामों की एक स्पर्धा प्रकाशित की थी, और उसमें विविध नगरों और गाँवों से जो मत आये, उनमें प्रथम दस पुरुषों के नामों में मेरा, और प्रथम दस स्त्रियों में लीला का नाम था।

संसद की स्थापना में सर्वप्रथम उत्साह मुझे मनहरराय मेहता से मिला था। यह स्वभाव के बड़े रंगीले लखनौआ नज़ाकत-नफ़ासत वाले, साहित्य के शौकीन, हाईकोर्ट के दुभाषिया और साथ ही कवि भी थे। संगीत के ज्ञान का इन्हें अभिमान था। सूरत की साहित्य-परिषद् के यह मन्त्री थे और साहित्य में नडियाद के नगरों के दावे का सदा से विरोध करते आये थे। गुजरात के लिए इन्हें गर्व तो था ही, तिस पर मैं मिल गया। मणिलाल नाणावटी के भी ये मित्र थे। इसके बाद ये 'महामात्य मुंजाल' के नाम से परिचित हो गए और इस प्रकार परिचित होने में उन्हें आनन्द भी मिलने लगा। मेरे चेम्बर में ही ये आ जाते और वहीं बैठकर नित्य साहित्य के विकास की योजना बनाया करते। 'संसद्' शब्द भी रामायण में से उन्हें मिला था और उन्होंने हमारी संस्था के लिए सूचित किया था।

नरसिंहराव और मनहरराम एक-दूसरे के कट्टर विरोधी थे। दोनों अपने को संगीत में निष्णात मानते और एक दूसरे के ज्ञान का तिरस्कार करते थे। मनहरराम द्वारा योजित अपद्यागद्य की नरसिंहराव छीछालेदर करते और नरसिंहराव की वे अधिक कटोर टीका करते, तो मनहरराम लड़ पड़ते। कुछ वर्षों बाद मेरे मुँह से निकल गया कि हमारी संस्था का 'संसद' नामकरण मनहरराम जी का किया हुआ है। मनहरराम ने कहा—'अवश्य, मैंने

'रामायण' में से खोज निकाला है। नरसिंहराव ने जवाब दिया—'झूठी बात, मैंने खोजा है।' इस द्वन्द्व-युद्ध को ज्यों-त्यों करके मैंने समाप्त किया। दूसरे दिन नरसिंहराव अपनी डायरी ले आए और जिस दिन संसद् का नामकरण हुआ, उस दिन के अपने नोट में उन्होंने लिखा था—'मुन्शी ने मुझसे पूछा कि संस्था का नाम क्या रखा जाय। मैंने कहा—साहित्य-संसद्।'

इस दस्तावेजी गवाही से मनहरराम कहीं मात खा सकते थे! उन्होंने कहा—'अपनी डायरी में तुम जो चाहे लिखो, उससे मुझे क्या मतलब ?' यह झगड़ा वाक्-युद्ध बन खड़ा हुआ। मुझे स्पष्ट रूप में स्मरण था कि यह नाम मनहरराम ने ही दिया था, परन्तु नरसिंहराव की डायरी को ब्रह्मवाक्य माने बिना छुटकारा नहीं था। इसमें जो नोट होता, वह शाम को लिखा जाता और चाहे जब दिखाया जा सकता था। डायरी की बात में, साधारणतया, नरसिंहराव ही सही हों, और दूसरा पक्ष गलत हो—यह हो सकता है। परन्तु, नरसिंहराव की गहन दृष्टि को कोई नहीं पा सकता था। छोटी बात को भी वे बड़ी सतर्क दृष्टि से देखते थे। गुजराती भाषा, साहित्य या शब्द भी व्युत्पत्ति का प्रश्न हो, तो उसका पीछा नहीं छोड़ें। मनुष्य के लिए भी यही बात थी; एक बार कोई मन से उतर जाता तो फिर उसे अपने जगत् से बाहर निकाल छोड़ते—सर्वदा के लिए।

ज्यों-ज्यों नरसिंहराव के साथ मेरा सम्बन्ध गाढ़ा होता गया, त्यों-त्यों बलवन्तराय के मन से मैं उतरने लगा। परन्तु वे संसद् के शिरछत्र थे। मैं उन्हें गुजराती का भीष्मपितामह कहता था। आधुनिक गुजराती कविता के जनक और गुजराती भाषा-शास्त्र के वे आद्य विद्वान् थे। उनकी गुजराती शैली में जो अर्थ-गाम्भीर्य, गौरवशीलता और वेधकता थी, वह और कोई प्राप्त न कर सका। आरम्भ ही से उन्होंने संसद् के साथ तादात्म्य कर लिया था। मेरे कहने पर उन्होंने 'गुजरात' में 'स्मरण मुकुट' लिखकर गत गुजरात का शिष्ट संसार सजीव किया। संसद् की बैठकों में हमेशा पहले बोलने के लिए मैं उनसे प्रार्थना करता और वे बोलते; किन्तु प्रत्येक बार प्रस्तावना अवश्य

रचते और कहते—'मैं संसद का सदस्य नहीं हूँ, तो भी···' एक बैठक में मैंने उत्तर दिया कि 'ये संसद के सदस्य नहीं हैं, पर—अत्यतिष्ठत् दशाङ्गुलम्'—संसद् में व्याप्त होकर भी दस अंगुल ऊपर रहे हैं। यह वर्णन उन्हें बहुत भला लगता।

संसद के प्रथम उत्सव में उन्होंने कहा—"हम सब मुन्शी नहीं हैं। मुन्शी अपने चेम्बर में अपनी घूमती कुरसी पर बैठकर चक्कर लगाते जाते हैं, साहित्य-चर्चा करते जाते हैं; बीच में ब्रीफ़ पर गिन्नियों की संख्या लिखवाते जाते हैं, आज के सभापति-पद से दिये जाने वाले भाषण को लिखते जाते हैं; और बीच में 'प्रगतिवान्' या 'प्रगतिमान्' की शंका पर पूछताछ भी करते जाते हैं। इस प्रकार बहुरंगी प्रवृत्ति में रमते रहकर अष्टावधान का चमत्कार दिखलाने वाले हम सब नहीं हैं, यह मैं जानता हूँ। परन्तु इसीलिए, इस संस्था के तन्त्र में स्थायित्व लाने के लिए, अनेक मुन्शियों के उत्पन्न होने की आवश्यकता मैं अधिक बलपूर्वक प्रकट करता हूँ।"

उनका आत्मा योद्धा का था। बचपन से ही वे युद्ध-विलासी थे। समाज के साथ, कुटुम्बीजनों के साथ, साहित्य के आदर्श और साहित्यकारों के साथ वे लड़ते ही रहे। अपनी पुत्री के विवाह के कारण, उन्होंने जगत् से विद्रोह किया।

उनका और सुशीला बहन का दाम्पत्य-जीवन वृद्धावस्था में बहुत ही सुन्दर हो गया था। नरसिंहराव को कुछ लोग दुर्वासा कहते थे। इन क्षिप्रकोपी—तुरन्त क्रोधित हो उठने वाले—के क्रोध को जीर्ण करने वाली सुशीला बहन थी। हम अनेक बार—मेरे यहाँ या उनके यहाँ बांदरा में मिला करते और घण्टों साहित्य तथा इसी प्रकार के अन्य विषयों की चर्चा किया करते।

उदीयमान साहित्यकारों में विजयराय, बटूभाई और शंकरलाल सबसे अधिक हमारे निकट थे। विजयराय सदा के रोगी और चिड़चिड़े स्वभाव के थे, पर उनकी विवेचना-दृष्टि बहुत ही सटीक, विवेकपूर्ण और संस्कारात्मक थी। जो दृष्टि हम सर्जनात्मक साहित्य में उत्पन्न करने का प्रयत्न करते थे,

वही दृष्टि उनकी विवेचना के प्रति थी। स्वभाव के वे मनस्वी और व्यक्तित्व के अप्रखर; इसलिए गुजरात ने उनके प्रति बड़ा अन्याय किया। उन्होंने अपनी एकपक्षीय डायरी लिखकर छपवाई और बदला लिया है।

१९२२ के पश्चात् गुजराती-विवेचन में यह नया, परन्तु सत्य और सनातन दृष्टिबिन्दु विजयराय ने उत्पन्न किया—

'शेली ने जिसे कवि के सर्वोत्कृष्ट और सबसे सुखकर क्षण कहे हैं, वह उसने (इस जन्मजात साहित्यकार ने) अनुभव किये होते हैं और उन क्षणों के सम्वेदन का कलात्मक वाणी के रूप में आविर्भाव करना भी उसे स्वयमेव सूझता है। उसके लिए इतना बस है। रसयोगी की इस समाधि के समय आनन्द क्या है? ज्ञान क्या है? सादगी और सचाई क्या है? आनन्द और विलास क्या है? नीति क्या और कला क्या है? ये प्रस्तुत प्रश्न उसे व्याकुल करते होते तो आज जगत् के साहित्य-ग्रन्थ कोरे पड़े होते और उस अलिखित साहित्य के विद्वत्तायुक्त विवेचन के सिवा और कुछ पढ़ना इस अभागी दुनिया के भाग्य में लिखा ही न होता······

नाटक पढ़ने से हमारे मन पर पूरा संस्कार क्या और कैसा पड़ता है? इस प्रश्न के मूल में निहित सादा और स्वाभाविक सिद्धान्त ही विवेचन का सबसे उत्तम और सबसे निर्दोष सिद्धान्त है। और इस निष्कर्ष पर पहुँचकर जब 'उगती जवानी' (विकसित यौवन) की कसौटी की जाय, तब वह राँगा नहीं मालूम होता, पर कंचन कहते हुए भी बहुत संकोच होता है।'

विजयराय मेरे प्रति बहुत स्नेह और आदर रखते थे। परन्तु उनका चित्त अस्वस्थ था और स्वाभिमान की भावना बहुत ही सुकोमल थी। वे जब मुझसे उकता जाते, तब उनकी यह भावना ऐंठ पड़ती, किन्तु जल्दी ही यह ऐंठन दूर हो जाती और फिर ज्यों-के-त्यों स्नेहमय बन जाते। उनकी रसदृष्टि सूक्ष्म और सर्जक थी। जब वे लिखने बैठते, तब गुलूबन्द और खाँसी की परवाह न करके विवेचक या विचारक के सिंहासन का

सम्मान बढ़ा देते। जब उनकी कोमल भावनाएँ दुखाई जातीं, तब वे भारी हो पड़ते।

बटुभाई उमरवाड़िया को मैं बचपन से जानता था। मेरे पिताजी सूरत में जब—१८५७ में—तहसीलदार थे, तब बटुभाई के पिता हेड क्लर्क थे। उस समय बटुभाई अधिकांश हमारे ही यहाँ रहते थे। उनकी बुद्धि बहुत चंचल और लेखनी तेजस्वी, तीखी और कभी-कभी बड़ी घातक थी। बातचीत में कोई विचार या कहानी का मसाला हाथ लग जाय, तो रात को बैठकर लिख डालते। किसी की छीछालेदर करने को वे हमेशा तैयार रहते। तीखा बोलने की उनकी कला सूरत वालों की-सी थी। उनके नाटकों में अद्भुत अँगुली-स्पर्श से निकला संगीत भी कभी-कभी सुनाई पड़ता। साहित्य-सर्जन को वे धर्म नहीं मानते, क्षण-भर का चंचल आनन्द ही समझते थे। उन्होंने मेरी बड़ी सहायता की और कभी-कभी मेरे लिए उलझनें भी खड़ी कर दीं। मुझे उनसे बहुत आशाएँ थीं, परन्तु आर्थिक कठिनाइयाँ उनकी अंकुरित लेखन-शक्ति को पाला मार गईं।

मस्त फकीर भी बहुत बार मेरे घर पर या चेम्बर में आया करते थे। उस समय उनकी विनोदवृत्ति खूब उमड़ पड़ती थी। उसमें प्रश्नोरा नागर का स्वाभाविक कटाक्ष और विनोद अवश्य रहता, पर द्वेष से दूर। पट्टनी साहब ने प्रथम विश्व-युद्ध के समय प्रश्नोरा पलटन बनाकर वैद्यों और जोतिषियों को बेलजियम में लड़ने को भेजा था। यह किस्सा वे बहुत ही सुन्दर ढंग से कहते थे। कभी-कभी यह चर्चा उठ खड़ी होती कि 'गुजरात' के लिए हास्य-कहानी क्या लिखी जाय। एक दिन हम नारायण-वसनजी ठक्कर कृत 'मयणल्लादेवी' के विषय में बातचीत कर रहे थे। यह पुस्तक नारायण ने मेरी 'पाटन की प्रभुता' के प्रत्याघात-स्वरूप लिखी थी। अपने इस उपन्यास में गुजरात की महारानी को मैंने भ्रष्ट कर दिया है, यह समझकर समर्पणपत्र में उन्होंने 'सती मीनलदेवी' को सम्बोधित करके लिखा था—'माता मीनलदेवी, इस भड़ोंची ब्राह्मण को क्षमा करना।' मैंने मस्त फकीर को व्यंग-कटाक्षपूर्ण कल्पना दी कि बारहवीं शताब्दी की वास्तविक मीनलदेवी

कैसी होगी। उन्होंने जाकर तुरन्त 'नारायण काकाना नाथिया' के उपनाम से एक कहानी लिख डाली। वह 'हिन्दुस्तान' में छपी। नारायण काका, साबरमती के तट पर मीनलदेवी की खोपड़ी को सम्बोधन करके भड़ोंची ब्राह्मण को क्षमा कर देने की प्रार्थना करते हैं। नारायण काका तुरन्त स्वर्ग पहुँचते हैं, जहाँ पुरानी मारवाड़िन के ढंग की मीनलदेवी और उसके पास बूढ़े गुमास्ते की तरह महामात्य मुंजाल बैठा है। नारायण काका उनसे मेरी फरियाद कहते हैं। मीनलदेवी मुंजाल मेहता को आदेश करती हैं—'अरे मुंजाल, इस ब्राह्मण ने तो गजब कर डाला। हमारे विषय में ऐसी-ऐसी बातें लिखता है। बुला उसे!' मुंजाल दूतों को भेजता है और बहस करते हुए, चोगे सहित, मुझे कोर्ट से सीधा स्वर्ग को ले जाया जाता है और मीनलदेवी मुझे फटकारती है।

नारायण ने 'हिन्दुस्तान' पर मानहानि का दावा किया और उस पत्र के सम्पादक को माफी माँगनी पड़ी, ऐसा कुछ मुझे स्मरण है।

शंकर प्रसाद मेरे बचपन के मित्र थे। अनेक दुःख और कठिनाइयाँ सहकर वे पढ़े थे और मास्टरी करते हुए भी उनका साहित्य-प्रेम बना रहा था। पहले ही से वह संसद में शामिल हो गए थे और लीला के मुनीम बन जाने के बाद तो बहुत बार वह उसी के यहाँ रहते थे। कई बार, 'गुजरात' की उखाड़-पछाड़ के समय वे उपस्थित रहा करते और दुकान का हिसाब लिखना भूलकर लेख लिखने या संशोधन करने में लग जाते।

धनसुखलाल और रायचुरा भी हमारे संघ में अवश्य थे, परन्तु उनसे गाढ़ परिचय बाद में हुआ। लाभशंकर भट्ट रणजीतराय के भक्त थे, पर हमारे मण्डल में शामिल थे। जब 'साहित्य प्रेस' स्थापित हुआ, तब मैंने उन्हें व्यवस्थापक नियत कर दिया।

मणिलाल नानावटी तो परम मित्र थे ही। भाई से भी बढ़कर उनका सद्भाव था। उन्होंने संसद का भार उठा लिया—साहित्य से उन्हें अधिक स्नेह नहीं था, तब भी।

'ललित' जी भी हमारे संघ में, दूर से, किन्तु मेरे साथ स्नेह-सम्बन्ध

के कारण जुड़ गए थे। जब-तब वे संसद की बैठक में या घर पर आया करते, मैंजोरे के साथ गीत गाते और मुझे अत्यन्त स्नेह का पात्र बना लेते।

हमारी यह सेना, गुजरात की अस्मिता (अभिमान) की सिद्धि के लिए रण में उतर पड़ी थी। १९२३ के वार्षिकोत्सव के समय उसने नई संघशक्ति प्राप्त की।

दूसरी सितम्बर १९२३ के दिन संसद का पहला वार्षिकोत्सव हुआ और मेरे प्रथम प्रारम्भिक भाषण में 'गुजरात—एक सांस्कारिक व्यक्ति' का मैंने दिग्दर्शन कराया। तभी से मैंने प्रान्तीय अस्मिता—अभिमान—की मर्यादा निश्चित की। 'आर्यों के प्रबल आत्मा ने इन सब प्रान्तों के जीवन और संस्कार में ऐसी एकता ला दी है कि अलग दिखलाई पड़ने वाले प्रान्तों पर भारतीय राष्ट्रीयता की अटल छाप पड़ गई है और इस कारण, प्रान्तिक अस्मिता दृढ़ होने पर राष्ट्रीयता का विकास नहीं रुकेगा।' उस समय, प्रान्तिक अस्मिता राष्ट्रीयता के उच्छेदक भाषावाद—Linguism—में परिणत हो जायगी, यह मुझे खयाल नहीं था।

'गुजरात की अस्मिता' का संदेश गुजरात को देते हुए मेरे अन्दर आत्म-श्रद्धा प्रकट हुई। 'गुजरात की सांस्कारिक अस्मिता इन सब प्रवृत्तियों पर अधिष्ठात्री के रूप में विराजमान है। जाने-अजाने सब एक और अविभक्त गुजरात का अंग बन जाती हैं।'

इस भाषण का गुजरात पर गहरा प्रभाव हुआ।

लीला बहन, देसाई और लीला ने 'जय-जय गरवी गुजरात' गाकर उत्सव का प्रारम्भ किया। गुजराती पत्रों में इस बात की भी खूब चर्चा रही। दो महिलाओं 'ने पुरुषों की सभा में तबला और सारंगी के बीच बैठकर गाया! नैतिक संकट आ पड़ा। 'गुजराती' पत्र को मुझे फटकारने का एक कारण मिल गया। किसी ने एक पत्र में लिखा कि मुन्शी गुजराती स्त्रियों को वेश्याओं का पेशा सिखा रहे हैं। उस समय किसी को पता नहीं था कि लीला के साहचर्य से गुजराती-जीवन को संगीत और नृत्य

से कलामय बनाने का मेरा स्वप्न, आकार ग्रहण करता जा रहा था।

मेरे लिए यह उत्सव गर्व का दिन था। परन्तु श्रान्त हृदय दूसरे दिन व्यक्तिगत पत्र में रुदन कर उठा।

११

साहित्य में सहचार : 'प्रणालिकावाद का' विरोध

राजनीतिक जीवन का मैं अब साक्षी-मात्र ही रह गया था। मैं केवल नोट ही लेता रहा। नवम्बर १६२३ में धारा-सभा का चुनाव हुआ; विट्ठल भाई और जमुनादास मेहता केन्द्रीय धारा-सभा में चुने गए। साम्राज्य-परिषद् में सर तेजबहादुर सप्रू ने 'निष्फल साहस' दिखाया। १२ जनवरी १६२४ के दिन, जेल में, महात्माजी का ऑपरेशन हुआ और ५ फरवरी को वे मुक्त हुए। मैंने साम्राज्य का आदर्श चित्रित किया—"साम्राज्य का आदर्श यही हो सकता है कि भिन्न-भिन्न संस्कार वाले राष्ट्रों में एकता लाकर समस्त समूह में व्यक्तित्व प्रकट किया जाय और यह आदर्श तभी पूर्ण हो सकता है, जब प्रत्येक राष्ट्र को अपने संस्कार विकसित करने तथा समान स्वत्व भोग करने की स्वतन्त्रता हो।"

अप्रैल में खिलाफत के लिए बड़ी व्यग्रता थी। उसका मैंने विरोध किया। "इतिहास स्पष्ट बतलाता है कि धर्म और शासन को जब-जब संयुक्त किया गया है, तब-तब उसने सदा ही अनर्थ उत्पन्न किया है। यूरोप के मध्यकाल के इतिहास और पोपों की जीवन-कथाओं से इसके अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं। धर्म जब राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश करता है, तब वह केवल धर्म का सिद्धान्त और जनकल्याण की भावना के रूप में नहीं रह जाता, बल्कि शासन की भूख और विजय का उन्माद उसमें आ जाता

है और अन्त में उसका अधःपतन होता है।"

'गुजरात' का कार्य आगे ही बढ़ता गया। मेरा 'प्रवास' और लीला के 'यूरोप की यात्रा के पत्र' साथ-ही-साथ प्रकाशित हुए। 'साहित्य' में चन्द्रवदन मेहता की कविताएँ प्रकाशित हुईं।

मैं गुजरात की अस्मिता और अविभक्त आत्मा की सिद्धियों की खोज में निमग्न था। 'गुजरात' के दो वर्ष पूर्ण होने पर, मैंने उसके पराक्रमों पर टिप्पणियाँ लिखीं।

"गुजरात की संस्कृति की दृष्टि से, इसने अपनी दृष्टि में आई हुई वस्तुओं का मूल्य आँकने का प्रयत्न किया है; गुजराती साहित्य के उत्कर्ष-साधन को ध्येय रखा है; विशुद्ध रसिकता विकसित करने की भावना रखी है और कला के आदर्श बनाये रखने का कर्तव्य इसने अपनाया है।"

पहली मार्च १६२४ के दिन, संसद की वार्षिक सभा में 'श्रीमती लीलावती सेठ' सदस्या चुनी गईं। उसी सभा में 'गुजराती साहित्य' की मेरी योजना स्वीकृत हुई। दस भागों में गुजराती साहित्य का इतिहास विभिन्न निष्णात विद्वानों से लिखवाना निश्चित हुआ। उसका प्रथम भाग 'साहित्य : उसका स्वरूप और प्रकार' लिखने का भार मैंने अपने ऊपर लिया। सहकारी पद्धति से साहित्य तैयार करने का यह मेरा पहला प्रयत्न था। प्रथम भाग का एक खण्ड मैंने लिखा। 'मध्यकालीन साहित्य' नामक पांचवें भाग में अम्बालाल जानी ने 'भक्ति-साहित्य' पर लेख लिखने का वचन दिया। लगभग पचीस बार उनकी सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ीं, महीनों छपाई बन्द रखी गई और अन्त में दो मास पश्चात्, ज्यों त्यों करके इस लेख को लिखने का उत्तराधिकार मुझे सौंप दिया गया।

१८ अप्रैल १६२४ को, 'राजनीतिज्ञता का कारखाना' माने जाने वाले भावनगर में, साहित्य-परिषद् का सातवाँ अधिवेशन हुआ। उस समय परिषद् की पतवार रमण भाई के हाथ में थी और उसके प्रमुख कार्यकर्ता थे हीरालाल पारेख। बलवन्तराय ठाकुर परिषद् का कोष राजकोट से इकट्ठा करके पूना ले गए और उसका सब कार्य वे अपने अकेले हाथों करते

रहे। परिषद् का संघटन हो जाने पर, सम्भव है, इस कोष को कोई माँग बैठे, परिषद् के प्रति बस यही उनकी दिलचस्पी थी; इसलिए, जब परिषद् के संघटन की बात उठती, तब वे उसे किसी-न-किसी प्रकार समाप्त कर देते। मट्टुभाई काँटावाला ने इस परिषद् के संघटन का प्रण कर लिया था। विकास पा रहे रमणलाल याज्ञिक ने इस परिषद् में उत्साहपूर्ण कार्य किया, तब से यह परिषद् व्यवस्थित हुई।

जब राजकोट से परिषद् गई, तब से बलवन्तराय ठाकुर और नानालाल कवि के बीच शत्रुता हो गई और कवि जी ने परिषद् का परित्याग कर दिया। नरसिंहराव का इक्का अलग था। इनके सिवा सभी गुजराती लेखक इसे गुजरात की अग्रगण्य संस्था समझते और उसके सम्मेलनों में शामिल होते थे। परन्तु दो-तीन वर्षों में अधिवेशन कर लेने के सिवा, परिषद् कदाचित् ही कोई अन्य काम करती थी।

पट्टनी साहब भावनगर अधिवेशन की स्वागत समिति के सभापति थे। "मैं साहित्य-सागर का एक छोटा-सा मत्स्य हूँ, इसलिए मेरा कार्य उपसभापति लल्लूभाई करेंगे," उन्होंने आजन्म अभ्यस्त शिष्टाचार से कहा। लल्लूभाई शामलदास—लल्लूकाका—भी भावनगरी थे। वे कहीं पीछे रह सकते थे? उन्होंने कहा—"मैं साहित्य को क्या जानूँ? आपने जब मुझे यह भार उठाने को फरमाया, तब मुझे तो विश्वास ही नहीं हुआ।"

"विश्वास करने की टेव नहीं होती, तब ऐसा ही तो होता है," पट्टनी साहब ने व्यंग्य किया।

"यह राजनीतिक पैंतरेबाजी चल रही है," सत्यवक्ता कृष्णलाल काका ने—कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी ने—टीका की।

पट्टनी और लल्लूभाई के शिष्टाचार की रस्साकशी और नागर-जैनियों का प्रकट विरोध वहाँ क्षण-क्षण दिखलाई पड़ता था। कमलाशंकर त्रिवेदी सभापति थे। वे, उनके पुत्र अतिसुखशंकर और जामाता मोहनलाल, तीनों सूरत वाली परिषद् में पीले कोट पहनकर आये थे, तब से साहित्य-क्षेत्र में उन्हें 'पीला भय'—yellow peril—नाम दिया गया था, यह भी कुछ

लोगों को स्मरण हो आया। परन्तु यह तो साहित्य का एक विनोद था। कमलाशंकर गुर्जर विद्वत्ता के प्रतीक थे।

२० अप्रैल १६२४ के दिन परिषद् समाप्त हो गई। विजयराय ने 'गुजरात' में टिप्पणी लिखी—

"सर प्रभाशंकर की ओर से गार्डन पार्टी—वाटिका-विहार—और लोक-साहित्य के रसास्वादन का जलसा। दोनों चीज़ों का सच्चा साक्षात्कार अनुभव बिना नहीं हो सकता। इसलिए, चेवड़ा और बादामपूरी स्वादिष्ट थे, खोपरापाक और आइसक्रीम की लज्जत निराली ही थी, चारणों के कवित्त शौर्य को उत्तेजित करने वाले थे, रायचुरा के लोकगीत रसभरे और मनोरंजक थे। ललित जी की ललकार मनमोहक थी। इस प्रकार निर्मल वाक्यों से, उसके समारोह की स्मृतियों को समाप्त करके, यह तीन दिनों की साहित्य-सेवा का चित्रण किया जा रहा है।"

मट्टुभाई और हीरालाल ने, भावनगर पहुँचकर संघटन करने के लिए मुझ पर दबाव डाला था। परन्तु मैं न जा सका और केवल संसद की ओर से परिषद् को बम्बई के लिए निमन्त्रित करने का पत्र भेज दिया। 'गुजरात' में आलोचना करते हुए, सभापति के भाषण को मैंने 'दो दशक पहले का उत्साह-प्रेरक' बताया। भालण, पद्मनाभ, गोवर्धनराम, कलापी, कान्त और खबरदार के प्रति किये गए अन्याय पर टिप्पणी करते हुए आगे लिखा—"गुजराती साहित्य और संस्कार को विश्व-भर में अमर करने वाले श्रेष्ठ और ज्वलंत साहित्यकार—गांधीजी—पूरे अड़तालीस पृष्ठों में सीधी या टेढ़ी तरह गैर हाजिर!"

'समालोचक' वृन्द से अलग होकर मैंने 'गुजरात' निकाला, इसलिए उस वृन्द के अनेक सज्जन मुझे क्षमा नहीं कर सके थे। नरसिंहराव ने 'गुजरात का नाथ' की कला 'सरस्वतीचन्द्र' से बढ़कर बतलाई, तब से मेरा 'राजद्रोह' अक्षम्य हो गया। और संसद ने परिषद् को निमन्त्रित करने की धृष्टता की, इसके प्रति वृद्ध 'समालोचक' ने कठोर आक्षेप किये—"परिषद् को बम्बई-जैसे बड़े नगर में इसका अधिवेशन करने और फिर अमुक मनुष्यों

द्वारा संघटित, अभी कल की छोटी-सी संस्था के निमन्त्रण की योग्यता और गुंजाइश पर विचार किया जाना चाहिए।" इसका उत्तर मुझे किसी से पूछना थोड़े ही था? मैंने लिखा—"एक साहित्यिक की अमर कीर्ति की पूँजी में ही इस संसद की योग्यता स्थिर नहीं हो जाती, इसलिए इसकी योग्यता क्या हो सकती है?" इस प्रकार साहित्य में मुन्शीद्वेषी दल की स्थापना हुई।

लीला ने इस समय 'द्रौपदी' पर लेख लिखा। उसमें स्त्री-पुरुष की समानता और परस्परावलम्बन की समस्या का हल उसने किया।

"गोपियों की भक्ति में प्रेम और भक्ति है, परन्तु समानता नहीं। द्रौपदी के साथ श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में सख्यभाव की समानता है। बाहरी दुनिया के लिए स्नेह या शासन के रखे गए कवच के बिना उसे उसी के रूप में देखे और परखे, उसकी महत्त्वाकांक्षाओं को विजयगीत से उत्साह दिलाए, और उसकी निर्बलताओं को वह निर्बलता के लिए ही चाहे तथा भावभीने लाड़ से सहलाए, ऐसी सखी प्राप्त करने की लालसा किस सच्चे पुरुष को नहीं होती? और कौन सच्चा स्त्री-हृदय ऐसे पुरुष की मैत्री पाने को नहीं तरसता?"........

द्रौपदी के व्यक्तित्व ने उसे मोहित कर लिया था।

"इस अद्भुत स्त्री का जन्म और मृत्यु, दोनों उसके व्यक्तित्व के अनुसार सबसे जुदे रूप में हुए। उसमें शौर्य था और शक्ति की वांछा थी; उसमें बल था और बलवान को आकर्षित करने की शक्ति थी; उसमें गर्व था और गर्व को तुष्ट करने की ताकत थी; उसमें बुद्धि थी और उसका उपयोग करने की चातुरी थी; उसमें सौन्दर्य था और उसे सजाने की कला थी।

"उसे समय पहचानना और प्रतीक्षा करना आता था। उसे धैर्य रखना और बदला चुकाना आता था। उसे स्वाधीन होना और अवसर पहचानना आता था। उसे सेवा ग्रहण करना और उसे स्मरण रखना आता था।

"बल उसका महामन्त्र था। तेजस्विता उसके स्वभाव में थी; शक्ति उसके हृदय में थी; मद उसकी दृष्टि में था।

"महान् पद के लिए वह सर्जित हुई थी। महाजनों की वह मित्र थी। उसके सम्बन्ध से महत्ता प्राप्त होती। उसकी संगति से महत्ता विकसित होती।

"प्राचीन आर्यावर्त की स्त्री-सृष्टि में, ज्योतिर्माला में सविता के समान ज्वलंत और तेजस्वी वह सदा प्रकाशमान् रहेगी।"

द्रौपदी का यह रेखाचित्र, भाषा के लालित्य, चरित्र-लेखन की विशेषता और मनुष्य-हृदय के विश्लेषण की दृष्टि से गुजराती साहित्य में अद्वितीय है।

उस समय जब 'गुजराती साहित्य के दिग्दर्शन' के उपोद्घात[1] स्वरूप लिखी गई मीमांसा छपी, तब मेरी सरसता की मीमांसा 'साहित्य : उसके स्वरूप और प्रकार' में प्रकाशित हुई। किसी आलोचक ने लिखा था कि इसमें भारतीय अलंकार-शास्त्र का स्पर्श नहीं हुआ है। ठीक है, इसमें यूरोपीय और भारतीय संस्कृतियों के संघर्ष-काल में घटित मेरी कलादृष्टि का वर्णन है। इसके लिए मुझे मम्मट से अनुमति लेने की आवश्यकता कहाँ थी? मैं 'कला के लिए कला' का उपासक नहीं था और न हूँ। मैं 'सरसता के लिए सरसता' का उपासक था और हूँ। हमारे बहुत से विचारक या विवेचक जो भेद नहीं समझ सके, वह मैं समझा हूँ। मैं 'सरसता के धर्म' का दर्शन करके उसका दर्शन करा रहा था।

"रसिकता पंचेन्द्रिय से निराली शक्ति है। सरसता का आस्वादन करने की उत्कण्ठा, उसे परखने की शक्ति और उसमें आनन्द लेने की कला, तीनों इसके अंग हैं।

"रसिकता का लक्ष्य प्रत्येक युग और देश में एक ही हो सकता है। सरसता का आस्वादन करते हुए जो आनन्द प्राप्त होता है, वही इसकी परीक्षा और इसकी अपूर्वता का एकमात्र लक्ष्य है। और यह आनन्द उस तृप्ति के कलंक बिना पुनः-पुनः अनुभव करने पर भी अपूर्वता का साक्षात् करता है।

"मानवता के रूप और रंग से विलग, नाशमान्, शोभाहीन, परम

---

१. मुन्शी : 'केटलांक रसदर्शनो' (रसदर्शन)

विशुद्ध और सुन्दर सरसता ही दैवी सरसता है।" प्लेटो की इस व्याख्या में ही जीवन का और सृष्टि का अन्तिम लक्ष्य आ जाता है।

गुजरातियों को मैं यह दर्शन नहीं करा सका, यही मेरे जीवन की एक कमी रह गई है।

१९२५ के मार्च-अप्रैल में, 'गुजरात' में 'राजाधिराज' के अन्तिम परिच्छेद छप रहे थे। मंजरी अपने पति की कीर्ति रक्षा के लिए भड़ौंच के किले की अभेद्यता सँभाले थी। वहाँ भोजन-सामग्री चुक गई थी। अगले परिच्छेदों में उसकी मृत्यु भी हो सकती है। इस समय मेरे पास अनेक पत्र आने लगे—'मंजरी को मार न डालिएगा।' मंजरी गुजरातियों की प्रियतमा बन गई थी। गुजराती हृदयों में इसने जो स्थान प्राप्त किया था, उससे मुझे बड़ा गर्व हुआ। परन्तु मैं अपनी साहित्य-सृष्टि का विधायक और विध्वंसक दोनों था। वह ऐसी अपूर्व बन पाई थी कि उसे जीवित रखकर वृद्धा और छः बच्चों वाली बनने का अवसर देने में मुझे कला का विध्वंस होता प्रतीत हुआ। और, स्त्रियों में श्रेष्ठ इस मंजरी का शव-मात्र ही काव्य के हाथ में रह गया था।"

'कान्त' कवि मणिशंकर रत्न जी भट्ट—का देहान्त हो गया। उनकी मृत्यु मुझे बहुत अखरी। हमारी मैत्री तो केवल दो ही वर्षों की थी, परन्तु उनके निर्मल और उमंग-भरे स्वभाव से मैं विजित हो गया था। उनके भावों में और उड़ान में जो सूक्ष्मतम तड़पन थी, वैसी मैंने अन्य किसी गुजराती कवि में नहीं देखी। और जीवन के समस्त सम्बन्धों में भी वे वैसे ही सरल-हृदय और रस-पिपासु थे।

विजयराय और लाभशंकर खूब लड़े और विजयराय के त्याग-पत्र में जो अन्तिम बात थी वह मैंने स्वीकृत कर ली। परन्तु उनसे अलग होते हुए मुझे बड़ा दुःख हुआ। हमारे साहित्य-सम्प्रदाय में वे अग्रगण्य विवेचक थे।

१९२४ की २४ अगस्त को संसद का दूसरा वार्षिक अधिवेशन हुआ। सौ० लीलावती सेठ संसद की 'विधिवत्' सदस्या हो गईं। अविधिवत्

तो वह कमी से हो गई थीं। मनहरराम मेहता ने अपने कार्य-विवरण में कहा—"हमारे सभापति श्रीयुत मुन्शीजी को, जो संस्था के प्राण हैं, हम सभी जानते हैं, इसलिए उनके विषय में अधिक क्या कहा जा सकता है ? केवल उनके अविरत उत्साह को हम अन्तःकरण से ग्रहण करें, यह कहना ही इस संस्था की विजय के लिए बहुत है।"

नरसिंहराव ने कहा—"मैं संसद का सदस्य नहीं हूँ; रंगमंच के समक्ष बैठकर देखने वाला दर्शक नहीं हूँ; परन्तु पर्दे के पीछे से देखने वाला द्रष्टा हूँ और इससे मुझे अनेक लाभ हुए हैं। यह सब लाभ भाई मुन्शी के गाढ़ स्नेह का परिणाम है। संसद की वयस केवल ढाई वर्ष की है। ऐसी अवस्था में इस बाल-संसद ने 'जन्म लेते ही जो महान् कार्य जनता के समक्ष उपस्थित किया है, वह प्रशंसनीय है।'

इन समस्त साहित्यकारों में केवल विभाकर दूर रहे। वे मुझसे न तो अलग हो सके और न मुझे अपने हृदय में स्थान दे सके। इसी समय 'प्रणालिकावाद' पर व्याख्यान दिया और गुजरात को नया मन्त्र सिखाया—

पूज्य भाव को अनुभव करने वाला—

"पुरातन प्रणाली का भक्त बन जाता है। उसका मस्तिष्क प्राचीन जीवन, आदर्श और पद्धति में उलझा रहता है और इस कारण उसकी असहिष्णुता का पार नहीं रहता········वह वर्तमान को प्राचीन काँटे से तोलता है, प्राचीन रूप में गढ़ना चाहता है—प्राचीनों से अपरिचित प्रत्येक रीति को त्याज्य समझता है। और चल सृष्टि को निश्चल प्राणियों में अवरुद्ध करने का प्रयत्न करता है। प्रगति का वह तिरस्कार करता है। विकास की उसे परवाह नहीं रहती। वर्तमान संयोगों के बल का उसे विचार नहीं होता। और वर्तमान का प्राण भले ही निकल जाय, परन्तु उसे जीर्ण प्रणाली के पिंजरे में ठूँस दिया जाना ही वह बुद्धिमानी समझता है। बिगड़ी हुई बिजली की तरह इस प्रकार बिगड़ा हुआ पूज्यभाव विनाश करता है।"

फिर मैंने यह दिखाया कि प्रणालिकावाद ने भारत के साहित्य और कला का विकास किस प्रकार अवरुद्ध किया; और प्रणाली धर्म, नीति, प्रतिष्ठा और सत्य का आडम्बर करके अपनी सत्ता कैसे स्थापित करती है, इसका वर्णन किया। 'साहित्य में प्रत्येक स्त्री साध्वी, प्रत्येक पुरुष नीतिमान् और प्रत्येक घटना नीति निःसृत होनी चाहिए, अन्यथा लोग बिगड़ जा सकते हैं।'......इस खयाल का मैंने विरोध किया। नीति में जो सनातन भावना निहित होती है, उसका उल्लंघन साहित्यिक नहीं कर सकता। कारण कि भावनात्मक अपूर्वता की सेवा के बिना साहित्य सम्भव नहीं है। परन्तु भावनात्मक अपूर्वता के उपासक सौन्दर्य और रस के अधिष्ठाता साहित्यिक को भावनाहीन चंचल सामाजिक प्रणाली से क्या सम्पर्क ?

"सत्य रूप में भी प्रणाली विहार करती है, यह मैंने समझाया : 'एक—साहित्य में नग्न सत्य के लिए स्थान नहीं है। दो—प्रणालियाँ सत्य पर नहीं रची गई होतीं। और प्रणालिकावाद सत्य का रूप केवल नवीनता तथा वैविध्य को जलाने के लिए ही धारण करता है।"

और शुद्ध साहित्यकार की प्रतिज्ञा के साथ मैंने आदि-वचन को पूर्ण किया : 'अपूर्वता की परम भावना! तुम्हारा प्रदर्शित सत्य मुझे देखना है। तुम्हारी प्रेरित भावना मुझे प्रदर्शित करनी है। तुम्हारी व्यक्त की हुई अपूर्वता मुझे सर्जित करनी है। तुम ही मेरा धर्म, नीति, प्रतिष्ठा और सत्य हो। तुम दिखाओ, वही नियम है। तुम जो न दिखाओ, वह मिथ्या दर्शन है। तुझे ही व्यक्त करने का बल दो! तुम्हारे सिवा और कुछ भी व्यक्त करने से मुझे बचा लो! माता—प्रियतमा—और प्रेरिका! न बनाऊँगा कभी भी दूसरा गुरु, नहीं स्वीकृत करूँगा कभी अन्य सत्ता। गिरूँगा तो तुम्हारी प्रार्थना करते, उद्धार पाऊँगा तो भी तुम्हारे बल से!

१२

पत्र-जीवन द्वारा अद्वैत

लीला को अब अपना पारिवारिक जीवन पक्षी-हीन पिंजरे की तरह लगता था।

इसके पति की दुकान विकट स्थिति में थी। बाला के लिए पढ़ाई और खर्चे की व्यवस्था हो जाय, तो वह स्वतन्त्रता से अलग रहकर अपने आर्थिक स्वातन्त्र्य के लिए कुछ कर सके, ऐसी इच्छा उसकी हुई।

अक्तूबर में कोर्ट बन्द हो जाने पर मैं माथेरान गया और हमारा पत्र-व्यवहार दैनिक डायरी बन गया। मैंने लिखा—

> ट्रेन में एडवोकेट जनरल कांगा मिले। यह जब एडवोकेट बने, तब इन्हें इन्वेरारिटी (बैरिस्टरी) की भूख से मरता हुआ ऊँट 'underfed Camel' की उपमा दी गई थी। मनुष्य बड़े रंगीले होते हैं। कांगा पूना गये और मैं नेरल में उतर पड़ा। वहां जस्टिस मार्टिन[1] और उनकी बहन का ट्रेन में साथ हो गया। मार्टिन कोर्ट के कार्यों में अधीर और अकुशल हैं। साधारण व्यवहार में मधुर और सच्चे हैं। परन्तु अपने अहंभाव—अभिमान—को जरा भी नहीं दबा सकते। उनके साथ कोर्ट और कानून के कई मुकदमे चलाए।

१. बाद में प्रमुख न्यायमूर्ति सर एम्बर्सन मार्टिन।

बड़े साहब ने पहले से 'बर्थ' रिजर्व कराई थी, परन्तु किसी गड़बड़ के कारण वह रिजर्व न हो सकी, इसलिए वे हमारे डिब्बे में बैठे। उसमें वे दोनों, मैं और दो पारसिनें थीं। इनमें रंग-विद्वेष नहीं है, इसलिए इनके साथ बातचीत में मज़ा आता है। यह उच्चकुल का धनी अंग्रेज़ है। कुछ अमीर तबियत और चिकने स्वभाव का है। हमारे साथ वाली बूढ़ी पारसिन जब डकारों से डिब्बे को गुँजा देती थी, तब साहब का मुँह देखने लायक होता था।

आखिर माथेरान आ गया। बंगला बड़ा है, पर हिन्दू सज्जन का फर्नीचर चोरबाजारिया है। हम लोगों में आसानी से मिलने वाली अस्वच्छता थी। अव्यवस्था पर गर्व किया जा सकता था। खैर, चल जायगा। मैं जैसे कब्र में पड़ा हूँ, ऐसा एकान्त भोग रहा हूँ। 'बिन्डल'[1] पढ़ रहा हूँ, और पृष्ठ उलटते हुए एक ही विचार करता हूँ, वह कहा नहीं जा सकता।

उसी समय लीला बम्बई में लिख रही थी—

'आज, इस समय तुम्हारे आने का समय हुआ है। दीवानखाना सूना है। और किसी की प्रतीक्षा नहीं करूँगी। मैं अकेली क्या-क्या विचार कर रही हूँगी, क्या यह तुमसे कहना पड़ेगा……

कल लाभशंकर (प्रेस के मैनेजर) से घर के विषय में बातचीत हुई थी……मैं पारले में रहूँ, यह उन्हें ठीक मालूम होता है… मैंने उनसे मकान खोजने को खास तौर पर कहा है।

लीला ने खूब पुस्तकें पढ़नी शुरू कर दी थीं।

आज ऊपर से 'मोन्टे क्रिस्टो' और प्लुटार्क के जीवन-चरित्र ले आई हूँ। एल्फिन्स्टन का 'इतिहास' भी कल से शुरू कर दिया है। बहुत धीरे पढ़ा जाता है और अधिक देर तक नहीं पढ़ सकती। अनातोले फ्रांस के जीवन-चरित्र की मुझे आवश्यकता थी,

१. अंग्रेज़ी उपन्यास।

परन्तु उसे दयाशंकर ले गए हैं। मैंने उनसे लाने को कहा है। हो सकेगा, तो उस पर लेख तैयार कर रखूँगी। (१६-१०-२४)

"माथेरान का बंगला मुझे 'धर्मशाला' की तरह विशाल और अव्यवस्थित लगा। थोड़ी जगह में अधिक-से-अधिक बच्चे रह सकें, ऐसी व्यवस्था है। जिन्दगी मुसाफिरखाना है, इस खयाल से बंगला बनाया गया है। परन्तु इस समय निराशा नहीं है, उद्वेग नहीं है। गत वर्ष जो धार्मिक उत्तेजना थी, उसकी जगह अब अधीरता आ गई है।" (२०-१०-२४)

उसी दिन हरिलाल कणिया माथेरान आये। सर चुनीलाल मेहता की पुत्री से इनके विवाह की बात चल रही थी, इसलिए उनसे मिलने ये पूना जा रहे थे और वहाँ जाते हुए तीन दिन मेरे साथ बिताने को आये थे। 'हम खूब गप लड़ाते हैं, यह समाचार मैंने लीला को भेजा।

मैंने कल से फ्रांस की 'रेड लिली' पढ़ना शुरू किया है। बहुत ही प्रभावशाली उपन्यास है। मानव-हृदय के भावों के मंथन का चित्रण इसमें अद्भुत ढंग से किया गया है। हमारी भाषा में ऐसा साहित्य कब लिखा जायगा ? हमारा समाज ऐसे मंथन का अनुभव करता होगा कि नहीं, यह भी एक प्रश्न है। (२०-१०-२४)

मोतीलाल, कणिया और मैं मित्र थे। इसी प्रकार अपने पेशे में भी लगभग साथ ही आगे बढ़ रहे थे। अपनी कठिनाइयों को देखकर कई बार मुझे यह सन्देह हुआ कि मैं इनके साथ टिक भी सकूँगा या नहीं।

मोतीलाल सेतलवाड यहाँ घोड़े पर बैठना सीख रहे हैं। उनके और कणिया की अपेक्षा मैं निर्बल और वृद्ध मालूम होता हूँ। मोतीलाल स्थिर, शान्त, अल्पभाषी और सुखी जीव हैं। कणिया गिनती खूब कर सकते हैं। भावुक कम और इसलिए केन्द्रित हैं। मैं दोनों से भिन्न हूँ। मेरी परिस्थिति और स्वभाव दोनों मेरी प्रगति में बाधक होने वाले हैं। मेरा शरीर भी वैसा ही है। मोती-लाल स्वस्थ और शान्त आगे बढ़े जायँगे। कणिया की सामाजिक

प्रतिष्ठा और सम्पर्क अब अधिक बढ़ेंगे। मुझे बल चाहिए केवल आत्मा का। कौटुम्बिक कठिनाइयाँ, आन्तरिक अस्वस्थता, शारीरिक निर्बलता, इन सब को मैं कब जीत सकूँगा? तिस पर यह साहित्यिक प्रवृत्ति! मेरा क्या हाल होगा? एक रास्ता है, पर उस पर चल न सकूँगा।

इस प्रकार क्षण-भर के लिए मेरे हृदय में अश्रद्धा का सञ्चार हो गया। लीला ने तुरन्त उत्तर में प्रेरणा भेजी—

तुममें एक प्रकार की निराशा घर करती जा रही है, इधर मुझे अनेक बार ऐसा लगा है। इस पत्र की भी मुझ पर यही छाप पड़ी है। मुझे न जाने कैसा लगने लगता है? परन्तु मैं क्या करूँ कि तुम्हारा यह निराशा का भूत भाग जाय?

मनुष्य जैसा स्वतः अपना शत्रु है, वैसा अन्य कोई नहीं है। किसलिए तुम ऐसी निर्बलता अपने में घुसने देते हो? अन्य सब लोग शर्त में जीत जायँगे, ऐसा तुम्हें मालूम होता है? किस कारण? तुमसे उनकी शक्ति अधिक है? तुम्हारी अपेक्षा उनका ज्ञान तुम्हें अधिक प्रतीत होता है? तुममें सभी कुछ है; सबकी अपेक्षा बहुत अधिक है। केवल तुम्हारी अधीरता और निराशा ही तुम्हें निर्बल बनाती जा रही है। नेपोलियन और सीज़र के भक्त होकर तुम यह निर्बलता लाओगे?

तुम्हें अपने में, अपने आत्मा के बल में और भविष्य में अश्रद्धा होती जा रही है। जिस श्रद्धा के बल से हमने इतने गिरि-शिखरों को लाँघा है, वह श्रद्धा अब त्याग दोगे, तो अन्तिम शिखरों पर कब पहुँचोगे? जो शक्ति दिगम्बर महादेव में है, वही समृद्धिवान इन्द्र में कभी नहीं आई और न आ सकेगी। सभी सम्बन्धी समृद्धि के बल पर भले ही उछलें—कूदें; पर गंगा के प्रपात को सहने की शक्ति तो शिवजी के सिवा और किसी में नहीं है।

इस समय कणिया की और मेरी व्यक्तिगत बातें हुईं। वे अपने विवाह का निश्चय करने को जा रहे थे, इसलिए बातचीत करते हुए उन्होंने बहुत ही सहृदयता से मेरे विषय में प्रश्न पूछे।

हम रात को नौ बजे सोये। कणिया को कुछ चिन्ता हो आई। कुछ मेरी सलाह लेकर और देकर विचार-विनिमय करने की उनकी इच्छा हुई और मेरे कमरे में आकर बातचीत करने लगे कि मुझे विवाह के लिए क्या करना है। अच्छी योग्य लड़कियों से भेंट करने का प्रयत्न नहीं किया जायगा? हृदय कैसे मिलें, इस सम्बन्ध में बातचीत करते हुए हम बैठे रहे। मैं हँसता रहा। मैंने कहा—"योग्य स्त्री जब आएगी, तब बिठा लूँगा।" उन्होंने पूछा—"परन्तु योग्य स्त्री को परखोगे कैसे?" और कुछ ध्यान में आ जाने पर, धीमे स्वर में स्नेह से कह डाला—"यदि लीला बहन के विधवा होने की प्रतीक्षा करते बैठे रहोगे, तो जीवन नष्ट कर डालोगे।" मैंने हँसी में उड़ा दिया। इसके बाद, भावी वधुएँ किस प्रकार खोज निकाली जायँ, इसका कार्यक्रम साढ़े दस बजे तक जारी रहा।

जब मैंने कणिया से बातचीत करना शुरू किया, तब मुझे ध्यान आया कि जो हमने शुरू किया है, वह कैसा अवास्तविक है। वह यह मानते हैं कि विवाह से पहले प्रेम होना ही चाहिए, यह अव्यावहारिक है; विवाह के बाद भी यह प्रकट हो सकता है। शान्त गृह-संसार को भंग कर डालना, एक प्रकार का साधुव्रत लेना और जो प्रभात न होने वाली हो, उसकी प्रतीक्षा करते हुए परेशान होना, यह वह न समझ सके, यह मैं देखता रहा। कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य न समझ सके, यह स्वाभाविक है। मैं मूर्ख हूँ, या बुद्धिमान? तुम्हारी ही आँखों में इसका जवाब मुझे देखना है। वह जवाब मैं ही दे रहा हूँ।

हम हताश हुआ करते हैं, यह सच बात है। परन्तु इस

मनोदशा में धार्मिक तत्त्व निहित है, यह बात हम भूल जाते हैं। 'हर्डर कुलम' जल्दी आये, इसी में सुख समाविष्ट है।

इस समय ट्रेन पर भी यही सूचना है। मैं विधुर अवस्था में ही मरूँगा, सब लोग यह कहाँ जानते हैं?

परन्तु इसके लिए प्रतीक्षा करने में, प्रयत्न परम्परा बनाये रखने में और जगत् को ललकारने में भी महत्ता है। अपने दुःख का उदात्त दर्शन हमें क्यों न करना चाहिए? वसिष्ठ और अरुन्धती शक्ति और तपश्चर्या के बालक नहीं हैं? जगत् हमें पागल, प्रेमोन्मत्त, अव्यावहारिक और मूर्ख समझने लगेगा, पर जगत् ने बहुत से अधम उद्देश्यों का पालन किया है, तो हम आत्म-सिद्धि का उद्देश्य क्यों न पालन करें?......

मुझे अनातोले फ्रान्स का एक वाक्य पसन्द आया—"मैं तुम्हारे में और तुम्हारे द्वारा जीता हूँ।" इस महावाक्य में प्रेम का समग्र स्वरूप आ गया है। मेरे समान प्रचण्ड भावना से उबलते हुए धुनी और अत्याचारी के साथ जीवन बिताते हुए तुम्हारे पर्दे तो नहीं खुल जायँगे? परन्तु पूछना व्यर्थ है। तुम्हारे पत्र कभी से जवाब दे रहे हैं।' (२४-१०-२४)

परन्तु दूसरे दिन मैं योजना निर्धारित करने लगा। निराशा में से हमेशा आशा उत्पन्न होती।

आज सन्ध्या-समय मैं हरी, रमणीय और प्रेरणादायक पगडंडियों पर घूम आया। तुम्हारी बात सच है। अन्त में हमारी विजय है। हमने इतना सहा। इतने प्रेमाधीन हुए। हममें इतना बल आया और अभी और भी अधिक बल आयेगा। अपने रोजगार-धन्धे में मैं बिलकुल चोटी के पास पहुँच गया हूँ और बिलकुल चोटी पर जाकर ठहरूँगा, यथासम्भव परिश्रम करके—परिश्रम सच्चा और घोर। तुम मेरे निकट हो, इसलिए यह सरल हो जायगा। फिर साहित्य भी है। १९२५ का अक्तूबर आने पर—'हर्डर कुलम' आये

चाहे न आये—हम विजयी होकर खड़े रहेंगे—तारकयुग्म बनकर, वसिष्ठ और अरुन्धती के अविभक्त आत्मा के रूप में।

(२५-१०-२४)

मैंने लीला को नये विक्रमीय वर्ष का सन्देश भेजा—

जो सुखमय जीवन बिताने के लिए हम इतना कष्ट उठा रहे हैं, वही तुम्हें प्राप्त हो, यह मेरी कामना है। जब वह प्राप्त होगा, तब हाथ-में-हाथ मिलाकर हम जीवन-पथ पर विचरण करेंगे—एक हृदय, एक आत्मा, एक आदर्श धारण करके—पूर्ण आत्मसिद्धि प्राप्त होने तक। लोग भले ही कहें कि प्रेम स्वप्न है, वह कभी सिद्ध नहीं होता, परन्तु हमें देखकर उन्हें प्रेरणा होगी कि प्रेम-जीवन से अधिक उच्चतर दूसरा जीवन नहीं और अधिक पवित्र दूसरा धर्म नहीं। मैं पागल हूँ और मुझे बुद्धिमान नहीं बनना है। तुम पगली हो, और मुझे विश्वास है कि तुम्हें बुद्धिमती नहीं बनना है। प्रत्येक सांसारिक नियम के भग्नावशेष पर—आवश्यकता होगी तो—हम अपने पागलपन का भव्य मन्दिर बनाएँगे—पागलपन, एक दूसरे के प्रति''''''''

भविष्य किसी भी प्रकार गढ़ा जाय, पर एक बात सही है—उसे गढ़ेंगे हम दोनों। हमें कोई जुदा नहीं कर सकता—दुनिया, प्रतिष्ठा, या धन्धा-रोज़गार, गरीबी या स्वभाव की निर्बलता। हमारे अविभक्त आत्मा को कोई नहीं ले सकता। दूसरे की हमें परवाह नहीं है। हमारी प्रवृत्तियाँ आत्मा का केवल आविर्भाव ही बन जायँगी। धन्धा, 'गुजरात' और प्रेस, इन तीनों के लिए भर मिटेंगे। अविभक्त आत्मा और गुजरात की अस्मिता को साथ-ही साथ पूजेंगे। तुम साहस और बुद्धिमत्ता की मूर्ति हो। प्रेम की ज्योति, मुझे पथ दिखाने के लिए।

केवल शब्दों के विनिमय में हमारा जीवन समाप्त नहीं होता था। कोर्ट में मैं खूब काम करता, साहित्य लिखे जाता और पढ़ता भी, साथ ही प्रेस

का संचालन करता; हम साथ बैठकर 'गुजरात' की व्यवस्था करते, कभी-कभी साथ ही घूमने जाते, पत्र तो लिखते ही रहते।

लीला भी प्रेस में जाती और 'गुजरात' की व्यवस्था करती।

मैंने उसके लिए पढ़ने का क्रम बना दिया था, उसी के अनुसार पढ़ती और किसी मिस केनेडी के यहाँ अंग्रेजी पढ़ने जाती।

नित्य दो-दो घण्टे वह घूम आती, और ऊपर आकर बच्चों तथा जीजी माँ से बातचीत कर जाती। उषा और लता तो 'लीला काकी' से चिपटी थीं। इस सबके उपरान्त 'कब ? कब ?' की उसाँसें लेने को भी हम समय निकालते। हमें एक-दूसरे के सपने आते, उनका वर्णन करते और यह योजनाएँ गढ़ते कि लीला भविष्य में आर्थिक स्वातन्त्र्य किस प्रकार प्राप्त करे।

धीरे-धीरे साहित्यकार मित्रों का आना कम हो गया। "उनके सहचार की अपेक्षा मेरा सहचार तुम्हें अच्छा लगता है, इस कारण वे नाराज़ हैं," मैंने पत्र में लिखा। (२५-१०-२४)

लीला के घर की स्थिति बहुत गम्भीर होती जा रही थी। उसका जी केवल बाला के लिए कुछ आर्थिक व्यवस्था करने में लगा था। लीला ने साहस करके एक दिन लाल भाई से स्पष्ट कर दिया—"बाला के लिए व्यवस्था करो, और जब तक नहीं करोगे तब तक मैं सेफ डिपॉज़िट की वे चाबियाँ न दूँगी जो मेरे पास हैं।" उसके पति ने नशे में जवाब दिया—"भैया (दरबान) को बुलाकर चाबी छिनवा लूँगा।"

शंकर प्रसाद वहीं थे। वे रात को मेरे पास ऊपर आये और सारी बात कही—"सेठ गुस्सा हो गए हैं और उत्पात कर बैठेंगे, चाबी दिला दीजिए।" मैंने लीला को बुलाया और शान्त करके कहा—"चाबी दे दो। या तो मैं बाला के लिए ट्रस्ट बनवा दूँगा अन्यथा मैं खुद अभी उसके लिए प्रबन्ध करूँगा। तुम मेरे बच्चों को अपना समझने लगी हो, तो मैं तुम्हारी लड़की को क्यों न समझूँ ?"

लीला ने चाबी फेंक दी, परन्तु इस घटना के बाद उसके मन में जिस निर्णय की उधेड़-बुन चल रही थी, वह पक्का हो गया। उसने मुझसे स्पष्ट

कह दिया—"आठ-आठ वर्षों से हमारे मूक कौल-करार थे कि मेरे मान-प्रतिष्ठा और स्वातन्त्र्य इस घर में अखण्ड रहेंगे। ऐसा न होता तो मैं कभी से गांधी जी के आश्रम में या और कहीं चली गई होती। वह इकरार अब भंग हो गया। दरबान तक बात करने की हिम्मत की, इसलिए अब मैं क्षण-भर भी उसके घर में नहीं रहूँगी।"

वह तुरन्त कहाँ जाकर रहे, यह बड़ा सवाल था। एक मित्र ने अपने बंगले में दो कमरे देने को कहा था, वह केवल नाम की ही बात रही। दुनिया की ज़बान पर चढ़ी स्त्री से अपना घर कौन अपवित्र करे। परन्तु सन्मुखभाई पंड्या बहादुर थे। वे लीला को बहन मानते थे। हमारे स्नेह-सम्बन्ध के सम्मान का उनमें औदार्य था। उन्होंने अपने सांताक्रूज़ के बंगले का निचला भाग किराये पर दे दिया और दूसरे दिन लीला—बाला को उसके पिता के पास छोड़कर—वहाँ रहने को चली गई।

हमारी प्रत्येक योजना में, लीला के आर्थिक स्वातन्त्र्य का गर्व बीच में आ जाता। अपने पति से अपने लिए वह कुछ नहीं लेती थी। मुझसे लेते उसे गौरव-भंग होता लगता। अनेक बार मैंने मनाया था, विनय की थी। "सारा जगत् व्यंग करता है, हमारे शब्द-शब्द हमारी एकता पुकार रहे हैं और मैं तुम्हें भूखों मरने दूँगा?"

आखिर उसने 'गुजरात' के उपसम्पादक पद की नौकरी स्वीकृत कर ली। दूसरे दिन से वह 'साहित्य प्रेस' में ग्यारह से पाँच तक जाने लगी।

मेरे परम मित्र मणिलाल भाई से भी अधिक थे। हम दोनों में उनकी दिलचस्पी थी, पर यह धृष्टता उनसे न सही गई। बोले—"मुन्शी, प्रतिष्ठा नीतिमान् होने में नहीं है, नीतिमान् के रूप में जगत् स्वीकृत कर ले, इसमें है। तुमने ग़ज़ब कर दिया।"

"जगत् कौन?" मैंने पूछा, "मेरे एक मित्र रोज शाम को गामदेवी में उतर पड़ते हैं और दस बजे घर जाते हैं। एक दूसरे महान् पुरुष ने, स्त्री होते हुए भी, दूसरी स्त्री के लिए बंगला बसाया है। अनेक महापुरुष गोआवासिनों का उद्धार किये जा रहे हैं। इस जगत् की तराज़ू पर मुझे

नहीं तुलना है। जो स्त्री मेरे विचार से पूज्य है, उसका सम्बन्ध मैं बिना संकोच जगत् को दिखला देना चाहता हूँ। जो सम्बन्ध रखने योग्य हो, उसे छिपाने योग्य मैं नहीं समझता।"

सरला और जगदीश को मलेरिया हो गया था, इसलिए नवम्बर में मैंने माथेरान में एक बंगला किराये पर लिया। वहाँ जीजी माँ, बच्चे और बहन-भानजे सभी जाकर रहने लगे। लीला भी वहाँ साथ गई और सरला तथा जगदीश की शुश्रूषा करने लगी।

जनवरी में हम बम्बई आये और मेरी कठिनाइयाँ बढ़ गईं। शाम को साढ़े सात बजे अपना काम-काज खत्म करके मैं कभी-कभी सान्ताक्रूज लीला से मिलने जाता और वहाँ भोजन करके दस बजे वापिस आता। लीला को भोजन बनाने का अभ्यास अधिक नहीं था, इसलिए ज्यों-त्यों करके वह बनाती और हम खाते।

इतने में एक नया भय उत्पन्न हुआ। कई मित्रों ने लाल भाई से कहा—"यह सब देखकर अब नहीं सहा जाता। सेठानी नौकरी करने जाय और जुदी रहे! एक ही रास्ता है। सेठानी को जबरदस्ती उठाकर अहमदाबाद ले जाया जाय और कुछ दिन घर में बन्द कर रखा जाय। केवल यही विचार करना रह गया कि किसकी सहायता से उठा ले जाया जाय।

उस समय पुलिस-कोर्ट में नरीमान की वकालत जम गई थी। उनकी मदद से मैंने पुलिस के साथ प्रबन्ध किया और पुलिस से रिटायर हुए एक आदमी को नौकर रख लिया। वह लीला के साथ कोर्ट में भी आता और जाता। लीला का अकेले सान्ताक्रूज में रहना भय से खाली नहीं था और मुझे चिन्ता हुआ करती थी। यह अस्वस्थता हमारे लिए बड़ी कठिन हो गई। आखिर मैं जेवियर कॉलेज के प्रिन्सिपल फादर डहूर से मिला और सारा किस्सा कह सुनाया। उन्होंने पंचगनी के कॉन्वेन्ट में लीला को पढ़ाने की व्यवस्था करा दी।

बात गम्भीर होती जा रही थी। भगीरथ संकल्प करने का समय आ गया था। आखिर लीला ने आग्रह छोड़ दिया और कार्यक्रम निश्चित

किया। वह पंचगनी जाय, सीनियर केम्ब्रिज की पढ़ाई करे, फिर विलायत जाकर बैरिस्टरी पास करे और बम्बई लौटकर मेरे साथ प्रैक्टिस करे।

हमेशा हम २६ दिसम्बर को महातिथि समझते आये हैं। २६ दिसम्बर १६२४ के दिन सवेरे माथेरान में एलेक्जेन्डर पॉइन्ट पर के अपने मकान के कम्पाउण्ड के पत्थर पर बैठकर हमने जीवन का क्रम बना लिया। मैंने उसी दिन पत्र में लिखा—'आज साबरमती की अनिश्चितता नहीं है। कामनाथ की कठिनाइयाँ नहीं हैं। सुन्दर और सुनहला भविष्य सामने खड़ा है। स्वप्न वधू, ज्यों-की-त्यों रहोगी और मेरा उद्धार करोगी? जीवन में और मृत्यु में भी मैं तुम्हारा हूँ।'

१३

बहिष्कृतों के कार्य-कलाप

पंचगनी में अपना एक छोटा-सा स्वर्ग बसाने का हमने निश्चय किया ।

मनु काका ने लीला को कभी से अपना लिया था । अक्तूबर १६२२ में उन्होंने लीला को मेरी सेवा करते देखा था और जब उनकी और मेरी मैत्री का मध्याह्न तप रहा था, तब जिस एकनिष्ठ स्नेह से मैं उन्हें पूजता था, इसकी उन्हें जानकारी थी; इसलिए इस नये स्नेह को वे तुरन्त समझ गए । परन्तु उनमें ईर्ष्या का अंश सदा से था । उनके 'कनु भाई' को उनकी मैत्री में जो न मिला, वह प्रेम में मिला था, यह समझने में वे सम [illegible] थे ।

मेरी डूबती नौका की पतवार फिर से जीजी माँ ने हाथ में ले ली ।

अक्तूबर १६२३ में जब उनके और लक्ष्मी के सामने मैंने मुक्त-कण्ठ से हृदय खोला था, तब से वह सब कुछ समझ गई थीं । साठ वर्ष की वयस में उन्होंने पुत्र के उद्धार के लिए कमर कसी—जैसे बीस वर्ष पहले बालक-पुत्र को निर्धनता और अकेलेपन से बचाने के लिए कसी थी । उन्होंने एक ओर लीला का परिचय प्राप्त किया—अधिकतर उसकी परीक्षा करने के लिए । दूसरी ओर मैं, लक्ष्मी और बच्चे, आई हुई विपत्ति को भूलकर आनन्द में रहें, ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करने का प्रयोग उन्होंने प्रारम्भ किया । वे लक्ष्मी और बच्चों को चारों ओर लेकर बैठतीं; और मेरी वेदना भुलाने के लिए नई-नई योजनाएँ बनाया करतीं ।

जब लक्ष्मी बीमार पड़ी, तब खड़े-खड़े उन्होंने तीस दिन सेवा की। जब वह मर गई, तब उन्होंने घर का उतार डाला जुआ फिर अपने कन्धों पर रख लिया। विधाता की दीर्घ दृष्टि और विवेक से उन्होंने बहन-भानजों से मेरा सूना घर भरा-पूरा किया, लीला और बच्चों के बीच परोक्ष रूप में एकता पैदा की। जिस सम्बन्ध का दूसरी माँ तिरस्कार करतीं, उसकी खुद अधिष्ठात्री बनीं और उसे विशुद्ध बनाये रखने में पूरी सहायता की।

महाबलेश्वर में, बम्बई में, माथेरान में, उन्होंने लीला को परिवार के समूह में मिला लिया। वह केवल मेरी मित्र नहीं थी, जीजी माँ ने उसे अपनी लड़की और बच्चों की माँ बना लिया। इतना ही नहीं, वह पवित्र सती और अपूर्व माता सूक्ष्म दृष्टि से हमारे सम्पर्क की परीक्षा करके, हमारे कठोर प्रयत्नों को सफल करने की सामर्थ्य भी देती रहीं।

जीजी माँ और लक्ष्मी ने बच्चों को बाल्यावस्था से पितृभक्ति सिखाई थी। लीला स्वतः उनके पिता की भक्ति में तल्लीन थी, इसलिए कुछ ही समय में उसने उनका हृदय जीत लिया। इस समय सरला जगदीश और उषा, तीनों ज्वर की अवस्था में भी अपनी सेवा में उपस्थित रहने वाली 'लीला काकी' के साथ माता का वियोग भूलने लगे।

रहे मेरे आचार्य। नवम्बर १९२४ को अचानक वे मिले। हम साथ घूमने गये और बातचीत की। उन्होंने मेरे विवाह के विषय में पूछा; मैंने बात टाल देने का प्रयत्न किया। उन्होंने कहा—"तुम्हें विवाह नहीं करना चाहिए। जिसके साथ विवाह करोगे, उसके साथ न्याय किया नहीं कहा जायगा।" तब मुझे हृदय खोलकर सीधी बातें कहनी पड़ीं। आचार्य लीला से मिले और उसके प्रति उनकी अप्रसन्नता दूर हो गई।

हमारी बनाई हुई योजना जीजी माँ को पसन्द आई। पंचगनी में बंगला ले लिया जाय और वे वहाँ जाकर रहें, यह हमने निश्चय किया। वहाँ बच्चों की तबियत ठीक रहेगी और लीला घर में रहकर सहायता करेगी। बम्बई में बड़ी बहन और उसके पति मुझे सँभालेंगे।

५-१-२५ को लीला आचार्य जी को साथ लेकर कॉन्वेन्ट में पढ़ने के

लिए जाने को रवाना हुई। रात के ग्यारह बजे एकान्त में मैंने सन्देश लिख डाला—

तव प्रयाण आ, प्राण, लई जायछे तने—
उद्वेग थी आनन्दमां, द्वेषमां थी स्नेहमां, ने मृत्युमांथी जीवन मां।
तारु हैयु, भले, उद्विग्न हो; प्रयाणमात्रमां ज स्मरणविह्वलता तणा डंख छे,
एटले आ प्रयाणना डंख पण तने सालशे।
पण ज्यां तु जाय के होय त्यां—
स्वास्थ्यमां के खेदमां, मित्रोना मण्डलमां के एकाकी वहितरा-मां—
विश्रान्तिमां के निद्रामां—
त्यां सदा आवशे एक सहचर—प्रभावप्रेरक, शाश्वत प्रणय;
—ने वली साथे हशे स्वयं समर्पित दास आ—
जे विहरे छे ने जीवन धारे छे
तुज वडे ने तुजमां सदा;
—ने हशे आबोहवा त्यां उषासम आह्लादमय,
अणदीध चुंबनथी तलसती ने,
अणभोगव्यां आलिंगनोनी झंखनाथी उल्लासमय।
अर्थात्—
तब प्रयाण यह, प्राण, ले जा रहा है तुम्हें—
उद्वेग से आनन्द में, द्वेष में से स्नेह में, औ' मृत्यु में से जीवन में।
भले ही तुम्हारा हृदय उद्विग्न हो; प्रयाणमात्र में ही स्मरण-विह्वलता की चुभन है;
अतः इस प्रयाण की चुभन तुम्हें भी अखरेगी।
किन्तु जहाँ भी तुम जाओ या रहो, वहाँ—
स्वास्थ्य में, या खेद में, मित्रों के मंडल में या एकाकी आयास में—

विश्रान्ति या निद्रा में—
पहुँचेगा वहाँ सदा एक सहचर—प्रेरक प्रभाव का, शाश्वत प्रणय;
औ' साथ में रहेगा यह आत्मसमर्पित दास भी—
जो करता है विचरण औ' जीवन का धारण,
तुम्हारे द्वारा और तुम में ही सदा;
—औ' होगी जलवायु वहाँ ऊष्मासम आह्लादमय,
अदत्त चुंबन से तरसती, तथा
बिन भोगे आलिंगनों की चाह से, उल्लासमय।

हम एक थे; पंचगनी हमारा और हमारे परिवार का अक्षरधाम था; इसलिए शेष सृष्टि को केवल दर्शक की दृष्टि से ही देखना है।

लीला ने लिखा—

मैं आज पंचगनी सुखपूर्वक पहुँच गई हूँ। रात कुछ अस्वस्थ और स्वप्नमय बीती। मुझे आज बहुत ही दुख का अनुभव हुआ, तुम्हें भी ऐसा ही हुआ होगा। मेरी अयोग्यता को भूल जाना। तुम मेरी भूलों को इतनी बार भूलते आये हो कि आज मैं इसके लिए क्षमा माँगे लेती हूँ। कभी-कभी मुझे स्मरण करते रहना। जीजी माँ को प्रणाम। बच्चों को मेरा स्नेह-स्मरण। (१७-२-२९)

उसी दिन मैंने लिखा—

सारी रात बड़ी अशान्ति में बिताई। इस समय भी अस्वस्थ हूँ। धीरे-धीरे शान्ति आ जायगी। मेरे भाग्य में जो अशान्ति और असन्तोष लिखे हैं, वे मिथ्या कैसे होंगे? इसी में मुझे सुख मानना है।.........

कल का कहा-सुना माफ करना। जो स्वभाव समृद्धि से आनन्द देता है, वह किसी समय अपेक्षा से अधिक पीड़ादायक भी हो पड़ता है। जो आभूषण सुन्दर होते हैं, वे कभी-कभी चुभ भी जाते हैं, यह समझकर ध्यान न देना—

आशाएँ जब फलीभूत होनी होंगी, होंगी। किन्तु अभी तो हम

अशान्ति और अस्वस्थता से तड़प रहे हैं। न जाने कब शान्ति प्राप्त होगी ?

उसी शाम को लीला ने बंगलों का वर्णन लिखा और रात को उस पत्र में उसने इतना और बढ़ाया—

मेरा जी बहुत दुखता है और मेरे माथे में न जाने क्या होता है। तुम्हारी आवाज सुनने को तरसती हूँ। हमारे जुदा होने का घाव अभी भरा नहीं है। और, लिखना कि तुम दुखी नहीं हो। तुम्हारा दुख याद आता है, तो मेरा दुख दूना हो जाता है। मैं थक गई हूँ, पर मुझे सोना नहीं है। दूर—दूर—कोई है, उसका विचार करना है।

उसी रात को मैंने फिर लिखा—"मुझे पुरुरवा की भाँति चक्रवाक से कहने की इच्छा होती है—

इतिच भवतो जायास्नेहः पृथगस्थिति भीरुता।
मयि च विधुरः कान्ता, प्रवृत्ति पराङ्मुखा॥[1]

"इस समय मैं प्रवृत्ति से पराङ्मुख हूँ। सवेरे आचार्य का तार आया था। मैं इतना बेचैन हूँ कि क्या लिखूँ, कुछ सूझता नहीं। मैं अकेला कैसे रह सकूँगा ?......

"कांगा के यहाँ गया था। वे कहने लगे कि तुम विवाह क्यों नहीं करते ?

"मैंने कहा—'कन्या नहीं मिलती।'

" 'एक अहमदाबादी लड़की है, चाहिए ?'

"फिर पुरुषोत्तम के यहाँ भोजन करने गया।[2] युवक-बैरिस्टरों का अच्छा

---

1. विक्रमशोर्वशीय। पुरुरवा चक्रवाक को सम्बोधित करके कहता है—"जब आपका पत्नी-प्रेम और अलग होने का भय ऐसा है, तब मैं तो प्रियतमा से दूर और उसके समाचार से विमुख हूँ।"
2. पुरुषोत्तमदास त्रिकमदास बैरिस्टर। यह मेरे चेम्बर में 'डेविलिंग' करते थे।

समूह एकत्रित हुआ था। बहुत हँसे और बहुत वर्षों पर मिर्चों वाला भोजन किया। एक ओर पारसी, दूसरी ओर मुसलमान; बीच में ब्राह्मण बैठा था, और अहमदाबादी श्रावक बनियों की स्त्रियों जैसे विचार कर रहा था। कैसी अधोगति है ! फिर ऊपर बीन सुनने को गये। मैसूर का कोई गवैया था। उसने बहुत ही अच्छी बीन बजाई। एक मार्च तो अद्भुत थी। तुम होतीं, तो खुश हो जातीं।

"इसके पश्चात् छगन भाई सोलिसिटर के यहाँ गया। वहाँ मजलिस में क० का गाना था। इसके विषय में मैं तुम्हें बता चुका हूँ। इसे देखकर स्वर्गीय मित्र ह० याद आ गए। इस किराये की कही जाने वाली स्त्री ने ह० की बीमारी में दो वर्ष तक सेवा की थी। ह० सुन्दर, शौकीन, रँगीले होते हुए भी बड़े उग्र थे। अन्तिम अवस्था में, सुना कि वह क० को पीटा भी करते थे। अन्तिम वर्षों में ह० उसीके यहाँ रहते थे और वह कमाकर ह० की सेवा-शुश्रूषा करती थी।

"क० को मैंने पहली बार देखा और सुना। मोटी और साँवली है। रूपवती तो नहीं कहला सकती। आँखों में नखरे अधिक नहीं थे। मैं केवल दस मिनट बैठा। गाती अच्छा थी, परन्तु साढ़े नौ बजे का गाना व्यर्थ होता है! गाना जमता है बारह के बाद। मैंने तुरन्त आज्ञा ली, कल बहुत-सा काम है। रास्ते में जमोयराम काका मिले। उन्होंने ताना कसा—'अब तुमसे क्या कहा जा सकता है!'"

लीला के रिश्तेदारों ने समझा कि वह ईसाई बनने के लिए कॉन्वेन्ट में गई है। "तुम्हारे द० भाई ने समझा कि तुम जाति-भ्रष्ट हो गई हो, इसलिए तुम्हारे काका को तार दिया है।" (१७-२-२५)

लीला ने पढ़ाई शुरू की और कॉन्वेन्ट के बाहर एक फ्रेञ्च अध्यापिका के साथ बंगले में रही। ईसाई न होने के कारण उसे कॉन्वेन्ट में नहीं रखा था।

१८-२-२५ के दिन भी मैं अपनी व्याकुलता को पत्र में प्रकट करता हूँ—

मैं बहुत थक गया हूँ। हृदय में दर्द है, माथे में दर्द है। सब-कुछ बेठिकाना है। मस्तिष्क पर भार—दबाव—रहा ही करता है।...

...आज जीजी माँ और बच्चे जायँगे, इसलिए घर में मैं अकेला रह जाऊँगा। यह सब आज तुम्हारे लिए सहता हूँ। किसी दिन समय बदले, तो याद रखना। यद्यपि रानियाँ तो गुलामों के उखाड़े हुए शीरों के सिंहासन पर बैठने को बनी होती हैं.......

ईसाई बन जाने की बातें फैल रही हैं। वी० र० को खूब पानी चढ़ाता है। यह कोई नहीं मानता कि तुम शिक्षा प्राप्त करने गई हो। परन्तु मेरे दिन कैसे बीतेंगे ? मैं कब मिलूँगा ? (२० २-२५)

इस प्रकार प्रतिदिन आक्रन्दन चलता रहता है। मैं विरहोन्मत्त गोपी की मनोदशा का अनुभव कर रहा था, इसलिए जहाँ-तहाँ लीला की बातें करने में मुझे आनन्द आता था।

"मुझे आज बिलकुल अच्छा नहीं लगता। आज इतने वर्षों बाद भी मुझे मिलने-बैठने को जगह नहीं है। जीवन कैसे बीतेगा ?

"घर पहुँचा और मनु काका आ गये। मैंने उनके प्रश्नों के उत्तर दिये, इस कारण बेचारे की आँखों में जल भर आया। 'लोगों को तुम्हारे विषय में सन्देह हो गया है,' उन्होंने कहा।

"मैंने उत्तर दिया—'लोगों के मन में सन्देह नहीं, परन्तु विश्वास है कि मैं पतित हूँ, फिर उद्वेग की क्या गुंजाइश हो सकती है ?'

"इतने में नन्दू काकी आईं और उन्होंने कहा—'मैं कह रही थी कि कनू भाई के कान पकड़कर कहो कि अब यह नहीं सुना जाता।'

"मैंने कहा—'इसमें आपको घबराने का कारण नहीं है। मैं तो नहीं घबराता ? जिसके जीवन में रस नहीं, उसे परोक्ष रूप में इस प्रकार रस मिलता है।'

"आज सवेरे मंगल[1] आया। उसके साथ भी यही बात हुई। वह पूछ रहा था—'बाला का क्या हुआ ?'

---

[1]. श्री मंगलदास देसाई, बैरिस्टर

"मैंने कहा—'उसके बाप को लड़की नहीं देनी है, इसलिए क्या किया जाय ?'

" 'लीला बहन तुम्हारे सिवा सारी दुनिया में अकेली हैं,'' उसने कहा।

" 'मैं जानता हूँ।'

" 'तब ?' उसने कहा, 'कभी समय आ जाय तो कायर बनकर विवाह के भय से भाग न जाना।'

" 'इस बात को अभी तो बहुत देर है, परन्तु यदि समय आएगा, तो मैं पीछे नहीं हटूँगा। वह इन्कार कर दे, तो बात जुदी है।'

"तुम्हारी उसने बहुत प्रशंसा की—'लीला बहन जैसी श्रेष्ठ और सबल, उदात्त और उच्चाशयी स्त्री, दसों दिशाओं में अन्य नहीं दिखलाई पड़ती,' उसने कहा।

"मुझे हँसी आ गई। बर्क के शब्द स्मरण हो आए—'उसका अपमान हो, तो दस सहस्र खड्ग म्यान से बाहर निकल आएँगे। परन्तु हे प्रभु! कहाँ वह, और कहाँ मैं ?'

"उसके साथ फिर बहुत सी बातें हुईं। अन्त में उसने कहा—"दोस्त, उनके और अपने कुटुम्ब के निकट डटे रहना। जगत् झख मारेगा।' ''

इन शब्दों को नोटबुक से नकल करते हुए आज भी मेरी आँखों में कृतज्ञता के अश्रु आ जाते हैं। जब सारा जगत् शत्रु बना हुआ था, तब इस एक मित्र ने न सन्देह किया, न तिरस्कार किया, न मुझसे दूर हटने का विचार ही। और इस प्रकार मुझे सदा के लिए ऋणी बना लिया।

मैंने पत्र के अन्त में लिखा—

"कल से 'स्वप्नद्रष्टा' लिखना आरम्भ कर दिया है। साढ़े तीन बजे मंगलदास के यहाँ, साढ़े चार बजे छोटू भाई के यहाँ, नई राजनीतिक पार्टी बनाने की बातचीत करने के लिए। बाद में रवीन्द्रनाथ ठाकुर से मिलने को, जहाँ 'एट होम' है।''

रात को मैं पत्र लिखने लगा। बाला का समाचार लिखा। आचार्य

जरा.........सब-कुछ जानना चाहते हैं, यह लिख दिया। "मनुकाका कल यहाँ आये थे। वे कहते हैं कि मैं पहले की तरह अपने को तटस्थता से नहीं देख पाता और लोकप्रियता की भी परवाह नहीं करता।"

"दूसरे दिन भूला भाई[1] से बातचीत हुई। क्या समझती हो? कई वर्षों बाद गुरु और चेले ने शान्ति से बातें कीं—बहुत ही सुन्दर। पहले की भाँति हमारा स्नेह सम्मेलन नहीं होता, इसलिए हमने खेद प्रकट किया। इसके पश्चात् साहित्य की बात छेड़ी गई। 'गुजरात' कैसा चल रहा है? फिर नानालाल के साहित्य-सौन्दर्य की हमने प्रशंसा की और उनके पागलपन को कोसा। बातचीत करते-करते हम साहित्य मण्डल पर आ पहुँचे। फिर तुम्हारी बातें हुई। उन्होंने पूछा—'लीला बहन ने सर्जनात्मक साहित्य क्यों नहीं लिखा?'

"मैंने कहा—'लिखती हैं।' बीच के समय की तुम्हारी कहानियाँ उन्होंने नहीं पढ़ी थीं।

" 'आधुनिक साहित्य का लीला बहन को परिचय है?" उन्होंने पूछा।

" 'हाँ, अभी-अभी उन्होंने अनातोले फ्रांस के विषय में लिखा है।' उन्होंने बात बदल दी। फ्रांस के विषय में कुछ बातें कीं। फिर विवाह करने की बात निकाली। जमीयतराम काका ने भूलाभाई से पूछा होगा कि मुन्शी का विवाह क्यों नहीं करते?

"मैंने बहाना किया—'काका की खोजी हुई लड़की छोटी, अपढ़ और पुराने विचारों की थी और बड़ी लड़की के साथ कैसे पट सकती है? पहले स्नेह तो होना चाहिए?'

"भूलाभाई—'हमारे यहाँ एक दूसरे से दूर रहना पड़ता है, इसलिए एक दूसरे के लिए स्नेह होना सम्भव नहीं होता। परन्तु.........से तुम विवाह क्यों नहीं करते?'

"मुन्शी—'अनेक वर्षों से उन्होंने कैसा जीवन बिताया है, यह मैं नहीं

---

१. स्वर्गीय भूलाभाई जीवण जी देसाई; सुप्रसिद्ध विधान शास्त्री।

कह सकता ।"

भूलाभाई—"……के विषय में क्या बात है ?"

"मुन्शी—'स्वभाव की अज्ञान। पहले बड़ों के और बच्चों के साथ स्वभाव हिलमिल जाना चाहिए।'

"भूलाभाई—'……की लड़की के विषय में क्या बात है ?'

"मुन्शी—'अल्हड़ है। उसके साथ कभी शान्ति नहीं मिल सकती। और कलामय जीवन उसके साथ सम्भव नहीं है। उसके साथ की अपेक्षा अकेले मरना अच्छा।'

"फिर मैंने बात छेड़ी और एक नाम जो उनके लिए लिया जा रहा था, उसका उल्लेख किया। 'लोग आशा किये बैठे हैं, परन्तु आप उसे फलीभूत नहीं करते।'

" 'मुझे बुद्धिमानी नहीं मालूम होती,' गुरु ने कहा, 'वह भी विवाह नहीं पसन्द करती। सम्भव है……से विवाह करे।'

"मैंने ……की बात छेड़ी। वह जरा विचलित हुए। फिर, जो गुरु के हृदय में था, वह होठों पर आ गया—'एक मत यह है कि जो literary prodigy (साहित्य के विषय में अतिनिष्णात) हो, वह बहुत अच्छी पत्नी नहीं बन सकती।' फिर तुरन्त अर्थ का ध्यान आया और घुमाकर बोले—'सभी अतिनिष्णात बेकार हैं—केवल साहित्यिक ही नहीं। ये अच्छी पत्नियाँ हो ही नहीं सकतीं। उन्हें अपने लिए बड़ा अभिमान होता है।' बात खतम। क्या समझी ? (२१. २. २५)

बाद में लीला ने लक्ष्मी विला ले लिया। दिन में दो बार वह अपनी पढाई की बात इन पत्रों में लिखती गई। प्रत्येक पत्र में आक्रन्दन तो सुनाई पड़ता ही रहा।

कोई ज़रा भी लापरवाही दिखाता है कि दूर बस रही प्रिय मूर्ति के लिए मुझे तड़पन होने लगती है। सारे जगत् से भिन्न एक ही मनुष्य मुझे भान कराता है कि जीवन सत्य है और मैं पराधीन नहीं हूँ। यही मैं चाहती हूँ। तुम कब मिलोगे ?

फिर टेनिस, रेकेट, इतिहास, अंग्रेज़ी, मैट्रिक या केम्ब्रिज—इन सबकी दैनन्दिनी (डायरी) वह लिखती है। मेडमोज़ेल (लीला की अध्यापिका) और अन्य विद्यार्थियों के शरीर और स्वभाव के वर्णन भी साथ में देती है। अन्त में गरबे के झुकाव की तरह लिखती है—

मुझे बहुत ही अकेलापन मालूम होता है। इस प्रकार दिन कैसे व्यतीत होंगे ? साहस रखना···आशा हृदय में धारण करना और मुझे साहस आये, ऐसी कोई बात लिखना। मैं बिलकुल बुरी तो नहीं हूँ न ? मैंने इस प्रकार तुम्हारे हास्य से रहित इस निर्जनता में आने का साहस दिखाया है।···यदि अपना स्वास्थ्य न संभालोगे, तो मैं सब कुछ छोड़कर वहाँ आ जाऊँगी। मुझे पढ़ना भी नहीं है और ज्ञानवान भी नहीं होना है। (२२-२-२९)

बम्बई में दस वर्ष की बाला की बात मुझे चिंतित किये रहती थी। पहले वह अहमदाबाद ननिहाल गई। फिर बम्बई आने का हठ पकड़ा। और लीला शान्ताक्रुज में फिर आकर रहे, इस प्रकार के विनय-अनुनयपूर्ण पत्र लालभाई की ओर से आने लगे।

२२ को सवेरे उठते ही मैंने लिखा—"मंगल का एक वाक्य याद आ गया। दीर्घकाल तक जीना और लीला बहन के निकट डटे रहना।" ऐसे शब्द क्षण-भर के लिए प्रोत्साहन देते। दूसरे क्षण निराशा प्रज्वलित कर देते। लीला भी कभी उत्साह में आ जाती और कभी मुझे उत्साहित करने की युक्तियाँ करने लगती और शेष समय 'क्या होगा' की हाय-हाय में पड़ जाती। उसने लिखा—

मेरे पास आज शंकरलाल का पत्र आया है। उसमें वह लिखते हैं कि अहमदाबाद वाले बाला को रखने के लिए तैयार नहीं हैं, इसलिए कुछ दिनों में वह फिर बम्बई आ जायगी। इस पत्र के साथ ही उनका पत्र भेज रही हूँ उसकी उसके बाप के साथ कैसे गुजरेगी, कहा नहीं जा सकता। बाला का प्रश्न मुझे बेचैन किये है, यह स्वीकृत करते हिचकती हूँ। परन्तु मैं क्या कहूँ ? उसका स्वभाव

ऐसा है कि उसे बहुत कठिनाइयाँ आती हैं। इसका क्या होगा? परन्तु उसका निश्चय अटल था।

अभी मुझे लौटना नहीं है। नये जीवन की इतनी तैयारियाँ करने के बाद भी अब फिर लौट आऊँ? जीजी माँ इतने वर्षों पश्चात् भी साहस करें और मैं उन्हें अन्तिम समय धोखा दूँ? प्रिय बाल, दया करना और मुझे निर्बल न समझना। अपने निश्चय से मैं पलटने वाली नहीं हूँ। (२४-२-२६)

इस बहादुर स्त्री के हृदय में कभी ऐसे सन्देह का संचार नहीं हुआ कि अन्य पुरुषों की भाँति मैं थक जाऊँ और उसे त्याग दूँ, तो उसका क्या हो। वह अपने जगत् को भस्म करके मेरे लिए जोगन बनी थी। वह केवल एक स्वप्न पर जी रही थी। 'इन्टरलाकन आएगा और आशाएँ फलित होंगी—कुछ धीरे-धीरे। वास्तविक जगत् की अपेक्षा ऐसे स्वप्न मधुर होंगे।"

जीजी माँ और बच्चे पंचगनी रहने को गये। लीला भी उनके साथ 'लक्ष्मी विला' में रहने लगी और घर का सब भार उठा लिया। पत्रों में लीला अपने स्कूल का हाल भी लिखा करती। मदर सुपीरियर ने आदेश दिया कि भारत का इतिहास जिस क्लास में पढ़ाया जाय, वहां लीला को न बैठने दिया जाय—सम्भव है भारतीय स्त्री, कॉन्वेन्ट में पढ़ाये जाने वाले भारत-विरोधी इतिहास का विरोध करे! सरला और मेरी बहन की लड़की चन्दन को किस प्रकार पढ़ाया जाय, छोटे बच्चों को शाम को घूमने कैसे ले जाया जाय और अंग्रेजी बोलना कैसे सिखाया जाय, ये योजनाएँ लीला बनाती। अन्तिम बार उसने लिखा—"तुम्हारे पास रस्किन की 'सीसेम और लिली,' वर्ड्स्वर्थ की 'कविताएँ', टेनिसन का 'कमिंग एण्ड पासिंग ऑफ आर्थर' और शेक्सपियर का 'मेकबेथ' हो, तो भिजवा देना।"

(२५-२-२५)

लीला स्कूल जाती, वहाँ की पढ़ाई की तैयारी करती, जीजी माँ को समाचार-पत्र या पुस्तक पढ़कर सुनाती, मेरे विषय में बातें करती और सबके साथ घूमने जाती। वह घर को चलाने में मदद देती, 'गुजरात' के

लिए लेख लिखती, लेखों का प्रूफ देखती और नित्य एक-दो पत्र लिखा करती।

संध्या के धीमे प्रकाश में एक विचार उत्पन्न हुआ। सबको छोड़ देने पर भी किसी का स्मरण मुझे इस समय नहीं होता। और जीवन-भर प्रभात और सन्ध्या यहाँ बिताने हों, तो भी ऐसा करते हुए मुझे जरा भी खेद न हो। जीजी माँ में ऐसा कुछ मिल गया है कि जिसकी तुलना किसी के साथ नहीं हो सकती। तुलना का विचार तक नहीं होता Good Night. (३-३-२९)

यहाँ सभी—जीजी माँ तक—बहुत ही अच्छे 'मूड' में हैं। अभी तक किसी को अकुलाने या अप्रसन्न होने का कारण नहीं दीख पड़ा। सरला, जगदीश का ज्वर दूर हो गया है। चन्दन को भी स्कूल में सब सुविधा है। (५-३-२९)

कल रात को चूहों ने मुझ पर खूब कूद-फाँद मचाई और दो-ढाई बजे रात तक मुझे सोने नहीं दिया। रात को चूहों की कूद-फाँद के साथ बिस्तरे पर कूद-फाँद मचाने में आनन्द आता है कि नहीं? तुम्हें किसी दिन इसका अनुभव हुआ है?

मैं आजकल कदाचित् ही समय व्यर्थ बिताती हूँ। मैं बहुत धीमी हूँ, इस कारण मेरा काम कभी दिखलाई नहीं पड़ता। सन्ध्या के पाँच से नौ का समय जीजी माँ, बच्चे, गाने और घूमने का, और नौ से बाद का समय तुम्हें पत्र लिखने, सिर सँवारने और पढ़ने का है। ग्यारह-साढ़े ग्यारह बजे सोती हूँ। कभी-कभी तुरन्त नींद आ जाती है, और कभी नहीं आती। सवेरे सात और साढ़े सात के बीच उठती हूँ। दोपहर में बिलकुल नहीं सोती। बताओ मैं कार्य-व्यस्त मालूम होती हूँ, या नहीं? (६-३-२९)

इस प्रकार जादू की लकड़ी से लीला पंचगनी में स्वर्ग बसाने लगी। मैं बम्बई में था, अकेला।

पत्र में मेरी अकुलाहट अधिक दिखलाई पड़ी होगी। देश-

निकाला लिया है और अननुभूत अकेलापन सह रही हूँ। कभी-कभी घबराहट होती है और दो सौ मील से आ रही तुम्हारी आवाज़ ही मुझे अपनी मानवता का भान कराती है। इसलिए, इस आवाज़ में जिस झंकार को सुनना चाहती हूँ, जब वह सुनाई नहीं दे ड़ती, तब अकुला उठती हूँ······आज तीन दिन बाद बाला को देखा था। आज कुछ खाने को भेजा था।

किसी से लीला के विषय में बातचीत करना ही मेरे एकाकी जीवन का आनन्द था। मैंने लिखा—'घबराना शुरू कर दो। मैं तुम्हारी ईर्ष्या का विषय बन गया हूँ। अभी-अभी आचार्य से दो घण्टे बातें कीं। लीला बहन में भावनामयता कितनी अच्छी है! कैसा मानसिक बल है! कैसी बुद्धि है! क्या आवाज है! अद्भुत संगीत-शक्ति है! हे भले भगवान, कुछ तो मेरे लिए छोड़ दो।'

फिर आक्रन्दन का आरम्भ हो जाता है—

तुम वहाँ परिवार के साथ सुख और उत्साहपूर्वक रहती हो और मेरे अकेलेपन और शुष्क काव्यपरायणता में, वहाँ से आने वाले उत्साह और उमंग से भरे पत्रों द्वारा मुझे प्रेरणा प्राप्त होती है। बम्बई एक कठोर मजदूरी का कैम्प है। एकान्त कैदी को क्या-क्या आवश्यकताएँ हो सकती हैं, यह तुम कल्पना नहीं कर सकतीं।

(४-३-२५)

राजनीतिक प्रवाह में बह न जाने का मैंने संकल्प कर लिया था। "इस समय नई राजनीतिक पार्टी बनाई जाय या नहीं, इसके लिए पाँच-छः सज्जन मिलने वाले हैं। तुम्हारे भय से मैं उन्हें निराश कर दूँगा······

"रात के ग्यारह बजे हैं। छोटूभाई,[1] मंगलदास आये थे। राजनीतिक पार्टी बनाने की बात को मैंने सुला दिया है। केवल प्रैसिडेन्सी एसोसिएशन को हस्तगत रखने की बात की। इस विषय में अधिक परिश्रम करने की कोई प्रवृत्ति नहीं है।'

(६-३-२५)

१. स्वर्गीय छोटूभाई सॉलिसिटर।

परन्तु साहित्य के विषय में मैं खूब परिश्रम करता था।

प्रेस का काम कुछ धीमा चल रहा है और मेरा मन कुछ लगता नहीं। कहीं से भी प्रेरणा प्राप्त किये बिना छुटकारा नहीं है। हम कसौटी पर चढ़े हैं। गुजरात हमारी ओर प्रशंसा या द्वेष की दृष्टि से देख रहा है। यदि इस समय हमारा जीवन-क्रम निष्फल सिद्ध हो जायगा तो हँसी हुए बिना न रहेगी। कुछ भी हो, इस वर्ष हमें शिथिल नहीं होना है। तुम्हें उप-सम्पादक से पहले उपन्यासकार बनना है। दोनों तारकों के चमके बिना न चलेगा।

१४

बालकों का निर्जीकरण

साधारणतया लीला को बच्चे पसन्द नहीं थे और बच्चों पर मेरी प्रीति ऐसी दृढ़ थी कि यदि वह प्रीति न उत्पन्न करे, तो हमारे बीच अन्तराय खड़ा हो जाय। इसलिए अन्तराय के बीज को पहले ही से नष्ट कर देने का हमने प्रयत्न आरम्भ किया। बाला की चिन्ता लीला को होती थी, उसे भी निर्मूल करने का प्रयत्न मैं करने लगा। सब बालक हमारे ही हैं—यह भाव हममें और उनमें पैदा करने के लिए, हमारे अविभक्त आत्मा की परीक्षा का समय उपस्थित हो गया।

५-३-२५ के पत्र में, दूसरे दिन मैंने इतना और बढ़ाया—

एक बात मैं स्वतः कहना भूल गया, वह उषा (पाँच वर्षों की) की थी। जगदीश और लता दोनों हठी हैं। जीजी माँ को जगदीश बहुत प्यारा है। इसलिए उन दोनों के बीच बेचारी उषा का उत्साह चूर-चूर हो जाता है। उसे छोटी-छोटी चीजें, रद्दी लिफाफे और टिकटों का संग्रह करने और किसी को सौंपने की आदत है। उसके प्रति जरा अपना मिजाज़ मुलायम कर लेना और जब-तब उसे गोद में बिठाकर अपने कमरे में ले जाकर, अपने पर स्वामित्व स्थापित करने का अवसर देना। नहीं तो वह लडकी तरस-तरस कर मर जायगी। ऐसा अवसर प्राप्त हुआ है कि हमारा भूतकाल मिट जायगा और

हम नया जीवन प्रारम्भ करेंगे।

जो सलाह मैं लीला को देता, उसे अमल में लाने को मैं भी तत्पर रहता।

बाला से मिलने का मैंने एक बार प्रयत्न किया, पर वह सफल नहीं हुआ। अब इच्छा हो रही है कि उसे बुलाऊँ, तो लोगों में भ्रम उत्पन्न हो जायगा······

सन्मुख भाई का पत्र पढ़कर छाती फूल उठी। अपनी कठिनाइयों में, हमें भली भाँति कोई समझने वाला हो, यह भी एक बहुत बड़ा लाभ है। (६-३-२९)

तुम्हें बाला के कारण 'मूड' आ जाता है, यह स्वाभाविक है। तुम जिसे निर्बलता कहती हो, उसके लिए मैं तुम्हें धन्यवाद देता हूँ। तुम्हारा वात्सल्य तुम्हारे अपूर्व स्त्रीत्व की शोभा है। और इस वृत्ति के होते हुए भी तुम मेरे लिए एक निष्ठा रखती हो, यह तुम्हारी महत्ता है। (७-३-२९)

धीरे-धीरे पत्रों में एक प्रकार का स्वास्थ्य आता जा रहा है।

निरंकुशता के साथ हम अपने धर्म— कर्तव्य—की रक्षा कर रहे हैं। ऐसा नहीं लगता कि भविष्य अंधकारपूर्ण या स्वप्नवत हो जायगा। उत्साह खो डालने की आवश्यकता नहीं है। भावना के लिए मर-मिटने में ही जीवन की सफलता है। छः-सात वर्ष तक बच्चे और तुम वहाँ रह सकोगी और दस पुस्तकों के बराबर मैं पत्र लिखूँगा।

बाला के लिए तुम्हें अपना हृदय दृढ़ करना होगा। अपनी दृष्टि से हम उसे जितना सुखी करना चाहते हैं, उतना उसके पिता उसे नहीं होने देंगे। हम अपने कार्यक्रम को जब तक बिलकुल ही न बदल डालें, तब तक तुम यहाँ आकर उसके साथ नहीं रह सकतीं। यह लड़की जब तुम्हारे साथ रहकर सुखी नहीं हो सकती, तब उसके पिता यदि उसका संसार बनाने का प्रयत्न करें,

तो उसमें बाधा क्यों उपस्थित की जाय ? (७-३-२९)

तुम मुझे कौमुदी के विषय में लिखती हो। परसों मैं बहुत सुबह उठ गया। हेंगिंगगार्डन पर से फैलती हुई चाँदनी का पूर मेरे बिस्तर के आसपास घूम गया था। दूसरे ही क्षण उसके अद्भुत सौन्दर्य, उसकी अवर्णनीय काव्यमयता ने मेरे हृदय को मोहित कर लिया। सर्वव्यापक भावोद्रेक में मैं बहने लगा। मुझे साबरमती और घोड़बन्दर की चाँदनी का स्मरण हो आया। अनेक बार चाँदनी में घण्टे चलते रहे थे, वह याद आया। और मेरे हृदय में तड़पन पैदा हो गई—अनेक कौमुदी से लसी भावी रात्रियों में जब हम साथ-साथ घूम सकेंगे और एक-दूसरे के सान्निध्य में परम आनन्द प्राप्त कर सकेंगे, उस समय की दो दिनों से मैं कल्पना किया करता हूँ। तुम मैट्रिक करके बैरिस्टर होने के लिए यूरोप जा सकती हो। तीन-चार वर्ष लगेंगे। अमेरिकन डिग्री का विवरण तैयार रखना। मैं आऊँगा, तब निश्चय करूँगा। (७-३-२९)

नन्दू काकी को अपेन्डीसाइटिस हो गया था। ऑपरेशन के लिए उन्हें मैं अस्पताल ले गया। 'उन्हें मेरे प्रति बहुत सद्भाव है······जाते समय वे गुजर जाएँ, तो काका को सँभालने और अपने बालकों को पढ़ाने के लिए मुझे सौंपा है। मनु काका बिलकुल किनारे आ लगे हैं।' फिर अपने पत्र सेफ़ में बन्द कर आया।

कई पत्र पुनः पढ़े बिना न रहा जा सका। धीरे-धीरे वर्षों की बाढ़ की तरह हमारे अविभक्त आत्मा का प्राबल्य बढ़ता गया, यह देखते हुए हृदय उमड़ आया। ताजमहल से भी यह सुन्दर मन्दिर हमने बनाया है। एक-एक पत्थर में नये-नये रंग हैं। ब्रह्माण्ड चाहे खण्ड-खण्ड हो जाय, पर जीवित रहते हम जुदा न होंगे। और एक के मरने पर दूसरा जीवित न रहेगा। समग्र जीवन के अणु-अणु एक-दूसरे में मिल गए हैं। (९-३-२९)

पंचगनी में लीला घर में ओत-प्रोत हो गई थी।

जीजी माँ को 'गुजरात' पढ़ सुनाया। साढ़े पाँच बजे जीजी माँ, चन्दन और मैं·········जाने को रवाना हुए। रास्ते में जीजी माँ ने खूब बातें कीं। घर आकर मैं और चन्दन कब्रस्तान के सामने घूम आये। प्रार्थना, भोजन, जीजी माँ का मृग पर भाषण, अंग्रेज़ी कविताओं, कहानियों आदि में साढ़े नौ बज गए। हम जब कल टेनिस खेलने गये, तब जीजी माँ और बच्चे साथ थे। बच्चों को वहाँ बहुत मजा आया। जीजी माँ को भी आनन्द मिला।

(१९-३-२९)

ऐसे उत्साह की प्रतिध्वनि तुरन्त मेरे हृदय में होती।

अनेक बार जीवन सार्थक हुआ मालूम होता है। भविष्य हमारे सामने फैल रहा है; वह सुन्दर है। संस्कार, शक्ति, उपयोगिता और आत्मसिद्धि, इसके सिवा और हमें क्या चाहिए? और कुछ न होगा तो सहधर्माचार तो है ही। अपनी भावना के लिए हम जियेंगे और उसके द्वारा 'गुजरात' के लिए जी सकेंगे।

फिर दूसरे दिन उत्साह का पारा उतर जाता है—

इस समय सारे दिन का थका-हारा मैं घर आया। दर्द से माथा फटा जा रहा था। दुखते सिर निर्जन घर में आना और फिर काम में लग जाना—इस शुष्कता, इस पीड़ा की कल्पना करना कठिन है।···

विधाता का लेख मिथ्या नहीं होगा और हमें जो-कुछ मिला है, वह पर्याप्त है। क्षण-क्षण मुझे ग्लोरिया दिखाई देती रहती है। उसकी आवाज़ मुझे सुनाई पड़ती है। कैसा भी बुरा क्षण हो, पर उसका स्मरण मुझे उत्साह देता है। समुद्र के बीच घोर तूफ़ान में, ज्यों एक तख्ते के सहारे, उससे चिपटा हुआ मनुष्य; दूर चमकते हुए तारे को देखकर उसकी ओर बहा जाता है, त्योंही मैंने बीस वर्ष बिताए हैं। आज मेरा तारा साकार हो गया है—उसने मेरा स्वागत किया है, प्रेरणा देकर मेरे साथ सहजीवन साधा है।

अब मैं थक जाऊँ, पर निराशा को विजय नहीं प्राप्त करने दूँगा। किनारे पहुँचूँगा, तो वह मेरे जीवन का आधार बनकर मेरा सत्कार करेगा। मैं डूबूँगा, तो मेरा तारा मेरे साथ अस्त होगा, चाहे कुछ भी हो।

(१७-३-२४)

कोर्ट में कुछ मित्रों ने मेरे प्रति षड्यन्त्र रचा। केवल अपने अथक परिश्रम और कार्यदक्षता के कारण मैं टिका रहा। इसका एक उदाहरण पत्रों में मिलता है—

आज कोर्ट में मुझसे एक मूर्खता हो गई। प्रतिपक्षी सालिसिटर भला और प्रतिष्ठित था; मेरा मित्र भी था। जज मेरे विरुद्ध कुछ मूर्खतापूर्ण आदेश कर रहा था। उसे रोकने के लिए मैंने आक्षेप किया—साधारण-सा। प्रतिदिन कोर्ट में आक्षेप होते हैं। परन्तु उस सालिसिटर के स्वाभिमान पर आघात हुआ। तुरन्त उसने भूलाभाई से शिकायत की। इतनी साधारण-सी बात को ऐसा महत्त्व दिया जायगा, यह मैंने सोचा भी न था। इस समय मेरी स्थिति ऐसी है कि इन आठ-दस दिनों में दो-चार अग्रगण्य वकील परोक्ष में मेरी बुराई करने को आतुर हो गए हैं।

आत्मीयजन भी जो चाहे कहें, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। सच पूछिए तो इस समय मैं पशु बन गया हूँ और शिकारी मेरा पीछा कर रहे हैं। चारों ओर से ईर्ष्या, अप्रतिष्ठा, निन्दा और तिरस्कार मुझसे लिपटते मालूम हो रहे हैं। और उन सबके बीच से निकल भागे बिना, उन्हें दबाने का मैं अथक प्रयत्न कर रहा हूँ। 'तस्मात् युद्धस्व भारत,' इसके सिवा और कुछ नहीं दिखलाई पड़ता। तुम्हें भी मैं यही मन्त्र देना चाहता हूँ। अन्त तक अपने अविभक्त आत्मा को सँभाले रखकर रण-यज्ञ किये बिना छुटकारा नहीं है।

परन्तु इस प्रकार के विचार होते हुए भी, मेरा विनोदी स्वभाव सब कुछ भुला देता था।

इस समय मेडिकल कॉलेज के लड़के मंगल भाई के अस्पताल के लिए शुक्रवार को अभिनय करने जा रहे हैं। आधा घण्टा उसका रिहर्सल देख आया, तुलसीदास ने बहुत-बहुत कहा, इसलिए गया था। कैसा भयंकर! स्त्रियाँ आई हों, तो उनका नाम लेना भी कदाचित् ही अच्छा लगे। हँस-हँसकर प्राण निकल गए। सब-कुछ बड़ा बेढंगा और हास्यास्पद था। परन्तु जो को कुछ ठीक लगा।

(१७-३-२९)

मैंने फिर से लिखा—

मुझे कुछ नहीं आता। मेरी वकालत व्यर्थ है। मैं अप्रिय हो गया हूँ। सब मेरा तिरस्कार करते हैं। तुम पढ़कर आगे बढ़ोगी, तो मुझमें समाते हुए तुम्हें असन्तोष होगा—ऐसे झूठे तर्क उठते ही रहते थे। कारण यही कि बातचीत करने की कोई जगह नहीं रही और किसी से उत्साह नहीं मिलता। उल्टे द्वेष सहना पड़ता है।

परन्तु तुरन्त सुभग स्मरण आश्वासन देते—

आज ऑपेरा में गानेवालियों के कुछ ग्रामोफोन रिकार्ड बजाए और मेरा मन नेपल्स के ऑपेरा हाउस में जा पहुँचा। वहाँ देखा हुआ पहला नाटक, वहाँ की विशाल रंगभूमि, फिर रोम, फ्लोरेन्स और मिलान की रंगभूमि—मेरे हृदय में अद्भुत तरंगें छा गईं। हमने काव्यमय जीवन जीने के लिए कुछ बाकी नहीं रखा। जीवन के गहन भाव और आनन्द—विशुद्ध और काव्यमय; भगीरथ मनोरथ और अटल कर्तव्यपरायणता, सूक्ष्मतम मनोदशा—मानसिक अवस्था—और सर्वव्यापी आशाएँ, और इन सबमें व्यापक-सी अद्वैत की भावना। हमने क्या-क्या अनुभव नहीं किया? तुम्हारे संस्कृत आत्मा के बिना यह कैसे सम्भव होता? मेरी भविष्यवाणी याद है? "हम सहचार से अमरपुरी बसाएँगे।" उस समय तो केवल आशा ही थी—कभी न झड़ने वाली। आज उसकी सिद्धि

होती जा रही है। जीवन में हमें और क्या चाहिए ?

अपनी पंचगनी की अमरपुरी में हम किसी शनि-रविवार को मिलते—जीजी माँ, बच्चे और हम। जब मैं पंचगनी जाता, तब जीजी माँ लीला को चाय के लिए टेबल पर मुख्य स्थान पर बिठातीं। भोजन की तैयारी के बारे में उससे ही आज्ञा करातीं। घूमने को सारा परिवार साथ जाता। भोजन करके जीजी माँ पान खाने को बैठ जातीं, बच्चे गरबा गाते, लीला हारमोनियम बजाती और मैं तबला बजाता। कई बार पुराने नाटकों के गाने मैं गाता और लीला साथ देती। जीजी माँ कहतीं—"लीला बहन, वह मीरा का भजन गाओ, वह कनु भाई को बहुत पसन्द है।"

इन सब बातों में जीजी माँकी अद्भुत कला थी, यह मैं जानता था। साथ ही दृष्टि की यह तीक्ष्णता भी उनमें थी कि संयम रखने को प्रयत्नशील पुत्र कहीं फिसलकर गिर न पड़े। मेरे लिए वह जीवन ही नहीं धारण किये थीं, परन्तु मेरी विशुद्धि की परम रक्षक भी थीं।

"भाई," कभी कभी जीजी माँ एकान्त में पूछतीं, "इस प्रकार कब तक साहस रखोगे ?"

"जब तक प्रभु की इच्छा होगी, तब तक !" मैं कहता।

मेरा नीति का मार्ग मेरी सहायता करता रहा। "तृप्ति हो जाय, तो भावना-सिद्धि का अन्त आ जाय," मेरा यह सिद्धान्त भी बहुत उपयोगी हो पड़ा। यदि मैं गिर जाऊँ, तो मेरी भावना-सृष्टि नष्ट हो जाय। मैं अपनी दृष्टि में अधम हो जाऊँ। अपनी देवी को—स्वप्न-सृष्टि से जीवन में उतर आई अपनी जीवन-सखी को—अपवित्र कर दूँ। यह भय मेरे आत्मा में ऐसा बसा था कि उसकी उपेक्षा करने का मुझमें साहस नहीं था। मैं समझता था कि यदि हम स्थूल सम्बन्ध स्थापित करेंगे, तो तड़पन के बदले तृप्ति आ जायगी, और तृप्ति आई कि 'हर्डर कुल्म' का सर्जन हम न कर सकेंगे।

सरला, उषा और जगदीश, तीनों को छोटी चेचक निकली। लीला उनकी सेवा करती थी, पर उसे बच्चों की बीमारी देख कँपकँपी हो आती थी।

मैं हृदय खोलना चाहता हूँ। नाराज न होना। चेचक वाले बच्चे यहाँ से वहाँ कूद-फाँद करते और बदन से चिपटते हैं, तो मुझे बुरा लगता है। कदाचित् इस प्रकार का मुझे अधिक अनुभव नहीं हुआ, इससे ऐसा लगता होगा। मैंने अपनी यह वृत्ति दबाकर रखी है, कभी बाहर नहीं आने दी। परन्तु तुमसे कह ही देना चाहिए, ऐसा मुझे लगता है। प्रिय शिशु, कृपा करना और मेरी विनम्रता से दुखी न होना। (२४-३-२५)

उसी दिन शाम को उसने पत्र लिखा—

आज सवेरे मैंने तुम्हें एक पत्र लिखा है। उसकी मुझे बहुत ही चिन्ता हो रही है। तुम बच्चों के विषय में जीजी माँ को लिखोगे और यह उन्हें बुरा लगेगा, ऐसा मुझे लगा करता है। कृपा करके कुछ भी न लिखना। मुझे नहीं लिखना चाहिए था, पर भूल से लिख गई, कारण कि अपना प्रत्येक विचार तुम्हें लिखने की मुझे टेव पड़ी है। (२४-३-२५)

उसी रात को उसने फिर पत्र लिखा—

तुम्हें, आज भेजे हुए मेरे दोनों पत्र मिले होंगे। मुझे अब लज्जा मालूम हो रही है। तुमने मुझे कायर समझा होगा और चिन्ता भी बहुत हुई होगी। प्रिय शिशु, जरा भी चिन्ता न करना। तुम्हें कहने का साहस होता है कि मैं बिलकुल कायर सिद्ध नहीं हुई......मेरी निर्बलताओं को तुम्हें सदा क्षमा करना होगा। तुम न करोगे, तो और कौन करेगा ?

बच्चों की माँ नहीं है, इससे तुम्हें बहुत दुख हुआ और होता होगा। यहाँ जीजी माँ हैं, इसलिए बच्चों की देखभाल भली भाँति होती है। परन्तु वह न होतीं तब भी यह सब-कुछ होता, यह बात क्या मुझे लिखनी पड़ेगी ? (२४-३-२५)

परन्तु लीला ने माँ बनने में कमी नहीं रखी थी—

जगदीश को जरा घबराहट होती है। उसे खुजलाने को जी

करता है, इसलिए जीजी माँ ने, रात को उसके पास बैठने के लिए कहा, परन्तु उनका खयाल है कि वे सो जायँगे, इसलिए जागने की जरूरत न पड़ेगी। आज सरला को भी तेज बुखार आ गया था। इस समय उतर गया है। चिन्ता न करना। उषा के चेचक के दाने सूखने लगे हैं। वह दो-एक रोज में ठीक हो जायगी।

जब हम पंचगनी में मिलते, तब कभी-कभी संयम से अकुलाये हुए हम अन्त समय में झगड़ पड़ते। मैंने लिखा—

अन्तिम समय की अकुलाहट मुझे कल तक रही। किसी भी प्रकार मैंने अपने मन को मोड़ लिया है; पर ऐसे समय—जब psychological (मनोवैज्ञानिक) क्षणों में जुदा हो रहे हों—आनन्द की पराकाष्ठा को पहुँच गए हों—तब न जाने कहाँ से तुम्हें ऐंठ जाने की सूझा करती है। इसके कारण, जो क्षण सुखमय बीतने चाहिएँ, वे नष्ट हो जाते हैं······तुम मेरे कहने से उठकर खा लेतीं तो 'सारा दिन तुम्हें चुनचुनाहट होती रहती'; चुनचुनाहट यही कि तुमने मेरा कहा मान लिया। मेरा कहा मानने में तुम्हें अधिक हीनता लगती है! हम दोनों को ऐसी हीनता लगेगी, तो हम कहाँ जाकर बसेंगे?······

लीला मेरी तरह स्पष्ट रूप में नहीं लिखती थी, परन्तु मुझसे भूल या क्षति हो जाय, तो धीरे से मुझे टोकती थी। पहले तो मैं नाराज हो जाता, परन्तु बाद में उसके कथन की वास्तविकता का मुझे भान होता। इस प्रकार कुछ अंश में अकुलाहट और क्रोध को मैं रोक सकने लगा।

अपने छोटे से जगत् में स्वच्छन्दता से राज करता हुआ मैं, क्रोधी स्वभाव वाला, अविभक्त आत्मा की खोज में, धीरे-धीरे अपने स्वभाव को परिवर्तित करने लगा।

दूसरी बार रंग बदल गया।

सुन्दर और शान्त वातावरण में मैंने तुम्हें नवीन अपूर्वता में देखा। हमेशा जब हम मिलते हैं, तब उत्पात उठ खड़ा होता है।

इस बार हम शान्त और विश्वासपूर्ण थे। इन तीन वर्षों से अवि-भक्त आत्मा के स्वप्न देख रहे थे, पर ये स्वप्न व्यर्थ नहीं हैं।

तुमने अपनी निर्बलता के विषय में जो लिखा, वह पढ़ा, परन्तु तुम्हारे मनोबल में मुझे पूर्ण विश्वास है। यह खयाल रखना कि जब कोई बीमार पड़ता है, तब स्नेहशील—हितैषी व्यक्ति—से लिपटने की उसकी वृत्ति स्वाभाविक है, और ऐसा कुछ न हो, तो कमी का भान होता है। इतने दिनों से तुम्हें प्यार करने को कोई नहीं था, इसलिए मन मारकर तुम्हारी मानसिक अवस्था कठोर हो गई है। कल लड़के को बुखार आ गया, इसी प्रकार एक-दो बार बीमार होगा, तो इस प्रकार की तुम्हारी मानसिक अवस्था बदले बिना न रहेगी। और, बच्चों के बीमार पड़ने पर जैसी तुम स्नेहशीला और एकतान हो जाओगी, वैसी और किसी प्रकार नहीं होओगी।

मैं लीला को बच्चों की माँ बनाना चाहता था और उसे बनना था। और इस नियम की साधना के लिए वह तप करने लगी थी। बच्चों के लिए मैंने फिर लिखा—

ऐसे समय बच्चों के सामने अपना राष्ट्रीय दृष्टिकोण रखना। नहीं तो वे देशी ईसाई-जैसे हो जायँगे। तुम सब घर में बैठे रहते हो, इसलिए तुम्हें पूरा अनुभव नहीं होता। परन्तु प्रतिक्षण अंग्रेज़ हमें जातीय अधमता के पाठ पढ़ाते हैं, यह देखकर मेरा हृदय उबल पड़ता है। यह ध्यान रखना कि बच्चे ऐसी अधमता न सीख पाएँ।

(२४-३-२९)

इस दिन पुनः मैंने एक पत्र लिखा—

इस समय मैं ऐसा मन्द-उत्साह हो गया हूँ कि कुछ लिखने या करने की इच्छा नहीं होती। अब की बार पत्र आने पर चेतना आएगी।

पूना से मैं 'स्टारवुड एन्युअल' नामक मासिक-पत्र ले आया

हूँ। उसमें चित्र, कहानियाँ और हास्य-विनोद बहुत ही भद्दा है। मैं पढ़कर भेज दूँगा। कुछ अशिष्ट-सा है, परन्तु मैं क्या करूँ? तुम्हें सर्वदेशीय शिक्षा प्राप्त कराने का निश्चय कर रखा है, इसलिए भेजना ही होगा। नहीं तो तुम कहोगी कि ऐसी चीज़ें तुम पढ़ते और आनन्द लेते हो और क्या हम स्त्रियों ने अपराध किया है। नहीं भाई, नहीं। कौन समझाएगा इस दुष्ट मानवता की फिलॉसफी को?

आगामी रविवार को भाई चन्द्रशंकर चमकने वाले हैं। गोकुलदास पारेख की उठौती है, वहाँ 'गुर्जर सभा' में। चिमन भाई सभापति होंगे। (२४-३-२५)

साथ-साथ अपने धन्धे-रोजगार की डायरी भी लिखता रहता था।

न्यायाधीश काजी जी के विरुद्ध जो एंग्लो-इण्डियन मुकदमा चल रहा था, उसकी अपील थी। आज रोज़...से सुलह हो गई है। (२४-३-२५)

दूसरे दिन मैंने लिखा—

आज सारा दिन मैं बहुत काम में फँसा रहा। जमीयतराम काका के लिए मैं बहुत मूल्यवान् हो उठा हूँ। स्ट्रैंगमेन (मेरा अग्रणी वकील) आकर बैठा और केस शुरू हो गया। काका ने समझ लिया कि मैं तीन घण्टे अनुपस्थित था, इस बीच स्ट्रैंगमेन ने केस को ऐसा बिगाड़ दिया। इसलिए, आज काका ने बड़े रूखे ढंग से उससे कहा कि आप रहने दीजिए, मुन्शी केस को चलाएँगे। यह उसे बुरा लगा और मालूम होता है वह चला गया। कल मेरे भाषण की बारी आएगी। हम जीतेंगे, तो एक बड़ा मुकदमा मेरे नाम जमा होगा। इसके सिवा कठिन केस चलाने का लाभ तो प्राप्त हो रहा है। काका बीस गिनियों से अधिक फीस शायद ही दें।

यह चाँद छाप केसर का मुकदमा, मेरे कार्य-कलाप का एक सीमा-

चिह्न था।

केसरबाई नाम की विधवा स्पेन से चाँद छाप केसर मँगाती थी। उसे जमीयतराम काका पर पूर्ण विश्वास था। उनकी राय के बिना, वह एक सींक भी इधर-से-उधर नहीं करती थी। दुकान का काम वह अपने दो रिश्तेदारों के द्वारा चलाती थी।

केसर के चार बक्स स्पेन से आये। दुकान का हमेशा का दलाल, बक्सों को बन्दरगाह से ले आया। उस दिन जमीयतराम काका बम्बई में नहीं थे। कुछ दिन पश्चात्, दलाल के सालिसिटर ने पत्र लिखा कि वे बक्स केसरबाई ने दलाल के यहाँ बीस हजार रुपयों के लिए रहन किये थे, और उन बीस हजार रुपयों की उसने माँग की।

जमीयतराम काका रहन की दस्तावेज देख आये और उसका विवरण दिया। केसरबाई के हस्ताक्षर अवश्य हैं; वे बम्बई में नहीं थे, तब किये गए हैं। हस्ताक्षर के ऊपर वाली पंक्तियाँ टेढ़ी-मेढ़ी थीं। कागज, ऊपर और नीचे से जरा टेढ़ा कटा हुआ था। काका ने यह दलील देकर रुपया देने से इन्कार कर दिया कि दस्तावेज जाली है। दलाल ने मुकदमा दायर कर दिया।

काका अद्भुत सालिसिटर थे। वे अपनी वकालत की सारी कुशलता, इस दस्तावेज को जाली साबित करने के काम में ला रहे थे। मेरे अग्रणी बैरिस्टर स्ट्रैंगमेन और भूलाभाई थे। हस्ताक्षर केसरबाई के थे, इसलिए दोनों ने कहा कि दस्तावेज को जाली साबित करना असम्भव है।

काका ने मुकदमे की पैरवी का काम मुझे सौंपा। मैंने कई दिन लगाकर मुकदमे की तैयारी की। जस्टिस क्रम्प के इजलास में केस चला। मोतीलाल सेतलवाड़ दलाल की ओर से थे।

दलाल का केस बहुत मजबूत था। दस्तावेज पर हस्ताक्षर और गवाही हमारी थी। उसकी बहियों में बीस हजार रुपये उसी तारीख में नाम पड़े थे। वह बक्स ले आया, यह बात तो ठीक ही थी। रुपये भी चेक से लिये थे। केसरबाई और उसके भतीजे के इन्कार से क्या हो सकता है?

हमारा केस यह था कि वेयरहाऊस से बक्सों को लाने के लिए दरख्वास्त देने के बहाने, दलाल केसरबाई से सादे कागज़ पर हस्ताक्षर ले गया और बाद में उसे काटकर उस पर रहन की दस्तावेज़ लिख ली गई। स्ट्रैंगमेन और भूलाभाई दोनों जमीयतराम के विश्वास और मेरी राय का मज़ाक उड़ाते थे। काका ने मुझे उत्साहित किये रखा। मैंने भी खूब परिश्रम किया।

बारह दिन तक केस चला— तलवार की धार पर। क्रम्प शान्ति से सुनता था। अन्त तक वह इस ओर या उस ओर कोई निर्णय नहीं कर सका। हमारा मुख्य साधन दस्तावेज़ था। उसका नाप, उसकी पंक्तियों के बीच का अन्तर, जगह भरने के लिए बढ़ाये हुए व्यर्थ के शब्द—यह सब दिखलाता था कि केसरबाई के हस्ताक्षर किये हुए सादे कागज़ पर दस्तावेज़ लिखी गई है।

मुकदमे के दौरान में जब दलाल ने बही-खाते पेश किये, तब मुझे विश्वास हुआ। मैंने मुकदमे की फिर से जाँच की। पिछले वर्ष के बही-खाते मँगाए। कोर्ट से आज्ञा लेकर उनकी जाँच की और २०,००० की रकम हिसाब में दलाल ग़लत ले आया है, यह प्रमाणित करने का मैंने प्रयत्न किया। हम जीते।

काका ज़िद में भरे थे, इसलिए उनकी प्रसन्नता का पार न था। इस केस से मुझे अपने पर यह विश्वास हो गया कि मैं मुकदमे की जाँच-पड़ताल अच्छी कर सकता हूँ।

इस केस की पूर्ति बड़ी विचित्र थी। काका ने अपनी 'जी हुज़ूर' वाली तर्ज़ में भूलाभाई का बहुत मज़ाक किया। वे बहुत नाराज़ हुए। फिर अपील हुई। अपील के समय भूलाभाई कहा करते थे कि तुम ग़लत तरीके से जीते हो, इसलिए काका को केस मेरे सिपुर्द करना चाहिए था। परन्तु भूलाभाई कोर्ट में आये और हमारी ओर से भाषण शुरू कर दिया। चीफ जज मेक-लाउड ने चेक और हस्ताक्षरों पर आधार रखकर, अपील करने वालों को सुनने से पहले ही तुरन्त भूलाभाई से सवाल करना शुरू कर दिया। इतने ही में खबर आई कि काका की पुत्रवधू और मेरी भानजी की लड़की ने भूल से

कोई विषैली दवाई पी ली है ।

साढ़े पाँच बजे कोर्ट से निकलते हुए भूलाभाई ने काका से कहा कि फीस बहुत कम है । काका क्रोध को दबाकर बोले—"भाई, तुम्हें जो लेना हो ले लो ।" और वह चले गए ।

शाम को मैं बही-खाते समझाने के लिए भूलाभाई के पास गया । वह भी क्रोध में भरे थे । बोले—"तुम ग़लत तरीके से मामला जीत आये, तब मैं क्या करूँ ?"

दूसरे दिन मेकलाउड ने अपनी आदत के अनुसार भूलाभाई को दबाना शुरू किया । चेक है, हस्ताक्षर हैं, तब सारे सबूतों को पेश करने का भार आप पर है । केवल जबानी सबूतों से भार कैसे हट सकता है ?" काका कहते थे—'तुम बही-खाते दिखलाओ ।' भूलाभाई कहते—'तुम समझते नहीं ।' डेढ़-दो घण्टों में मेकलाउड ने हमारे विरुद्ध निर्णय कर दिया और मुकदमे के लाभ से बीस हजार का हुक्मनामा लिख दिया ।

काका और भूलाभाई लाल होकर लायब्रेरी में आये और दोनों लड़ पड़े—दोनों की आयु और प्रतिष्ठा को शोभा दे, इस प्रकार । बड़ी मुश्किल से मैंने दोनों को शान्त किया ।

काका लगन और धुन में अद्वितीय हैं । इस हार से उन्हें आघात हुआ, और अपने खर्च से वे मामले को प्रीवी कौंसिल में ले गए । वहाँ बैरिस्टर लांउड्स ने बही-खातों पर तीन या चार दिन तक विवेचन किया । तार आने पर काका ने मुझे फोन किया—'कनु भाई, हम जीत गए ।'

दलाल का बहुत खर्च हो गया और बहुत समय तक वह न दे सका ।

एक दिन बालकेश्वर पर से काका जा रहे थे और सामने से दलाल खुली कार में आ रहा था । पुलिस ने वाहनों को रोक दिया, इसलिए दोनों मोटरें पास पास खड़ी हो गईं । दलाल गाड़ी में खड़ा हो गया और स्टार्टर का हैंडल काका पर ताना । गाड़ी में कोई और बैठा था, उसने दलाल को रोका । गाड़ियाँ आगे चल पड़ीं और काका बच गए ।

परन्तु अब हमारी ऐक्यगाथा आगे चलनी चाहिए । बच्चों की सेवा

के विषय में मैंने लिखा—

तुम्हारे दोनों पत्र मिले। तुम्हें घबराने की आवश्यकता नहीं थी। अब जीजी माँ के साथ तुम्हें सब काम-धाम चलाना है। तुम्हारे हृदय में जो-कुछ हो, वह मुझे ज़रूर लिखना। इसमें कोई हर्ज़ नहीं है। परन्तु जीजी माँ की कोमल भावनाओं पर आघात होने की अपेक्षा, तुम्हारे प्राणों पर जबरदस्ती होना अधिक अच्छा है। जो हमारे लिए इतना करे, उसके लिए कुछ सहन करना ही पड़ेगा।

बच्चों की चिन्ता होती है। अपने स्वास्थ्य को सँभालना। यह भी ध्यान रखना कि बच्चों को तुम्हारा प्यार कम न लगे। अविभक्त आत्मा का जादू अब दूसरों पर चलाने का समय आ गया है। आज ही मेरे मन में विचार उत्पन्न हुआ कि जब से तुम मेरे जीवन में आई हो, तब से मेरे जीवन का रंग बदल गया है। जीजी माँ को शान्ति और सुख मिला; बच्चों को संस्कारिता मिली; चन्दन का विकास हो रहा है; जड़ी बहन रोज दस घण्टे चित्र बनाने में लगी रहती है, थोड़े ही दिन सीखते हुए, परन्तु अच्छा काम कर लेती है। मैं साहित्य का अध्ययन करता हूँ। और मिस 'प्रेरणा' अँग्रेज़ी, फ्रेञ्च, पियानो, कहानी-साहित्य, बेडमिन्टन, पिंगपाँग, घरेलू काम-काज, पारिवारिक प्रपंच आदि विषयों में चारों पैरों से आगे बढ़ रही है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि तुम सब इतने बढ़ जाओगे, तो मैं जूना-पुराना बूढ़ा मालूम होने लगूँगा। जब ऐसा मालूम होने लगूँ, तब जरा निगाह रखना। तब यह अवश्य कहना कि तुम सबकी संस्कारिता के लिए मैंने कितनी शुष्कता सहन की है। (२६-३-२५)

परशुराम हमारे भार्गव-पूर्वज थे। बचपन से ही नाटक में मैं उनका पार्ट किया करता था। जीजी माँ अपने को रेणुका समझती थीं। उनकी कुछ कविताओं में यह उल्लेख भी किया है। इस समय हम 'गुजरात' के

कवर पर, 'परशुराम का फर्सा,' श्रीकृष्ण का गरुड़ध्वज और सिद्धराज का जो कुक्कुटध्वज छापा करते थे, उसे अलग करके प्रज्ञापारमिता का चित्र छापा। जीजी माँ को यह बुरा लगा, लीला ने लिखा। मैंने उत्तर दिया—

परशुराम के विषय में जीजी माँ को बुरा लगना स्वाभाविक है। परशुराम की भक्ति उन्होंने ही मुझमें पैदा की होगी। और जगदीश के समान उमर में इस भक्ति से मेरा न जाने क्या-क्या विकास हुआ है। यदि किसी महात्मा से व्यक्तिगत सम्बन्ध हो जाता है, चाहे वह वास्तविक हो या काल्पनिक, तो उसका बचपन में बड़ा प्रभाव होता है। पितृभक्ति संस्कार धर्म और राष्ट्रीयता, दोनों का मूल है। भले ही वह केवल पिता की कल्पना हो; परन्तु वह बहुत सी वास्तविक वस्तुओं का सर्जन करती है। प्रथम शक्ति पुरुष और स्त्री की अभेद्य एकता की कल्पना, और दूसरी पितृ-भक्ति की। छोटे बच्चों के साथ हो, इसलिए उनके मानस का निरीक्षण करना चाहिए। जो बात हमें निरी गप मालूम होती है, वह भी उन पर बहुत असर करती है। (२७-३-२९)

मैं अविभक्त आत्मा की प्रगति को सूक्ष्मरीत्या नोट करता जा रहा था। मुझे अपने दोनों के स्वभाव के छोटे-मोटे दुर्गों को तोड़ डालना था।

तुम्हें पहले पत्र में अकुलाहट मालूम हुई और दूसरे में अन्तर मालूम हुआ, यह सही बात है। यह जीतने का तुम प्रयत्न कर रही हो, इसलिए जितना भी तुम्हारा अभिनन्दन करूँ, उतना ही अच्छा है। बचपन में माँ, बाप, भाई या बहन की ओर स्त्री का जुदा भाव होता है। उनके साथ वह हमेशा झगड़ती अवश्य है, फिर भी जन्म से ही वे उसे अपने मालूम होते हैं। प्रत्येक कठिनाई में वह उनकी ओर झुकती है; उनमें से उसका विश्वास कभी नहीं डिगता।

बड़ी अवस्था में पति या मित्र की ओर उसकी ऐसी विशुद्ध भावना नहीं होती। अपनी ओर से वह अपने को भली दिखाने

का ही प्रयत्न किया करती है। व्यवहार में भय और गौरव का अन्तर रहा ही करता है। ससुराल वालों, मित्र के रिश्तेदारों या परायों के साथ घुलमिल जाते वह घबराती है। बहुत बार वह इस घबराहट को भुलाने के लिए पति से बातचीत करती है, परन्तु इस घबराहट का विष दूर करने को वह माँ, बहन या भाई से फरियाद करती है। यह साधारण रीति है।

परन्तु असाधारण रीति हमारी है। तुम्हारा एक ही बाल-स्नेही है, जिसका अदृष्ट मुख तुमने बचपन की कल्पना में पेडर रोड पर देखा था। एक ही माँ है, जो तुम्हें दुखी करती है, फिर भी जिसके स्नेह के बिना तुम्हारा काम नहीं चलता। एक ही भाई और बहन है जिसके साथ अकारण ही जिद की जा सकती, रस्साकशी हो सकती और जिसकी सहानुभूति प्राप्त हो सकती है। इन सब वृत्तियों का योग अविभक्त आत्मा है। परायों के साथ घुलमिल जाने का प्रयत्न करते हुए घबराकर, उसकी मुझसे फरियाद करो, फिर बड़ी अवस्था की वृत्ति आने पर मुझसे फरियाद करके उसका पश्चाताप करो; फिर मुझे चिन्ता होगी, यह सोचने लग जाय, और फिर भी विविध रंगों वाला सम्बन्ध देखते हुए सब उचित मालूम हो। इस प्रकार इन सब भावों में, तुम्हारे हृदय में बसने वाले अविभक्त आत्मा के सिवा और कुछ नहीं दिखाई पड़ता। यदि तुम यह सब न करो, तो हमारा सम्बन्ध सर्वांग-सुन्दर कैसे हो? ज्यों पराये अपने हो जाते हैं, त्यों बच्चे भी हमारे होंगे। जिस कला और धैर्य से तुम यह करने का प्रयत्न करती हो, वह तुम्हारी महत्ता का प्रमाण है। मैं क्या करता हूँ, यह तुम नहीं देखतीं? जीजी माँ, तारा बहन और जड़ी बहन, तनमन, मनुभाई और आचार्य आदि जिन-जिनका मैंने जीवन से सम्पर्क किया है, वे सब आज तुम्हारे अन्दर हैं, यह मैं मानने लगा हूँ। कई बार मैं मूर्खता का व्यवहार करता हूँ—कभी उदार, कभी अत्याचारी,

कभी स्वार्थी। फिर भी सब सम्बन्धों के साथ मुझे तुम ही दिखलाई पड़ती हो। जब तक इन सर्वव्यापी सम्बन्धों के साथ तुम दिखलाई देती हो, तब तक कुछ न होगा। सब एकमेव हो जाएँगे।...

घबराहट हो, तो सहन करना। परन्तु इससे जीजी माँ और बच्चों को कोई अन्तर न मालूम हो। यह बेचारे सब हमारे आधार पर हैं। उनकी कमी हम पूरी न करें तो हमारी भावना किस काम की? (२७-३-२५)

साथ ही मैं बच्चों के विषय में लिखता रहा।

बच्चों में उचित परिश्रम की आदत डालना। जीजी माँ उनके खाने पर ध्यान नहीं दे सकतीं। वे अच्छे हो गए हों, तो उन्हें अलग सुलाने की व्यवस्था करना। और लक्ष्मी (नौकरानी) लता का बिस्तर बहुत गन्दा रखती है, उसे जरा देखती रहना। मुझे इससे बहुत चिढ़ है। (२६-३-२५)

इस प्रकार मैं लीला को गढ़ता, उससे गढ़ा जाता; और अधिक सूक्ष्म एकता की खोज में हम दिन बिताते। फिर गोकल काका की सभा का हाल लिखा।

सभा में हो आया। मारवाड़ी विद्यालय में अच्छी भीड़ थी—तीस स्त्रियाँ और तीन सौ पुरुष। चिमन भाई सभापति थे। कृष्णलाल काका ने सभापति के लिए प्रस्ताव उपस्थित किया और बलुभाई ठाकोर ने अनुमोदन। फिर चिमनभाई ने अपने सीधे संक्षिप्त ढंग से विवेचन किया।

सर लल्लूभाई शाह ने शोक-प्रस्ताव उपस्थित किया। विट्ठल-भाई ने लोगों को कुछ हँसाया और नौकरों को गालियाँ दीं। नगीनदास मास्टर बोले। फिर चन्द्रशंकर अपने बैठे गले से ऐसे गरजे कि दो हजार मनुष्य सुन लें। मैं और भूलाभाई पीछे बैठे हुए हँस रहे थे। उन्हें कुछ स्त्रियों को पहचानने की इच्छा हुई, उसे मैंने पूरा कर दिया। मुझे ऐसा लगा कि तुम्हें देखने की उन्होंने

आशा की थी। लेडी लक्ष्मीबाई की तबियत ठीक न होने के कारण तापीबाई ने भाषण दिया। "हम स्त्रियाँ जब घबरा जातीं, तब किसी भी समय उनकी सलाह लेने जातीं। वे शान्त कर देते," यह बार-बार कहा।

दूसरा प्रस्ताव था, शोक-प्रदर्शन वाला प्रस्ताव उनके कुटुम्बियों के पास भेजने का। भूलाभाई ने उचित रूप में, किन्तु विक्लिष्ट भाषा में भाषण दिया। मैंने अनुमोदन कर दिया। आज मैं ठीक बोला। प्लेटफार्म हो, और मनुष्य अधिक हों, तब ठीक बोला जाता है।

१५

पंचगनी

अप्रैल महीना आ गया। कोर्ट की छुट्टियाँ हो गईं और मैं छुट्टियाँ बिताने पंचगनी गया। लक्ष्मीविला अब 'हर्डर कुल्म' के स्वप्नों की सिद्धि जैसा हो गया था। जीजी माँ के रसायन का प्रभाव चारों ओर दिखाई देता था। उन्होंने घर का कार-बार और बच्चों की देखभाल लीला के सिर डाल दी थी। मेरी चर्चा दोनों करती रहती थीं। सवेरे और शाम को परिवार की सारी मण्डली इकट्ठी होकर आनन्द से वार्तालाप किया करती थी। उसमें 'लीला काकी' का स्थान उन्होंने मध्यस्थ कर दिया था। 'लीला काकी, बच्चे और मेरी बहन की पुत्री चन्दन के साथ कॉन्वेन्ट में जातीं, फिर आतीं, घूमने जातीं, रात को गरबा या संगीत से घर गुँजा देते। मैं लक्ष्मीविला में पहुँचता कि सब पूर्ण भक्ति से मेरा स्वागत-सत्कार करते।

छुट्टियाँ बिताने की मैंने कला बनाई थी। जीवनचर्या की गति मैं शिथिल कर देता। देर से उठता। फिर सबके साथ चाय पीने बैठता। यह क्रम घण्टे डेढ़-घण्टे चलता रहता था। गप्पें लड़ाई जातीं, सपनों की बातें होतीं, बम्बई या पंचगनी के गाँव-गपोड़े होते रहते। सब हँसते, और लीला केटली में से चाय के प्याले-पर-प्याले उँडेलती जाती और पानदान पर जीजी माँ का हमला चालू रहता। फिर सब स्नान के लिए उठ खड़े होते और

लीला तथा बच्चे कॉन्वेन्ट में जाते। मैं जीजी माँ से बातचीत करता रहता, कहानी लिखता, या कोई मिलने आता, तो उससे मिलता। मध्याह्न के पश्चात् हम भोजन करते। लीला और बच्चे पुनः कॉन्वेन्ट में जाते और मैं सो जाता, या कहानी लिखता।

शाम को सारी सेना एक साथ घूमने निकलती। पंचगनी का प्लेटो, बहुत रमणीय स्थान है। एक बहुत बड़ी, विशाल और सपाट शिला गाँव पर झूमती रहती है। इस पर से कृष्णा की खाड़ी और महाबलेश्वर की शृङ्गावली का सुन्दर दर्शन होता है। शाम को सारा गाँव इस पर घूमने को आता और स्कूलों के लड़के क्रिकेट खेलते। शाम को वहाँ कृष्णा की खाड़ी से ठंडी-ठंडी हवा आती रहती। हम प्लेटो पर घूमते रहते या खाड़ी की आधी प्रदक्षिणा करके घर लौट आते। रात को भोजन के बाद गरबा गाया जाता या संगीत शुरू हो जाता। लीला बहुत सुन्दर गाती थी। उसे शास्त्रीय संगीत का बड़ा शौक था। मैं केवल नाटक के भड़कीले गाने ही गा सकता था, वह भी बेसुरे और पुराने जमाने के। बहुत ही छुटपन में अपने पिताजी से तबले की दो-चार तालें सीखी थीं, उन्हें ही किसी प्रकार पीटे जाता।

नित्य के इस आनन्द-विनोद में पहले लीला और चन्दन का शास्त्रीय संगीत होता। फिर मैं तबला बजाता और डाह्याभाई धोलशा जी आदि के पुराने नाटकों के गीतों का समूह-गान आरम्भ हो जाता। सरला या जगदीश मजीरें या थाली लेकर ताल देते। साढ़े दस बजे हमारा दिन समाप्त होता और अपनी भिन्नता का वेदनापूर्ण ध्यान हमें आता। क्षण-भर के लिए खेदपूर्वक हम एक-दूसरे की ओर देखते और अपने-अपने कमरे में चले जाते। हम जानते थे कि जरा भी संयम हम खो बैठेंगे, तो जो सुन्दर वातावरण जीजी माँ के आशीर्वाद से हम निर्मित कर रहे हैं, वह समाप्त हो जायगा।

पंचगनी छोटा-सा परन्तु सुघड़ गाँव था, इस समय है या नहीं, कुछ खबर नहीं। इसका जलवायु बहुत अच्छा है। वर्षाकाल में सदा बादलों

से घिरा इसका आकाश, रिमझिम हो रही वर्षा, और मादक जाड़ा, स्विट्ज़रलैण्ड का कुछ स्मरण कराता है। ग्रीष्म की दोपहरी में यह कुछ गरम होता है, परन्तु प्रातः-सन्ध्या इसकी बहुत ही रमणीय होती हैं।

इस गाँव में बसने का हेतु पूर्ण हो गया था। जगत् के जले-भुने हम अपना स्वर्ग—जीवन-भर के लिए—यहाँ बना सकते हैं, ऐसा प्रतीत हुआ।

पंचगनी में तीनों पण्डित भाइयों का हमें परिचय था। पंचगनी का जलवायु छोटे बच्चों के अनुकूल था, इसलिए अंग्रेज़ और पारसी लड़के-लड़कियों के लिए यहाँ स्कूल थे। तीनों पण्डित भाइयों ने हिन्दू बच्चों के लिए 'पंचगनी हाई स्कूल' स्थापित किया था। इन तीनों भाइयों की परिश्रम करने की शक्ति, गार्हस्थ्य जीवन और आदर्शवाद से हम बहुत आकर्षित हुए। उनके आने से पंचगनी में हिन्दू स्थान पा सके। मैं उनके स्कूल से दिलचस्पी रखने लगा और इसे रजिस्टर्ड सोसाइटी का पब्लिक स्कूल बना देने का वचन दिया। मंगलदास पकवासा (इस समय मध्य प्रदेश के गवर्नर) जब दीर्घ समय तक यहाँ रहे थे, तब उन्होंने हिन्दू जिमखाने का काम अपने हाथ में ले लिया था। उसमें भी हम दिलचस्पी लेने लगे। इस कारण हालांकि गाँव का वातावरण हमें स्पर्श नहीं करता था, फिर भी वह ऐसा लगने लगा जैसे हमारा हो।

घर में संवाद पैदा करने वाली एक ही थी। उसका नाम मणीबाई बताने से काम चल जायगा। इसके विद्वान् पति को अगले वर्ष मैंने प्राचीन गुजराती साहित्य संग्रहीत करने के लिए वैतनिक रूप से रख लिया था। १६२४ में दोनों—पति पत्नी—मेरे यहाँ दो-तीन महीने रहे थे। वह विद्वान् तो गुजर गए और अपनी लगभग पचास वर्ष की निराधार विधवा को छोड़ गए। उसके आग्रह से मैंने उसे जीजी माँ की परिचर्या करने को नौकर रख लिया और पंचगनी भेज दिया।

पंचगनी में उसे न जाने कैसे सेठानीपन का भूत सवार हो गया। उसे अच्छी पोशाक, स्टॉकिंग और बूट पहनने का शौक लग गया। "बूट के बिना तो मैं कभी ज़मीन पर पैर नहीं रखती थी।" जीजी माँ की सेवा

करने के बदले नौकरों से वह अपनी सेवा कराने लगी। बच्चों से वह अपने बड़प्पन की बातें करने लगी—"मुझे तो रोज कमर दबवाने के लिए कोई चाहिए।" चक्की पीसकर पड़े हुए छालों को भूलकर 'मुझे यह नहीं भाता और वह अच्छा नहीं लगता,' कहकर वह रोज फरियादें करने लगी। उसके बड़प्पन की सनक से, पहले तो बच्चों को बड़ा मजा आया, कारण कि उन्हें मज़ाक का एक नया विषय मिल गया; परन्तु धीरे-धीरे उस मणीबाई के दिमाग में यही बैठ गया कि वह लखपती थी और इस घर में उसे असह्य दुख सहना पड़ता था। आखिर ज्यों-त्यों समझाकर उसे उसके गाँव भेज दिया और उसके पति के स्मरणार्थ थोड़ी-बहुत सहायता करते रहे।

बम्बइया लोगों के घर का एक अनिवार्य अंग है घाटिन। जहाँ बिना माँ के या कार्यव्यस्त या आलसी माँ के छोटे-छोटे बच्चों की देख-रेख करनी हो, वहाँ इसके बिना गाड़ी ही नहीं चल सकती, यह बम्बई का सिद्धान्त है। यह घाटिन कहाँ से आई है, कौन इसका रिश्तेदार है, कौन इसका पति है, ये अनावश्यक बातें कोई नहीं जानता और जानने का कष्ट भी नहीं उठाता। न जाने वह कहाँ से आती और कहाँ अदृश्य हो जाती है। सेठानी की सेवा करे या बच्चों की देख-रेख करे, प्राण लगाकर करती है। चोरी कदाचित् नहीं करती। और कभी-कभी गृहिणी से भी अधिक घर को सँभालती है। कोई सुन्दर और स्वच्छन्द हो, इसकी तरह, तो घर में आते ही रसोइया महाराज या दो चार नौकरों को अपना प्रियपात्र बना लेती है और तुरन्त उनके बीच झगड़ा शुरू हो जाता है। बम्बई में सेठ या सेठानी भले ही हों, परन्तु नौकरों की जमात तो मेरे 'ब्रह्मचर्याश्रम'[1] के समान ही होती है; इसलिए 'पेमल' की प्रीति के लिए नौकरों में दौड़ादौड़ी शुरू हो ही जाती है। यह घाटिन सब नौकरों से झगड़ती, बच्चों को दुखी करती, सेठानी को सताती और सेठजी के मन की लगाम कुछ ढीली हो, तो ज़रा नीची नज़र करके दो नयन-बाण भी मार देती है।

१. मेरा नाटक

मेरे एक मित्र की पत्नी को, अपने पति पर ऐसा पूर्ण विश्वास था कि घर में घाटिन न रखने की उसने प्रतिज्ञा कर ली थी। बम्बई में रहते हों और वह बाहर-ही-बाहर मौज मार लें, तो आँखें मूँदी जा सकती हैं; पर घर में किसी समय वह ऐसा दृश्य दिखा सकती है कि देखकर आँखें फूट जायँ। एक घाटिन तो हमारे बिस्तरे का पूरा उपयोग करते पकड़ी गई थी। परन्तु बम्बई की घाटिन पंचगनी रहने को आती है, तो हमारे सिर पर उपकार का हिमालय ही लाद देती है। जरा-जरा-सी बात में "मैं यहाँ से चली" तो सुनना ही पड़ता है। पंचगनी में एक घाटिन के लिए दो नौकरों ने एक-दूसरे के सिर फोड़ डाले। दूसरी ने गर्भ गिरा दिया। तीसरी ने नौकरों की कोठरी में बच्चा जना, और खुद विधवा होने के कारण, उसका क्या किया जाय, इसका निर्णय जीजी माँ पर डाल दिया।

मंगलोर की नौकरानियाँ पारसी और ईसाइयों के घर में काम करती हैं। उनकी रीति-भाँति जुदा ही होती है। मंगलोर से नौकरी के लिए छोटी-छोटी ग़रीब लड़कियों को ले आने का बम्बई में व्यापार चलता है। व्यापार करने वाले उन्हें अपने गाँव से ले आते हैं, बम्बई की भाषा सिखाते हैं, और किसी घर में नौकर करा देते हैं। हिन्दू माताओं की अपेक्षा पारसी माताएँ, अंग्रेजों की तरह, बच्चों पर कम ध्यान देती हैं, इसलिए यह आया, अपने को सौंपे हुए बच्चों पर, उनके माँ-बाप पर और नौकरों पर, एकछत्र राज करती है। इसका स्वभाव संस्कारहीन और अशिष्ट होता है। इसे सौंपे हुए बच्चों को किसी भी बग़ीचे या पार्क में भटकते हुए हम नित्य देख सकते हैं, या उसे नौकर के साथ घण्टों असभ्य और गन्दी बातें करते भी सुन सकते हैं।

मंगलोरी आया की अपेक्षा घाटिन स्नेहशीला, घर सँभालने वाली और परिश्रमी होती है। जो इसका दोष है, वह इसका नहीं है; जिस कृत्रिम वातावरण में इसे रखा जाता है, उसका है। इन्हें अपनी दुनिया से नौकरों की जमात के किराये वाले वातावरण में पुरुषों के बीच अकेली रखा जाता है, और शिक्षा तो होती ही नहीं। इनमें से बहुत सी विधवाएँ या त्यागी हुई स्त्रियाँ होती हैं। परन्तु क्या किया जाय? पारिवारिक बन्धन

तो हमने तोड़ डाले, इसलिए बच्चों की देखभाल के लिए विधवा भाभी या चाची कहाँ से आयें ? बनाव-सिंगार, सभा-सोसाइटी और पति के संसर्ग में रहने के कारण, बच्चों की देख-रेख हमारी माताओं से होती नहीं, अतएव घाटिनों के बिना काम कैसे चले ?

कुछ भी हो, परन्तु पंचगनी की हमारी घाटिनों के रसीले पराक्रम लक्ष्मीविला के शान्त जीवन में रंग ले आते थे। परन्तु जिस जाति में से ये घाटिनें आती हैं, उसके लिए मुझे बहुत मान है। अक्तूबर में जब हमने 'रूबी विला' खरीदा और उसका नाम 'गिरि विलास' रखा, तब उसका माली तथा मालिन हमारे कौटुम्बिक हो गए। माली लगभग सत्तर वर्ष का और भागी मालिन पैंतालीस वर्ष की होगी। दो लड़कों को इन्होंने पढ़ाया था और वे मोटर का काम करते थे। तीसरे को हमने काम के लिए रख लिया। जब से हम 'गिरि विलास' में रहने गये, तब से यह सरलहृदया ग्रामीणा हमारे घर की-सी हो गई। जीजी माँ और बच्चों की सेवा तथा घर की सफाई का काम उसने बिना कहे अपने हाथ में ले लिया। जीजी माँ भी नौकरों को कुटुम्बीजनों की तरह समझाती थीं, इसलिए भागी कभी-कभी पास बैठकर पान भी खाती थी। उसका मुख सदा हँसता रहता था। बच्चे कब आये, उन्होंने कुछ खाया या नहीं, इसका भी ध्यान रखती थी।

पुराणपूजिता सती नर्मदा की तरह भागी मालिन वृद्ध पति की सेवा करती थी, माली वृद्ध था, पर था बड़ा काम का आदमी; इसलिए बाग की बड़ी चौकसी रखता था। उसकी जीवन-कथा पर से मैंने "काकानी शशी" की कल्पना ली थी, वह भी एक किस्सा बन गया। भागी को उसकी बूढ़ी दादी ने महाबलेश्वर में पाला-पोसा था। उस समय बीस-बाईस वर्ष का माली पंचगनी में रहता था। बुढ़िया मरने को हुई, तब माली वहाँ गया और पाँच वर्ष की लड़की भागी को माँग लिया। उसे आवश्यकता थी पत्नी की; और दादी मर गई, इसलिए माली भागी को कन्धे पर बिठाकर पंचगनी ले आया था और उससे विवाह कर लिया। भागी बच्ची थी, इसलिए माली माता के स्नेह से उसे नहलाता, खिलाता, सुलाता, कंघी से

सिर भी सँवारता और उसे अपनी छाती से लगाकर रखता। भागी बड़ी हुई और उसने अपने पति का घर बसाया। उसके तीन बच्चे हुए। माली और भागी का अनुपम दाम्पत्य माली के गुजर जाने तक रहा।

माली ने उसे कैसे पाला-पोसा, यह बात भागी ने जीजी माँ से कही। उन्होंने मुझसे कही। उस पर से मैंने 'काकानी शशी' नाटक उत्पन्न कर दिया। दो-तीन वर्ष बाद जब चन्द्रशंकर पंचगनी में हमारे मेहमान होकर आये, तब उनको मैंने नाटक के रूप में भागी के विवाह की कहानी सुनाई।

उनका नाम है चन्द्रशंकर! कुछ दिनों बाद उन्होंने 'बे घड़ी मौज" में 'काकानी शशी' की समालोचना लिखी। पुस्तक की अपेक्षा, चन्द्र-शंकर को मनुष्यों में अधिक मज़ा मिलता था, इसलिए पहले उन्होंने रोज रात को जीजी माँ के सामने हम कैसे बैठते हैं, कैसे आनन्द-विनोद करते हैं, किस प्रकार 'फोक्सट्रॉटिंग'—शृगाल नृत्य—करते हैं, इसका सविस्तार इतिहास लिख लिया—इसलिए कि पढ़कर गुजरात के मुँह में पानी भर आये। फिर उन्होंने यह भी लिख डाला कि मैंने भागी की कहानी पर से 'काकानी शशी' कैसे लिखा! 'बे घड़ी मौज' पंचगनी आया और किसी लड़के ने जीजी माँ को पढ़ सुनाया। यह बात भागी के बड़े लड़के को मालूम हुई और वह अपनी माँ से लड़ने लगा—"तूने सेठ से यह बात कहीं क्यों?" किसी प्रकार जीजी माँ ने झगड़ा खत्म किया।

जब माली गुजर गया, तो उसके छोटे लड़के को हमने माली का काम सौंप दिया यद्यपि बाग का सारा काम भागी ही करती थी। १६३८ में जब मैंने 'गिरि विलास' छोड़ा, तब भागी को छोड़ जाते जी नहीं हुआ। ऐसा आघात हुआ, मानो हमने अपने किसी स्वजन को छोड़ दिया हो। अपढ़ भागी की सरलता और संस्कारिता की कल्पना अनेक गृहस्थिनें भी नहीं कर सकतीं।

लीला को और मुझे सारे दिन में निःसंकोच बातचीत करने का समय तभी मिलता, जब हम अकेले घूमने जाते। सवेरे जब सब नहाने-धोने में लगे रहते या शाम को सब घूमकर आते, और समय मिल जाता, तब साइप्रस

के वृक्षों की कतारों के बीच हम निकट के ईसाई कब्रस्तान में या उसके बगल के रास्ते पर घूमते रहते। उस समय हम एक-दूसरे से छोटी-से-छोटी बात भी कहते। दोनों एक-दूसरे की प्रशंसा के भूखे थे, इसलिए हम एक-दूसरे की प्रशंसा भी किया करते। घर की और गाँव की बातों में रस लेते, हमारे स्वभाव के कौनसे गुण-दोष एक-दूसरे के अनुकूल किये जा सकते, या बदले जा सकते हैं, इसका विश्लेषण किया करते और यह भी विचार करते कि हमारी महत्त्वाकांक्षाओं की सिद्धि कब होगी। पंचगनी में 'हर्डर कुल्म' बनाना पड़े, तो किस प्रकार बनाया जाय, ये योजनाएँ भी बनाते रहते।

इस समय हमें स्पष्ट दिखलाई पड़ा कि हमारी एकता उभर रही थी, फिर भी उसके नये दिखलाई पड़ रहे दुर्गम गिरि-शिखरों पर हम नहीं पहुँचे थे। हम उस पर पहुँचने के लिए तैयार हुए। जून १६२५ के पश्चात् पत्र-व्यवहार ने नया रूप धारण किया। हमने यह मुक्तकण्ठ से स्वीकृत कर लिया कि हम एक-दूसरे के हैं। सदा के लिए साथ रहने का हमारा संकल्प दृढ़ होता गया। हम अपनी समस्त प्रवृत्तियों की बारीकी से नित्य चर्चा किया करते। स्वभाव के आन्तरिक पुटों में छिपे अन्तराय दिखलाई पड़े, और हमने उन्हें जीतने के लिए दारुण युद्ध आरम्भ कर दिया।

इस समय, सारे दिन का थका-हारा मैं घर आया। दर्द से माथा फटा जा रहा था। नन्दू काकी का हाल-चाल ले आया। मालिश कराई और कुछ ठीक हुआ। दिन-भर व्यर्थ परिश्रम करना और शाम को दुखते-सिर निर्जन घर में आना और फिर काम में लग जाना—इस शुष्कता, इस पीड़ा, की कल्पना करना कठिन है। अनन्त कार्यों में फँसे रहने की बात करना तो सरल है, परन्तु जब करना पड़ता है, जब शारीरिक दुर्बलता और मानसिक बेचैनी एक साथ मिल जाती हैं, तब साहस और आदर्श बनाये रखने की बातें मूर्खतापूर्ण लगती हैं......

विधाता का लेख मिथ्या नहीं होगा; हमें जो कुछ मिला है, उसी के आधार पर जीना है। मैं प्रतिक्षण ग्लोरिया को देखता

रहता हूँ, उसकी आवाज सुना करता हूँ। अपने अस्वस्थ क्षणों में भी उसी का स्मरण चेतन लाता है। समुद्र के बीच घोर तूफान में ज्यों एक तख्ते के सहारे उससे चिपटा हुआ मनुष्य, दूर चमकते हुए तारे को देखकर उसकी ओर बहा जाता है, त्यों ही मैंने बीस वर्ष बिताए हैं। आज मेरा तारा साकार हो गया है, उसने मेरा स्वागत किया है, प्रेरणा दी है। वह तारा मेरे साथ सहजीवन साध रहा है; जब-तब हाथ मिलाकर नवचेतन दे रहा है। मैं चाहे थक जाऊँ, पर अब निराशा को विजय नहीं प्राप्त करने दूँगा। किनारे लगूँगा, तो वह तारा मेरे जीवन का आधार बनेगा········मैं डूबूँगा, तो मेरा तारा मेरे साथ अस्त होगा—ऐसा मैं मानता हूँ—चाहे कुछ भी हो।

जब फिर लौटकर आया, तब बम्बई में मेरी अस्वस्थता कभी-कभी बहुत बढ़ जाती।

एकाकी जीवन के प्रतिकूल वातावरण में पोषित होकर लीला ने एक प्रकार की स्वच्छता की आदत बना ली थी। हमारे परिवार का आचार भावनामय और अनुकूलतापूर्ण था। किसी को ज्वर हो आए और वह दूसरे को लग जाय, कोई थाली में से कुछ बिखेरे, कोई गन्दे कपड़े पहनकर बाहर जाय कि उसका जी अकुला उठे। दूसरे की मानसिक अवस्था को सहानुभूति से समझ लेने वाली जीजी माँ के उदार स्वभाव से हमारा आचार-विचार गढ़ा गया था। आचार की ऋजुता—Correctness—लीला की आदत थी, इसलिए हमारे आचार-विचारों से वह कभी-कभी अकुला जाती थी। मैं उसे अपना दृष्टिकोण समझाता, इससे उसे दुख होता और उसे अपनी अयोग्यता का भान हो आता। वह दुखी होती, इसलिए मैं अधिक दुखी हो जाता। मैं दुखी होता, इसलिए वह रो पड़ती। वह रो पड़ती, इसलिए मेरे प्राण निकल पड़ते और मैं उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न करने लगता। मुझे दुखी होता देख वह ज्यों-त्यों करके हँसती और सुखी करने का प्रयत्न करती। परिणाम यह होता कि हम जितने थे, उससे भी

अधिक एक-दूसरे के हो जाते। इस प्रकार उसासों और आँसुओं से हमारे बीच के अन्तराय अदृश्य होते गए।

जुलाई में मुझे ज्वर आने लगा। "यदि धीमा ज्वर इस प्रकार आता रहेगा, तो मेरी दुर्दशा हो जायगी। मेरी शक्ति क्षीण हो गई है। इंटरलाकन आ गया होता, तो कितना अच्छा था, तब मैं लम्बी बीमारी का आनन्द भी उठा सकता था। परन्तु लम्बी बीमारी सहने का साहस नहीं है। बीमार होने की भी शक्ति नहीं है। मरने में भी कायर हो गया हूँ। जब तुम निकट नहीं रहतीं, तब बीमारी भी नहीं सही जाती; फिर मरा कैसे जा सकता है? हे प्रभु! तुम्हारा क्या हाल होगा?"

लीला ने लिखा—

"जब से तुम्हारा पत्र आया, तब से मेरा जी तुममें लगा है। तुम्हारी तबियत ठीक नहीं है, 'मूड' ठीक नहीं है, इसका विचार मुझे सारा दिन आता रहा। विशेषकर मुझे ऐसा लगा कि इसका कारण मैं हूँ। भावना के आवेश में मुझसे कुछ-न-कुछ हो जाता है और उसका असर तुम पर बहुत होता है। मेरा बिना विचारा एक शब्द तुम्हें सारी रात जागरण करा देता है। तुम्हें क्या ऐसा लगा कि तुम्हारी अपेक्षा मैं किसी को अधिक समझूँगी? इस प्रकार की एक गलत धारणा पर तुमने जागरण कर डाले, माथा दुखा लिया, 'मूड' बिगाड़ लिया, दिन खराब कर दिया।

"मुझे तुमसे झगड़ने की इच्छा होती है..........तुम्हें पता है कि सारा दिन मुझे क्या होता रहता है? दो दिन से मुझे सारा दिन रोते रहने की इच्छा होती है। तुम्हें पत्र लिखने लगती हूँ तो आँसू आने लगते हैं। मानों मैं प्रत्येक वस्तु से थक गई हूँ। मुझे अपने से, दुनिया से, तुम्हारे 'मूड' से—इस प्रकार कुछ नहीं सूझता। मुझसे अपनी निजी अपूर्णताओं को, दुनिया की माँगों को, या तुम्हारे असन्तोष को समझ लेने का बल नहीं प्राप्त करना है। बड़े-बड़े स्वप्न देखकर उन्हें जीवन में अणुमात्र भी नहीं लाना है। मेरी निराशा से हार न जाना। अपने आगे भार खाली करने की आदत तुमने डाली है।" (२७-६-२५)

उसी समय मैं पत्र लिखता हूँ—

"मुझे क्षमा करना। मुझे सारा दिन खिन्नता रही। मैंने तुम्हें व्यर्थ दुखी किया। मैं यहाँ से कूदता-फाँदता आया, मैंने अनेक चित्र अंकित किये, अनेक बातें करने की सोची। इस एकाकी घर से निकलकर, तुम्हारे पास मैं शान्ति खोजता हुआ पहुँचा। परन्तु न जाने क्यों, शान्ति का अनुभव करने की मेरी शक्ति नष्ट हो गई है। मैं शान्ति प्राप्त करने का व्यर्थ प्रयत्न क्यों कर रहा हूँ? मेरे भाग्य में वह नहीं लिखी है। मैं असन्तोष का कीट पैदा हुआ हूँ। मुझे क्यों किसी अन्य की आशा रखनी चाहिए?

"तुम्हारा कोई दोष नहीं है। तुम्हें ज्वर हो आये, सरदी हो जाय, घर में अव्यवस्था हो, तो इसमें तुम्हारा दोष नहीं है। मैं तुम्हें उलहना नहीं देता। कारण, कि यह अशान्ति मेरे मस्तिष्क का रोग है। मेरे ललाट में अपूर्णता लिखी है। मैं अपने भाग्य पर ही अकुलाया था। तुमने समझा कि मैंने तुम्हारी ओर असन्तोष की भावना प्रकट की। तुम भूलती हो, यह कारण नहीं है। अकुलाहट मेरे लिए साधारण बात है, पर उससे मैं भागता हूँ। मेरा गाम्भीर्य और बुद्धिमत्ता चली जाती है। मुझे लगता है कि मैं व्यर्थ चीख-पुकार मचाने को ही पैदा हुआ हूँ।

"ऐसा क्यों होता है, ईश्वर जाने। जिस तितिक्षा को प्राप्त करने के लिए मैंने वर्षों परिश्रम किया, वह इस विषय में बिलकुल नष्ट हो गई है। ऐसा सोचा करता हूँ कि मैं 'कहाँ जाऊँ', 'क्या करूँ' कि मुझे चौबीसों घण्टे विश्राम और शान्ति मिले। यह अशान्ति बाहर की परिस्थिति के कारण नहीं है। तुम सब यथासम्भव प्रयत्न करते हो, प्राण बिछाते हो; परन्तु 'अशान्तस्य कुतः सुखम्'। ढाई वर्ष तक मैंने अशान्ति की पराकाष्ठा अनुभव की है। जब नष्ट हो रही सृष्टि कड़कड़ाती सुनाई पड़े, तब भी मैं हँसने की क्षमता रखता हूँ। परन्तु इस समय मैं हिम्मत हार गया मालूम होता हूँ। मुझसे इस प्रकार बिलकुल अशान्त नहीं रहा जाता। दोष मेरा है। मैं असाध्य आशाएँ कर लेता हूँ। उत्साह के कारण सपने देखने लगता हूँ। मैं क्या करूँ? किस जगह शान्त होकर बैठूँ? मेरी क्या दशा होगी? मैं स्वार्थी हूँ, मैंने तुम्हारे

स्वास्थ्य का भी विचार नहीं किया। स्पष्ट कह देने का मेरा ढंग जंगली है, अविचारपूर्ण है। इसीसे, प्रत्येक बार न जाने क्यों, क्या-से-क्या हो जाता है। हे ईश्वर, आगे क्या होगा? इसी प्रकार दुख और पीड़ा सहते, शान्ति के मृगजल के लिए भटककर मरने के सिवा और कुछ शेष नहीं रह गया है।"

उसी समय और उसी रात को लीला लिखती है—

"तुम गये और मेरा दिन यों ही बेकार बीता। मैं अब हार गई हूँ। मुझमें अब शक्ति नहीं रही। मैंने तुम्हारा जीवन बिगाड़ छोड़ा है। तुम आजीवन अपने निश्चल भाव से मुझे चाहते रहोगे; परन्तु तुम्हारा आदर्श सिद्ध होगा, तो तुम सुखी न हो सकोगे, और फिर भी तुम आमरण मेरे साथ बँध गए हो······मानो जीवन से मुक्त हो गई हूँ, ऐसा लगता है। मेरे हृदय में आशा नहीं है, उत्साह और बल नहीं है। तुम्हारी धारणाएँ सफल करने की सामर्थ्य नहीं है। मुझे केवल निराशा ही दिखाई पड़ती है। मैं केवल तुम्हारा स्नेह और संरक्षण पाने को ही निर्मित हुई हूँ।

"कृष्ण! तुमने मुझ पर जो-जो आशाएँ रचीं, उन्हें देखने और अपनी निर्बलताओं का भान होने पर मुझे अपार दुख होता है। मेरे शरीर और मन की खामियाँ तुम्हारा उत्साह भंग कर देंगी और जीवन का रस सुखा डालेंगी। मेरा हृदय फटा जा रहा है और इस समय मुझे मर जाने की इच्छा हो रही है। न जाने क्यों, मेरी आशा और उत्साह मुरझाते जा रहे हैं। सबमें से मेरा रस भंग होता जा रहा है। एक प्रकार की लापरवाही का परत बनता जा रहा है। मुझे प्रयत्न करने की इच्छा नहीं होती। मुझे कुछ भी करने का शौक नहीं होता। तुम्हारे सिवाय अन्य सभी विषयों में मन मर-सा गया है। तुममें अभी ऐसे उत्साह और उमंग हैं, जैसे पच्चीस वर्ष की वयस में थे। आनन्द और दुख का अनुभव करने की तुम्हारी शक्ति अभी ऐसी तीव्र है, जैसी आरम्भिक उदयोन्मुख अवस्था में होती है। एक ओर शक्ति और दूसरी ओर निर्बलता की संगति में पड़कर संघर्ष हुए

बिना कैसे रह सकता है ?"

मेरी खिन्नता एकदम दूर हो जाती है। मैं लिखता हूँ—

"जागरण करा-कराके तुम्हें नहीं पढ़ाना है। केम्ब्रिज की परीक्षा जहन्नुम में जाय। इस प्रकार असह्य भार उठाकर कुछ नहीं कराना है। प्राणों पर अत्याचार किसलिए? तुम्हें स्वस्थ, सुखी और प्रसन्न रहना है। इसी पर सब आधार है। इसीके लिए तो यह सब सह रहे हैं। फिर भी ऐसा किस लिए किया जाय? प्रसन्नता—प्रफुल्लता त्यागकर तुम्हें जीवन नहीं बिताना है। नहीं पढ़ा जा सकता, तो न सही।"

तुरन्त इसका प्रत्याघात होता है—

"ब्रेबी! आज तुम्हारा पत्र आया, तो 'मूड' कुछ सुधरा हुआ देखा। मेरे जी-में-जी आया। यह पाँच-छः दिन कुछ अद्भुत बिताये हैं। किसी के साथ बातचीत करना भी भला न लगता था। यदि मौन-मुख पड़े रहा जा सकता, तो किसी से एक अक्षर भी नहीं बोलती; परन्तु यह हो नहीं सकता। 'ऐसी गम्भीर क्यों दिखाई पड़ती हो?' ऐसा एक-दो बार पूछा गया था। एक-दूसरे का 'मूड' हम पर ऐसा असर करता है! कभी-कभी तो पत्र आने से पहले ही यह असर होने लगता है। आजकल मैं सवेरे उठती हूँ, तब अधिकतर जप किया करती हूँ। तुम भी किया करो, तो ठीक न हो?······

"कृष्ण! सारे दिन मैं केवल एक ही विचार किया करती हूँ। एक ही मुख उसमें दिखलाई पड़ता है। एक ही स्वर सुनाई पड़ता है। बतलाओगे, किसका?"

इस समय हमारी यह मानसिक अवस्था बाला की परिस्थिति से उत्पन्न हुई थी। वह अपने पिता के साथ निरंकुशतापूर्वक पालित-पोषित हो रही थी, और इससे उसे किस प्रकार बचाया जाय, यह कठिन समस्या हमारे सामने थी। लीला के हृदय में यह भय समा गया था कि उसे नहीं बचाया जा सकता। मैं देख रहा था कि प्रेम और वात्सल्य के बीच उसका हृदय अस्थिर रहता है। यदि वात्सल्य प्रबल हो जाय, तो हमारी आशाएँ नष्ट हो जायँ, यह भय मुझे हमेशा रहता और इसका निराकरण मैं सदा खोजा करता।

बाला जिस घर में रहती थी, वह समाप्त होने जा रहा था।

"......छिपते फिरते हैं। बहू-बेटी को पुराने कपड़े पहनने को दिये। बाला कहती है—'यह हम नहीं पहनेंगी; नये कपड़े न दोगे, तो क्या नंगी घूमेंगी? घी नहीं होता तो तेल खाती है।......कहते हैं कि घर तो एक प्रकार का भोजनालय है....शंकरलाल जल्दी ही नौकरी छोड़ना चाहते हैं। तुम यहाँ आओगी, जन्माष्टमी के समय, संसद् के वार्षिकोत्सव में, तब एक ही बाधा होगी। बाला को देखकर या याद करके तुम्हें दुख होगा।"

बाला की चिन्ता करने से लीला का चित्त अस्वस्थ हो जायगा, यह सोचकर मैं उसे चेतावनी दिया करता था। उसने लिखा—

"तुम्हारी बात ठीक है। हमने जो सृष्टि रची है, यथासम्भव उसमें विसंवाद प्रविष्ट नहीं कराना चाहिए। मुझे केवल एक ही स्थिति ऐसी मिलती है कि जब उसके प्रति कुछ करने को इच्छा हो। उसका विवाह न हुआ हो, और उसका कोई रखने वाला या पोषण करने वाला न हो, तब कदाचित् मेरा धैर्य जाता रहे। परन्तु मैं अपना हृदय कठोर बनाने का प्रयत्न करूँगी। इस रची हुई सृष्टि को मैं विच्छिन्न कर दूँगी, यह भय नहीं रखूँगी।" (२६-६-२५)

मैं लीला को चेतावनी देता; किन्तु साथ ही बाला को बचाने की पैरवी भी करता था। लीला को मैं अपने बच्चों की माँ बनाना चाहता था, तो मुझे बाला को लड़की बनाना ही चाहिए—यह मेरा कभी से निश्चय था। इसके बिना 'हर्डर कुलम' सर्वांगसुन्दर कैसे हो सकता है?

मैंने लिखा—

"....पालीताना गये हैं...बाला मीनी के साथ रहती है। मैं कल फिर खबर ले आऊँगा। तुम लिखती हो, परन्तु मैं निश्चिन्त या असावधान नहीं हूँ। मेरी नजर है। जो तुम कहती हो, वह वस्तु-स्थिति कभी नहीं आएगी। हमारे पास खाने को हो, और वह भूखों मरे! वह भूखों भी नहीं मरेगी और गलती के बिना दुखी भी न होगी। परन्तु घर में यदि न समा सके, तो सबके साथ रखकर विरोध बटोर लेने की मेरी वृत्ति नहीं है। यदि वह साथ

रहे, तो 'हर्डर कुल्म' को उसे पूर्ण रूप से स्वीकृत करना चाहिए। और यदि ऐसा न हो सके, तो दृष्टि के तले दूर भी रखा जा सकता है।"

तीसरा प्रश्न मेरे स्वभाव के दोष का था। मेरा स्वभाव गर्विष्ठ था। मेरे घर में मेरी बात कोई टाल नहीं सकता और न कोई मेरी टीका-टिप्पणी ही कर सकता था। जरा भी विरोध हो कि विरोधी को कुचल डालने या क्रोध में चिल्लाकर उसे दबा देने की मेरी वृत्ति तीव्र हो जाती। क्रोध मुझे तुरन्त आ जाता। लीला भी अभिमानिनी थी। उसके साथ कोई जोर से नहीं बोला था; और कोई बोलता तो नाराज हो जाती। स्त्री-स्वातन्त्र्य पर ध्यान दे-देकर उसने पुरुषों के प्रति तिरस्कार-दृष्टि बनाई थी। मैं चंचल वृत्तियों के अधीन था। आवेश में आ जाता, तो किसी का निरादर कर देता, न कहने योग्य कह डालता। किन्तु मेरा स्नेह जरा भी विचल न होता। मित्रों के प्रति सद्भाव और सरलता रखता और उदारता का भी पार नहीं था। लीला अधिक संस्कारशीला थी—सुघड़ता, स्वच्छता, मितव्यय और व्यवस्था की पुजारिन। अपने हाथों अकेले ही, निराधार अवस्था के पर्वत तोड़कर मार्ग बनाया था, अतएव मुझमें बहुत ही असंस्कारिता रह गई थी। स्वस्थता के लिए मैं पागल नहीं बन सकता था, नियमितता का पालन नहीं कर सकता था। रहन सहन, रीति-रिवाज में कभी-कभी ग्रामीणता आ जाती थी। बातचीत करते हुए मूर्खता और कटुता का व्यवहार भी अधिक हो जाता था। बच्चे ऊधम करें, या गन्दे रहें, तो मुझे बुरे नहीं लगते थे। मैं बम्बई से बहुत ही साफ-सुथरे सूट-बूट में आता और सरला मुझसे लिपटने को दौड़ती, तो लीला कहती—"सरला बेटी, पहले गन्दे हाथ धो आओ।" पर मेरी दृष्टि बाप से मिलने को पागल बनी हुई सरला के उत्साह से नाचते पैरों, उसके लिपटने को तरस रहे हाथों और पितृभक्ति के आवेश में विस्फारित नयनों पर होती थी। मैं उसे उठा लेता, छाती से लगा लेता, कोट खराब हो जाता तो हँसने लगता और लीला का जी दुख जाता। एक बार किसी को लक्ष्य करके लीला ने व्यवस्था और स्वच्छता पर कुछ लिखा। मैंने उत्तर दिया—

"तुमने पड़ोस वाली स्त्री पर मुझे एक छोटा-सा भाषण दे डाला मालूम होता है। तुम्हारी बात ठीक है। व्यवस्था और स्वच्छता को हम जन्म से ही नहीं सीखते; इसलिए कोई अधिक रूप में इसे रखे, तो सुख नहीं मिलता। परन्तु सुख गँवाकर व्यवस्था प्राप्त करने में कोई मजा नहीं है। इसी प्रकार कला की बात है। कला से सुख न प्राप्त हो, तो वह किस काम की? बात यह है कि जिस प्रकार के संस्कार होंगे, उतना ही, उसी प्रकार कला और व्यवस्था का पोषण होगा।" (११-७-२५)

रुपये-पैसे के विषय में भी मैं अव्यवस्थित था। खूब कमाता था। सप्ताह में २०० गिनी तक आमदनी का नोट एक पत्र में है। परन्तु मैं चारों ओर पैसा बिखेरता था, अनेक बार ठगा जाता था। यह सब मैं उदारता से नहीं करता था। अपने पैसे की ओर लापरवाही, अपने को खरचीला दिखलाने वाला स्वभाव और किसी से 'नहीं' न कहने की कायरता और कुलक्षण मुझमें थे और हैं। कोई कुछ माँगता, मैं इन्कार कर देता और उसका जी दुखता, तो मैं काँप उठता था और दूसरे की आशा से कम देते हुए प्राण निकल जाते थे।

लीला मुझे व्यवस्था और स्वच्छता सिखाने लगी। मैं सरलता से सीखने वाला नहीं था, परन्तु उसने धीरे-धीरे मेरे गृह-संसार का भार अपने ऊपर ले लिया। व्यवस्था और स्वच्छता चारों ओर दिखलाई पड़ने लगी। धन को सँभालने की व्यवस्था मैं न कर सका, इसलिए हारकर वह भी उसे सौंप दी। विवाह के बाद तो मेरी टाई और कॉलर भी वही लाती थी। झक-झक से मैं सदा घबराता था, इसलिए 'एस्क्विथ' और 'लॉर्ड' के यहाँ से मैं मँहगे कपड़े ले आता, परन्तु वैसे ही सुन्दर कपड़े लीला ने आधी कीमत में दूसरी जगह से बनवाने शुरू कर दिए। जहाँ मैं चार खर्च करता वहाँ वह एक खर्च करती और खरीदी हुई वस्तु में बड़ी खूबी ला सकती थी। इस समय मैं जो-कुछ भी बचा सका हूँ, उसका परिपूर्ण यश लीला को है। अब भी यदि कोई कुछ पैसा माँगने आता है, तो मैं, इस भय से कि कहीं कोई मूर्खतापूर्ण कार्य न हो जाय, लीला को आगे कर देता और

खुद दूर खिसक जाता हूँ ।

गीता में क्रोध को ''महाशनो महा पाप्मा'' कहा है । टेकरा के (टेकड़ी वाले) मुन्शी का क्रोध इससे भी बड़ा राक्षस था, और उसका उत्तराधिकार मिला था मुझको । जरा भी अपमान हो जाय, इच्छित कार्य न हो, कोई सामने बोलने लगे कि मन, वाणी और कर्म में ज्वाला प्रज्वलित हो उठे । आवाज गगनभेदी हो जाय और विषैले वाग्बाण छूटने लगें । शरीर थर-थर काँपने लगे, विरोधी को पीटने के लिए हाथ तड़पने लगें । भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों को भूल जाऊँ । किसे क्या कह रहा हूँ, यह भी याद न रहे । बहुत पुरानी बात है । एक बार मेरे हाथ में छुरी थी और मैं क्रोधित हो गया । छुरी मारने की इच्छा हो गई; किन्तु कुछ भान रह गया था, इसलिए उस आदमी को न मारकर जोर से दीवार पर फेंक मारी । उस समय दुर्वासा की तरह उस मनुष्य को जलाकर भस्म कर देने की प्रबल इच्छा मूर्तिमान हो जाती ।

परन्तु यह आवेश 'घास-फूस का तापना' या 'परदेसी की प्रीत' की तरह अस्थिर था । ज्यों सिर-चढ़ा भूत उतर जाता है, त्योंही यह राक्षस तुरन्त भाग जाता था । आध घण्टे में मुझे पश्चाताप होने लगता और यदि किसी स्वजन से मैंने रोष किया हो, तो मैं मुक्त कण्ठ से क्षमा माँग लेता था । निर्बल काया और स्वाभाविक दृढ़ता, इन दोनों ने सबसे पहला संयम सिखाया । फिर महत्त्वाकांक्षा ने भी संयम का सबक दिया । रोजगार-धन्धे में लगने पर भूलाभाई की बातें नम्रता से सुननी ही पड़ती थीं, परिणामतः संयम बढ़ा; पराये जगत् के प्रति होने वाले रोष के आविर्भाव को रोका । ज्यों जल के प्रपात को रोककर बिजली उत्पन्न की जाती है, त्यों अनेक बार यह रोष मेरा विरोध करने वाले पर प्रभुत्व प्राप्त करने की दृढ़ता में परिवर्तित हुआ है ।

अपने निज के जगत् में, घर में और निकट के मित्रों में, मैं ज्यों-का-त्यों बना रहा हूँ । मैं उनमें रोष का परिवर्तन करने जाता तो मेरी सरलता और सच्चापन नष्ट हो जाता, स्नेह की सरिता सूख जाती और जो भाव-प्रेरित

सम्बन्ध था, वह तटस्थ और बुद्धि-प्रधान हो जाता।

जब मनु काका के साथ सम्पर्क था, तब मैं बहुत क्रोध करता था। जब उनके दुःसह व्यवहार से मैं दूर हो गया, तब मेरा क्रोध पूर्ण तटस्थता में परिवर्तित हो गया। मनु काका अपने कार्य में लग गए, मैं अपने धन्धे में आगे बढ़ा। मेरे प्रति उन्हें जो असन्तोष हो जाता था, वह दूर हो गया। जब लीला ने मेरे जीवन में प्रवेश किया, तब जिस मित्र-भाव के आवेश उनकी ओर ढलते थे, वे दूसरी ओर ढलते उन्होंने देखे। इन सब कारणों से उनका स्नेह उमड़ आया। और, जिस प्रकार की सौम्य मैत्री मैं उनके प्रति रखता था, उसकी कमी उन्हें अखरने लगी। १६१२ से पहले का-सा सम्पर्क उन्होंने पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया। परन्तु मुर्दा भी कभी जिन्दा हुआ है?

उन्होंने स्नेह-भावपूर्ण पत्र लिखा। परन्तु मेरे उस जगत् में अब वे नहीं रह गए थे, जिसमें मैं रूठता, मनाया जाता, नाराज होता और पैरों पर गिर पड़ता था।

मैंने लिखा—

"पत्र मिला। सप्ताह-भर में ताव के साथ जितना और जैसा उत्तर लिख सकता हूँ, वैसा लिख रहा हूँ। कम मालूम हो, तो क्षमा कीजिएगा।

"आपके स्नेह-भाव के परिवर्तन को, आपके न कहने पर भी मैंने परख लिया था और धीरे-धीरे आपकी बढ़ रही आर्द्रता को भी मैं देख रहा था। इतना भावपूर्ण पत्र पढ़कर, हमारा सारा सम्बन्ध आँखों के आगे उपस्थित हो जाता और भावावेश से हृदय भर आता है। हमारा सम्बन्ध, हमारे जीवन में एक सीमा-चिह्न था। जब आप मुझे छोड़ गए, तब भी नया सीमा-चिह्न लगाया गया था। जहाँ मैं स्नेह स्थापित करता हूँ, वहाँ मैं सब-कुछ दे देता हूँ और सब-कुछ चाहता हूँ। कटु अनुभव ने मुझे सिखाया है कि लोग खुशी से लेते हैं अवश्य, परन्तु देना नहीं चाहते।

"हमारे सम्बन्ध में भी यही हुआ था। उस पर से मैंने एक नियम बना लिया है कि जहाँ दिया जाय, वहाँ से प्राप्त होने की अधिक आशा

नहीं रखनी चाहिए। १६१३ के बाद, हमारे सम्बन्ध में मैंने यह दृष्टिकोण बनाए रखने का बड़ा परिश्रम किया। कई बार इसे न सँभाल पाया, यह सही है, किन्तु फिर भी कुछ अंशों में इस दृष्टिकोण के कारण ही आप यह पत्र लिखने को प्रेरित हुए हैं, इसमें मुझे जरा भी सन्देह नहीं है।

"मैत्री के सम्बन्ध को मैंने सदा ही सर्वोपरि समझा है। मेरे अहोभाग्य से मुझे अच्छे और निःस्वार्थ मित्र प्राप्त हुए; और इस समय मेरे जीवन में यदि कोई सुनहला रंग है, तो वह मैत्री का ही है। आपके पत्र से सच्चा सन्तोष यह हुआ कि इतने वर्षों पश्चात्, इतने दुख सहने के बाद, मैत्री की परम श्रेष्ठता का सिद्धान्त सच्चा सिद्ध हुआ।

"मैं अब फिर से गढ़ा गया हूँ। पहले की भाँति कोमल, भावनामय नहीं रह गया हूँ। जो दुख सहने की शक्ति थी, वह अब नहीं रह गई है। अनुभव ने मुझे पक्का कर दिया है, दुख ने कठोर बना दिया है; परन्तु स्नेह की मेरी भूख मरी नहीं है। आपके और नन्दू काकी के, दोनों के जीवन में मेरे लिए स्थान है। मैं आपको बन्धुजन समझता हूँ, और मेरे जीवन में आपका बड़ा स्थान है, यह सदा मानता आया हूँ और मानूँगा। मेरे लिए कौटुम्बिक जीवन अब नाममात्र रह गया है। भविष्य में भी यह लाभ, जाने-अजाने प्राप्त होगा या नहीं, कभी-कभी यह खयाल हो आता है। किसी समय मेरा स्वास्थ्य या मनोबल कम हो जाय और आप कौटुम्बिक वातावरण से मेरी निर्बलता का संरक्षण करें, तो हमारी मैत्री, हमारे सम्बन्ध के कारण मेरा सहा हुआ दुख, और मेरा संरक्षित स्नेह सफल होगा, यह निश्चित है। अब समय अधिक हो गया है। सुनिशम्।"

पुराने 'कनुभाई' का छलछलाता स्नेह जिस जगत् में उन्हें मिलता था, वहाँ वह नहीं मिला। उनका हृदय भी दुखित हुआ, बहुत दुखित हुआ। परन्तु हमारी मैत्री जुदे रूप में अभिन्न रही।

अपने इस छोटे से जगत् की अधिष्ठात्री को मैं दूसरे दिन पत्र लिखता हूँ—

"सवेरे मनु काका का जो पत्र आया था, वह, और उसके उत्तर की

प्रतिलिपि इस पत्र के साथ भेज रहा हूँ। तुम्हें ईर्ष्या हो, तो क्षमा करना। बहुत दिनों से उनका हृदय उमड़ रहा था, वह उन्होंने खाली कर दिया···उनका पत्र पढ़ते हुए मेरी आँखें भी कुछ आर्द्र हो गईं। मुझे उन्होंने इतना दुख दिया है कि उसका इतिहास लिखूँ तो हाथ काँपने लगें। इस समय जब मैं तटस्थ हो गया हूँ, तब वह फिर से मुझे नदी में कूद पड़ने के लिए निमन्त्रित कर रहे हैं। अस्तु, हमारे साथ कोई भी होगा, तो बुरा नहीं है। तुम्हारे प्रति काकी को भी बड़ा स्नेह है।"

मेरा खानदानी क्रोध, हमारे अविभक्त आत्मा की सिद्धि के मार्ग को भी रोके खड़ा था। उसे जीतना सरल नहीं था, फिर भी हम दोनों ने भगीरथ प्रयत्न आरम्भ कर दिया। लीला, माता की उदारता से, उसे चंचल आवेश समझने की आदत डालने लगी, और साथ ही अपनी जीवनचर्या पर भी ऐसा संयम रखने लगी कि मेरे क्रोध को अवसर न मिले।

मुझे क्रोध आता कि मैं वहाँ से हटकर ध्यान करने बैठ जाता और क्रोध के उतरते ही तुरन्त लीला से क्षमा माँग लेता। परिणाम यह होता कि मेरे क्रोध करने पर लीला अपनी कमजोरी के खयाल से आँसू बहाने लगती, और क्रोध दूर होने पर, उसको दुखी किया यह सोचकर मैं रो पड़ता। ऐसी घटनाओं को हम अविभक्त आत्मा पर क्षणिक बादल छा जाना समझने लगे और उन बादलों को बिखेरने की कला हमारे हाथ आ गई।

हम झगड़ते और रोते ही रहते थे, यह बात गलत है। हम खूब हँसते, खूब बातें करते, और जीवन के अनेक अवसरों पर खूब ही विनोद-भाव प्रकट करते थे। वह खूब पढ़ती थी, मैं अच्छी वकालत करता था।

१६

बिखरते बादल

अक्तूबर महीना आ पहुँचा। मैंने लीला को लिखा—

"अभी रात को 'कौमुदी' आई। सब-कुछ छोड़कर उसे देखने बैठ गया। इन लोगों ने समालोचनात्मक साहित्य का अच्छा अध्ययन-विवेचन आरम्भ किया है, और हमारे यहाँ ('गुजरात' में) यह कुछ भी नहीं है। ऐसा लगता है, यह लोग समझते हैं कि हम अब पुराने हो गए हैं। और, यह बात भी ठीक है। इस समय हम कोई नई बात नहीं कर रहे हैं; पुरानी लीक पर चल रहे हैं। एक बात स्पष्ट होती जा रही है; तुम्हें क्या लगता है, यह लिखना। या तो व्यवस्थापक के रूप में आगे बढ़कर साहित्य को बढ़ाना चाहिए, या कलाकार बनकर नई सृष्टि का सर्जन करना चाहिए। हमें व्यवहार और आदर्शमयता दोनों प्रिय हैं, अतएव दोनों क्षेत्रों में श्रेष्ठ बनने का प्रयत्न करते हैं; परन्तु दोनों काम एक साथ करते हुए कठिनाई अवश्य उपस्थित होती है। या तो व्यावहारिकता को छोड़ा जाय, अन्यथा कलादृष्टि विकृत होगी। इस समय दोनों के बिना काम नहीं चलता। व्यवहार और व्यवस्था को छोड़ दें, तो सेवा नहीं होती। इस नये चालू प्रवाह को किसी प्रकार साथ रखना चाहिए। इस समय मन में ऐसा होता है कि ऐसा क्या लिख डालूँ, क्या कर डालूँ कि गुजरात का उद्धार हो···"

कुछ दिनों बाद पंचगनी से लीला ने लिखा—

"बच्चे आये और भोजन किया। इस समय घर में सा···रे···गा···मा···का राज चल रहा है। बच्चे बहुत ही अच्छी स्पिरिट में हैं और यह नहीं दिखाई पड़ता कि जीजी माँ की कमी किसी को मालूम होती है, जगदीश को भी नहीं। नौकरों में भी इस समय अच्छी व्यवस्था है, यदि कोई चोरी न करे। अभी भोजन करते-करते एक धमाका सुनाई पड़ा; इसलिए सोचती हूँ कि गिरिविलास का दूसरा पत्थर गिरा होगा। शाम को देखने जायँगे।

"इन दो दिनों में तुमने बहुत-कुछ आत्म-निरीक्षण किया होगा। जैसा तुम कहते हो, कोई परिवर्तन हुआ तुम्हें लगता है? मुझे तो कुछ नहीं मालूम होता। सच बात यह है कि हमारे तन्तु बहुत ही बिगड़ गए हैं और जो वस्तुएँ सरलता से पार हो जानी चाहिएँ, उन्हें हम बहुत गम्भीर रूप दे देते हैं।" (३१ १०-२५)

बाला की तबियत खराब ही चली जा रही थी। मैंने लिखा—

"बाला अच्छी तरह है। जड़ी बहन और लता उससे मिलने के लिए कल गई थीं। वह खाती है, पीती है और चलती-फिरती है। उसे जल-वायु बदलने को, पंचगनी भेज देने के लिए मैं कह रहा था। लालभाई ने उत्तर दिया—'गरम कपड़े बनाने के लायक मेरे पास रुपया नहीं है।' कहीं मैं उसे ले न जाऊँ, इस भय से वे बाला को अहमदाबाद ले जाने का विचार कर रहे थे···"

बाला अब अपने पिता के घर से ऊब गई थी और पंचगनी जाना चाहती थी। लीला का खयाल था कि वह अपने पिता के यहाँ रहे, इसी में उसका भला है। 'मुझे तो ठीक लगता है कि वह वहीं रहे यही अच्छा है। हमारे लिए तो ठीक है, परन्तु वह यहाँ आएगी, तो उसी के हक में नुकसान होगा। तुम्हें भी व्यर्थ उसके यहाँ जाने की आवश्यकता नहीं है। तुम्हारी उदारता बढ़ जाती है, तब तुम बहुत-कुछ कर डालते हो। परन्तु इससे, मुझे कैसा लगता है, इसकी कुछ खबर है?" (२-११-२५)

बम्बई में मेरी जीवनचर्या अनेकरंगी थी, इसका उदाहरण एक पत्र देता है—

"भूलाभाई के यहाँ भोजन कर आया। रोज़न्थल एक बहुत बड़ा व्यापारी है—दुनिया में वह बड़े-से-बड़ा मोतियों का व्यापारी कहा जा सकता है। भूलाभाई पेरिस में उसके यहाँ रह आये हैं। यह फ्रेंचमैन बड़ा मनोहर बूढ़ा है। आधी बम्बई को पहचानता है और हर समय सुन्दर wit (वाक्-चातुर्य) से बात करता है। उसने अनेक अच्छी बातें कहीं। उसका भाई राजनीतिक क्षेत्र में है, उसके लिए कहा—'No man becomes great, unless his wife makes him so.'[1] फिर मिसेज़ जिन्ना के विषय में कहा—'सारी दुनिया में सुन्दर-से-सुन्दर नृत्य करने वाली कोई हो सकती है, तो यह है। फ्रान्स में तो हर जगह नृत्य करके यह लोगों को चकित कर डालती थी। दिल्ली में दो बार मैंने इसके साथ नाचा है और इसने अद्भुत प्रकार से सभी लोगों को मोह लिया।'

"रोजन्थल स्वतः गोल्फ, टेनिस, पोलो, नृत्यकला, पटेबाजी, ब्रिज—यह सब अच्छी तरह जानता है। इन लोगों को यह सब कैसे सीखने को मिल जाता है?

"फिर भूलाभाई ने और मैंने बहुत सी निजी बातें कीं। वे बड़े प्रसन्न थे। उन्हें कुछ अकेलापन-सा लगता है। फिर···अपनी साली को उनके साथ क्यों ब्याह देना चाहते हैं, यह बताया। उनकी इच्छा उससे ब्याह करने की नहीं है। उन्होंने कहा—'हमारे समाज में मिलने का स्थान नहीं है; प्रतिष्ठा और प्रेम प्राप्त करने के अवसर नहीं हैं।'

"मैंने 'हाँ' कहा और मैं मन-ही-मन हँस पड़ा—'कौन कहता है कि शुद्ध और सर्वव्यापी प्रेम के लिए हमारे यहाँ स्थान नहीं है? तीन वर्ष पहले यह बात कही होती, तो मैं भी हाँ भर लेता।" (···११-२५)

लीला ने लिखा—

---

१. जब तक किसी की स्त्री महान् नहीं बनाती, तब तक कोई महान् नहीं बन सकता।

"कल मैंने 'टेस' [1] पढ़ी। बारह बजे तक पढ़ती रही और अन्तिम परिणाम जान लेने की अधीरता बढ़ गई, इसलिए पहले से उसे देख डाला। इसके पश्चात् दो घण्टों तक इसके कारण मुझे नींद नहीं आई और बड़ी देर तक रोती रही। उसके माँ-बाप ने अज्ञानता से उसका नाश कर दिया। और मेरी दादी ने मेरा किया। उसके जीवन में एक आकस्मिक घटना न होती, तो उसका सारा जीवन कुछ और ही बीतता। अपने जीवन में मैं ब्याह न करती, और तुम्हें पहले से मिल गई होती, तो कुछ और ही होता। ऐसी निर्दोष, सच्ची, कोमल बाला को—जिसके स्वभाव या भाव में पाप का एक भी छींटा नहीं था—बरजोरी कराये पाप के लिए जीवन-भर, मृत्युपर्यन्त, दुख—जिसके लिए दुख शब्द पर्याप्त नहीं है, ऐसा दुख—भोगना पड़ा। जगत् में कहीं न्याय है?"

बम्बई से मैंने लिखा—

"आज उस बिसनजी का केस चल रहा है। उसकी रखेल की बात तुम जानती हो? उसके लड़कों को विल—उत्तराधिकार—से वंचित कर दिया गया है, इसलिए उन्होंने यह वसीयत रद कराने के लिए मुकदमा चलाया है। सारे झगड़े का आधार 'स्वाधीन' शब्द पर है। मैंने दस कोश देखे। नरसिंहराव प्रतिवादी की ओर से शब्द का अर्थ करने को आने वाले थे, वे नहीं आये। कल मेरे बोलने की बारी है। हर वक्त जज, कांगा, मुल्ला, सेतलवाड़, 'मुंशी—स्कॉलर—विद्वान्' आदि कह-कहकर खिल्ली उड़ाते जा रहे हैं। कल मैं कैसा और क्या बोलता हूँ, यह लिखूँगा।"

बिसनजी के मुकदमों में मेरी बड़ी परीक्षा हुई।

बिसनजी एक धनाढ्य व्यापारी था। वह स्त्री-बच्चों से जुदा रहता और फ्रेंच ब्रिज पर रहने वाली एक गोआवासिनी—मोंघीबाई—के यहाँ अधिकांश समय बिताता। एक दिन उसी के यहाँ वह सख्त बीमार हुआ और मर गया।

मोंघीबाई के—जहाँ तक मुझे याद है—एक लड़की और लड़का थे।

---

१. Tess of D'berville—सुप्रसिद्ध अंग्रेज़ी उपन्यास

उसने बिसनजी के स्त्री-बच्चों पर, रखेल—permanent concubine—के हक से भरण-पोषण का दावा किया। हिन्दू-शास्त्र के अनुसार, मृतक की रखेल को भी उसकी मिल्कियत में से भरण-पोषण का व्यय मिलना चाहिए, यह मोंघीबाई की दलील थी। जब कांगा जज थे, तब उनके सामने दावा उपस्थित हुआ। मैं बिसनजी के स्त्री-पुत्र की ओर से पहुँचा। मोंघीबाई का केस सरल था—'मैं मौजूदा रखेल हूँ। बिसनजी मेरे घर बीमार पड़े, फिर मर गए। मैं एकव्रतिनी हूँ। मुझे शास्त्र के आधार से भरण-पोषण मिलना ही चाहिए।' बस ठीक हो गया। घर की सीमा में रहने वाली बेचारी विवाहिता स्त्री कैसे प्रमाणित करे कि पतिदेव कहाँ-कहाँ भटकते रहते थे? रखेल के रूप में जो बाहर निकल खड़ी हुई, वह स्त्री मौजूदा रखेल है, या कामचलाऊ, एकव्रता है या सामान्या, वह विवाहिता स्त्री कैसे जाने या प्रमाणित करे? यह असम्भव काम हमारे सिर आ पड़ा।

बिसनजी रसिक जीव था। एक नहीं, अनेक स्त्रियों से उसका व्यवहार था, और वह सबके विषय में तफसीलवार लिख रखता था कि भूल न हो जाय। तफसील में स्त्री का सही नाम, पता, उसे पत्र में किस नाम से सम्बोधित किया जाय और किस नाम से पत्र लिखा जाय, यह लिखा होता। पत्र-व्यवहार में गड़बड़ी न हो, इसके लिए अन्तिम पत्र किस तारीख को लिखा और अन्तिम भेंट किस तारीख को भेजी, यह होता। इसलिए, मोंघी-बाई के आगे हमने यह सब नोट्स रख दिये।

हमने माननीय जज से प्रार्थना की—'बिसनजी एक भौंरे-जैसा आदमी था, फूल-फूल पर बैठता था। इनमें कौनसा फूल 'मौजूदा रखेल' हो सकता है, इसका निर्णय कैसे हो?'

जमशेदजी कांगा ने जीवन-भर अपरिणीत रहने की शपथ ली थी, इसलिए वे स्त्री-बच्चों की पीड़ा को कैसे समझ सकते थे? वे हठ ले बैठे कि बिसनजी चाहे जहाँ घूमता रहा हो, इससे मोंघीबाई की बात झूठी कैसे साबित होगी? मोंघीबाई के साथ सुख भोगा, तो उसे मिल्कियत में

से क्यों न कुछ मिलना चाहिए ? हमारी दलील को उन्होंने हँसकर खत्म कर दिया और मोंघीबाई को तीन सौ रुपया मासिक भरण-पोषण का बँधवा दिया।

अपील हुई। अपील में न्या० लल्लूभाई शाह और कम्प बैठे। मैंने नोट्स जाँचे और नया मुद्दा कायम किया। रखेल के लिए संस्कृत शब्द है 'अवरुद्ध स्त्री।' इसका अर्थ है संसार से रक्षिता स्त्री। इसे पतिव्रत पालना पड़ता और पति के मरने पर सूतक निभाना होता है। मेरी दलील से शास्त्रों की योजना यह थी कि परिणीता न हो, तो भी पत्नी की भाँति पति से रक्षिता हो और उसके परिवार ने जिसे स्वीकृत कर लिया हो, तभी उस रखेल को, पति के मरने पर, भरण-पोषण का अधिकार हो सकता है।

मेरे शास्त्राधार को न्या० शाह ने स्वीकृत कर लिया और मोंघीबाई का दावा खारिज कर दिया। यह बात उनके गले भी उतर गई कि कोई भी स्त्री ऐसा दावा करे तो उसका उत्तर स्त्री-बच्चे दे ही नहीं सकते और सामाजिक झगड़े बढ़ जायँ, शास्त्रों की यह भावना नहीं हो सकती।

'अवरुद्ध स्त्री' के कानून में मैं बड़ा निष्णात हो पड़ा। और बड़े-बड़े धनी लोग मेरे पास इसके लिए सलाह लेने को आने लगे कि उनकी रखेल 'अवरुद्ध' न साबित हो, इसके लिए किस प्रकार और क्या उन स्त्रियों से लिखवाया जाय। मैंने सबसे फीस ली और सलाह भी दी।

परन्तु मोंघाबाई गई प्रिवी कौंसिल में। वहाँ जस्टिस डार्लिंग का सिर घूम गया—'How can a mistress be recognized or accepted by the family ?' रखेल को परिवार कैसे स्वीकृत कर सकता है ? पुराने ज़माने में चाहे जो होता हो, परन्तु इस जमाने में यह नहीं हो सकता। परिणामस्वरूप मोंघीबाई जीत गई।

इस फैसले ने बम्बई के बहुत सी रखेलों के रखवालों के हृदय में धड़कन पैदा कर दी और उन्हें सलाह देने का मुझे फिर अवसर मिला। तब मुझे यह पता लगा कि कैसे-कैसे भले और प्रतिष्ठित दिखलाई पड़ने वाले सज्जन—तिलकधारी और बिना तिलक वाले—रखेलों के पान चबाया

करते हैं।

आखिर बिसनजी के लड़कों ने वसीयत रद करने का दावा दायर किया और जहाँ तक मुझे याद है वे जीत भी गए।

पंचगनी में मकान की मरम्मत कराने का काम लीला करती थी। यहाँ मैं कोर्ट के काम में, साहित्य-परिषद् की व्यवस्था और पत्र लिखने में व्यस्त रहता था।

"आज एक कॉपीराइट का केस था। देलवाड़ाकर की 'चन्द्रकला' की कथावस्तु चुराकर एक व्यक्ति ने फिल्म बनाई थी। उस केस के सिलसिले में हम फिल्म देखने गये थे—तारापोर जज, मोतीलाल सॉलिसिटर और चोपदार—और खाली थियेटर! मज़ा तो नहीं आया; कारण कि फिल्म बिलकुल रद्दी थी। परसों मैं केस के मुद्दे कोर्ट को सुना रहा था, तब फिल्म का एक वाक्य पढ़ा—'अधर का पान किया।'

"जज तारापोर चक्कर में पड़ गए या चक्कर में पड़ने का ढोंग किया—'अधर के अर्थ?'

"मैंने कहा—'नीचे वाला होंठ।'

" 'ऊपर वाला होंठ क्यों नहीं?'—जज ने पूछा।

"मैंने कहा—'माननीय जज साहब, संस्कृत कवि निचले होंठ के पीछे ही पागल थे।' "

बाला के लिए उसके पिता से ट्रस्ट बनवाने का मेरा प्रयत्न सफल हुआ। फिर ला०, बाला और शंकरलाल आये। बाला अब बिलकुल अच्छी हो गई है। ला० बिलकुल निर्बल हो गए हैं। सीढ़ियां चढ़ते हुए भी उनके प्राण निकल गए। उन्होंने ट्रस्ट की बात की······या दूसरे यह निश्चय किया कि बाला को ४० वर्ष के बदले ३५ वर्ष में मिल्कियत प्राप्त हो जाय। तुम्हें मिलने वाले ७००० की शर्त यह थी कि 'मृत्यु या पुनर्विवाह' पर यह रकम बाला को मिले। मैंने तीसरी शर्त जुड़वाई—'यदि ट्रस्ट से तुम लाभ प्राप्त करना अस्वीकृत कर दो।' ला० को ऐसा लगता है कि कुछ दिनों में वह चल बसेंगे।

"बाला अब चेत गई है। उसे ऐसा लगता है कि ला० अब चल बसेंगे और मुन्शी मामा के बिना छुटकारा नहीं है। उसे देखकर मेरी ऊर्मियां उमड़ आईं। उसे अच्छा नहीं लगा, पर मैंने उसे हृदय से लगा लिया। उसे पंचगनी आने की इच्छा हो गई है।"

लीला को ट्रस्ट बनाने की खबर लगी, इसलिए उसने उससे लाभ न प्राप्त करने का पत्र तुरन्त लिख भेजा। मेरे प्रेम के सिवा समस्त पूँजी और धन की आशा उसने विसर्जित कर दी।

हमें ऐसा आभास होने लगा, मानो बादल बिखर रहे हैं।

लीला ने लिखा—

"मेरे समान भाग्यवान स्त्री गुजरात में और कोई नहीं पैदा हुई; और सारे जगत् में भी बहुत कम होंगी। मुझे ऐसा एक नर मिला है, जो रात और दिन केवल मेरा ही विचार करता है। मेरे लिए उसने जीवन सुखा डाला है। उसने एक क्षण भी और किसी बात का विचार नहीं किया। किसी जन्म में भी उसके योग्य बन सकूँगी?" (१४-११-२५)

इस समय जीजी माँ बम्बई में थीं और लीला पंचगनी में परिवार को सँभालती थी। मेरी बहन की छोटी लड़की रसिकमणि सख्त बीमार थी, और वह भी वहीं थी। जीजी माँ लीला को लड़की मानकर सूचनाएँ दिया करतीं—

"रसिकमणि बीमारी और पथ्य से अकुला गई है। वैसे उसका स्वभाव चिड़चिड़ा है। इसलिए उसकी किसी बात से बुरा न मानना, पटाकर काम लेना। वह नहीं समझती, परन्तु हम जो समझते हैं, या करते हैं, वह उसके सुख के लिए करते हैं। मुझे भी वह ऐसा ही कहा करती थी...चि० लता तुम्हें बहुत याद करती है......मैं पत्र लिख रही थी, तब चि० लता ने मेरा कन्धा थामकर कहा कि मेरा प्रणाम लिखिएगा, इसलिए उसके मुख के शब्द लिखती हूँ—'लीला काकी, चीचा (चन्दन), बा (सरला), भाई, उषा और रसिक बहन, सबको।'" (२६-११-२५)

मैंने उसी समय पत्र में लिखा—

"प्रेस का काम देखा। अधिक काम नहीं है। 'गुजरात' के ग्राहक अच्छे हो गए हैं। नरसिंहराव ईस्टर की बात कहते हैं (लेख देने के लिए...)। शंकरलाल मिले। आनन्दशंकर ने आज 'बसन्त' में मुझ पर टिप्पणी लिखी है, वह कल भेज पाऊँगा। मास्टर प्राणलाल तुम्हारी पुस्तक की समालोचना लिख रहे हैं। भूलाभाई से मिला। लानोली गये होंगे, वहाँ धरमी के यहाँ 'गुजरात' पढ़ा। साहित्य-संसद बनाई, मिसेज़ धरमसी को प्रमुख बनाकर स्वतः मन्त्री बनने वाले हैं। हम पर यह चोट है!

"फिर मंगल और मैं जुट गये। और आजकल तुम्हारी पुस्तकें पढ़ रहा है, इसलिए उसने तुम्हारी ही चर्चा की। तुम्हारी और मेरी कृतियों में यह एक प्रकार का आत्म-कथन देख रहा है। मुझसे पूछता है—'अवसान दिल का या देह का?[1] बाला बीमार थी, तब लिखी गई है? 'मालती' में किसको उद्देश्य करके लिखा है?' फिर हमारी मैत्री, घर-संसार आदि की बहुत सी बातें कीं। इनसे यह उभड़ रहा था। मैंने बहुत सी बातें कीं।

" 'सामाजिक नियमों को ललकारने के परिणाम पर विचार किया है?' उसने पूछा।

" 'विचारा ही नहीं है, परन्तु उसका परिणाम भी प्राप्त होने वाला है,' मैंने कहा।

"नरूभाई इससे कहते होंगे कि मुन्शी इस प्रकार सबकी अवगणना करते हैं, इससे क्या लाभ? मैंने भी बहुत से परदे उठाए। उसने कहा कि महादेव भाई ने[2] जो बात कही थी, वह 'वैर का बदला' वाली बात सच है? मैंने भी उसे यह मान लेने दिया। उसने कहा कि हमारा साहित्य और 'गुजरात' ऐसे हैं, मानो दो जने एक साथ यज्ञ करने बैठे हों। हमें शुद्ध रहने का इसने यश दिया। इतना ही उसने कहा कि साहित्य-वृत्तियों में

---

१. 'जीवन के अंचल से' (कहानी-संग्रह) में छपी लीला की एक कहानी।

२. महादेव भाई—जो लीला के और मेरे, दोनों के मित्र थे—यह मानते थे कि 'वैर का बदला' की तनमन का जीवित पात्र लीला थी।

हम अपने सम्बन्ध को सच्चा व्यक्त करते हैं, यह नहीं होना चाहिए। स्त्री को दुनिया हमेशा खराब समझती है और दग्ध करती है।'

"मैंने कहा—'दुनिया क्या समझती है, इसकी हमें परवाह नहीं है। और उसे दग्ध करने से पहले तो दुनिया को मेरी लाश पर होकर जाना पड़ेगा।' "

फिर लता का वर्णन है।

"यह हमेशा से समझदार है। इसकी बात न्यायपूर्ण होती है। यह कहा करती—मैं 'बम्बई आई। लीला काकी और उखा (उषा) हार गई।' रात को उसे मेरे साथ सोना था। कुछ देर सुलाकर किसी प्रकार जीजी माँ के पास ले गया और उसकी गरम गंजी-फ्राक उतार दी। उसने पूछा—'मैं बिना कपड़ों के कैसे सोऊँ?' आखिर झबला पहनाकर मनाया। कल से इसने सब कुछ 'fine-fine' कहना आरम्भ किया है। आज कहने लगी—'इस घर में दरवाजे नहीं हैं—बाहर कैसे निकला जायगा?' इसलिए मैंने (चौथी मंजिल के प्लाट का) आगे का दरवाजा खोल दिखाया। वहाँ पहुँचकर वह घूमने चल पड़ी। उसके मन में ऐसा हुआ कि जैसे पंचगनी की तरह द्वार लाँघा और बाहर बाग में पहुँचे।"

लीला पंचगनी में गिरिविलास बनवा रही थी। उसने लिखा—

"आज गिरविलास गई थी। दो दरवाजों में फ्रेम लग गए हैं। रँगाई शुरू हो गई है। कुछ टाट जड़ गया है और पिछली खिड़की बन्द कर दी है। उस्मान आज म्युनिसिपैलिटी से अनुमति लेने वाला कागज हस्ताक्षर कराने के लिए लाया था। तुम्हारी ओर से मैंने हस्ताक्षर कर दिए हैं। अनुमति प्राप्त होने पर काम शुरू हो जायगा।" (२३-११-२५)

उसी समय परिषद् के साथ गुजरात-संघ की योजना मेरे दिमाग में पैदा हुई। किसी प्रकार गुजरात 'एक' और 'अतुल' बने, यह धुन मुझे लगी थी।

"आज कोर्ट में छुट्टी थी। इसलिए सारा दिन इस परिषद् का संघटन करके समय बिताया। आज की नई बातों में गुजरात संघ का विचार करना ही है। मणिलाल कहते हैं कि जो पैसा मिलने वाला है, वह

परिषद् को दे दिया जाय। मंगल देसाई, मंगलदास (मेहता) और शाह (खुशाल) कहते हैं कि हमें ऐसे नहीं देना चाहिए। शाह से मिला और भोजन के लिए साथ ले आया। चार घण्टों में गुजरात संघ का खयाल बहुत बड़ा हो गया। परिणामस्वरूप कल जो कुछ लिखा है वह छपवाकर भेज दूँगा। इस समय मेरा मस्तिष्क उड़ाने भर-भरकर काम करता है। मुझे ऐसा लगता है कि समय का सदुपयोग करना हो तो इस प्रकार की कोई प्रवृत्ति शुरू करनी चाहिए। इसके बिना संसद की गाड़ी आगे नहीं बढ़ेगी।

"और जनवरी में युनिवर्सिटी का चुनाव है। अतिसुखशंकर उम्मीदवार हैं। तुम्हारी अनुमति हो, तो उसमें मैं भी भाग लूँ। मुझे लगता है कि मैं सरलता से आ सकूँगा। इस समय आशाएँ बहुत बढ़ गई हैं। मालूम होता है कि जून से पहले 'हर्डर कुल्म' आ सकता है।

"बाला बिलकुल अच्छी हो गई है। मुझे देखकर आजकल बहुत खुश होती है।"

ला० के पुत्र और अनेक मित्रों की बातें मेरे कानों पड़ा करतीं। मुझे ऐसा खयाल हुआ कि कुछ ऐसा हो सकता है, जिससे मेरी जान जोखिम में पड़ जाय, इसलिए मैंने पिस्तौल चलाने के अभ्यास का निश्चय किया।

मैंने पिस्तोल के लिए अरज़ी दी और एक सॉलिसिटर से बात की। वह गया पुलिस-कमिश्नर के पास। वह कहता है कि मुंशी के राजनीतिक विचार बहुत उग्र हैं। परन्तु मेरा इनकमटैक्स देखकर विचार में पड़ गया। इतना टैक्स देने वाले से इन्कार कैसे किया जा सकता है? सॉलिसिटर ने कहा कि इन्कार करोगे तो मुन्शी झगड़ेंगे। इसलिए आज अनुमति-पत्र—परवाना—आ गया। एक बन्दूक ८००) की और पिस्तौल ८०) की मिली है। लग-भग १०००) का खून हो गया है। मेरा विचार बन्दूक लेने का नहीं था; परन्तु सॉलिसिटर कह आया था कि मुन्शी को 'big game' के—बड़े प्राणी के—शिकार के लिए चाहिए। यदि मैं बन्दूक न लूँ तो वह सोचेगा कि उसे बहकाकर परवाना लिया है।

मैं शिकार के लिए कब जाऊँगा, यह ईश्वर जाने; परन्तु संयोगों को देखते हुए पिस्तौल रखना उपयोगी है।

लीला ने लिखा—

"तुमने आजकल साहित्य की प्रवृत्तियाँ खूब बढ़ा ली हैं और, मैं कहूँ, मुझे इससे बहुत अच्छा लगता है। जल-भुनकर अपनी शक्तियों को नष्ट कर डालने से न हमें, न और किसी को कोई लाभ है। यह शक्ति इस मार्ग पर लग जायगी, तो इससे गुजरात में बहुत बड़ी शक्ति उत्पन्न होगी।"

(२५-११-२५)

नवम्बर में मैं युनिवर्सिटी की सिनेट के चुनाव में उम्मीदवार के रूप में खड़ा हुआ। चुनाव का मुझे पहला ही अनुभव था। अतिसुखशंकर सामने थे, इसलिए कई नागर मित्र हट गए। कुछ ने धोखा भी दिया—'मुन्शी का आना निश्चित है, गमनभाई को बचाया जाय।' दक्षिणी गुजरातियों के बीच चल रही स्पर्धा का भान भी मुझे पहली बार हुआ और अनुभव भी हुआ। ठाकुर ने पूरी-पूरी सहायता की।

मैं आँधी—तूफान—की तरह गुजरात में घूम गया।

पहले मैं बड़ोदा गया।

"मैं सोचता हूँ, बहुत से मत बड़ोदा से मिलेंगे। मनुभाई[1] से मिला। धारणा से अधिक उत्साह से उन्होंने स्वागत किया और एक वोट दिया। मैंने गुजरात युनिवर्सिटी की बात चलाई। उन्होंने महाराजा को टेलिफोन करके तुरन्त मिलने की व्यवस्था की। हम जाकर महाराजा साहब से मिले और, गुजरात युनिवर्सिटी की बात कही। परन्तु कोई सार नहीं। शाम को गुजरात युनिवर्सिटी पर अँग्रेजी में भाषण दिया। मनुभाई आये थे। जितना चाहिए उतना उत्साह नहीं था। बड़ोदा के लिए भाषण अच्छा कहा जा सकता है।

---

१. स्व० सर मनुभाई नन्दशंकर मेहता। उस समय के बड़ोदा के दीवान।

"मट्टुभाई[1] से साहित्य-परिषद् के संगठन की बातें कीं। कुछ परिवर्तन के साथ उन्होंने वे स्वीकृत कर लीं।

"रात को, बीस वर्ष पहले जहाँ मनु काका के साथ गप्पें लड़ाया करता था, वहाँ सोया। सवेरे नायक[2] को लेकर वोट लेने गये। जो प्रोफेसर पहले एक भी वोट नहीं देने वाले थे, वे भी पसीज गए। त्रिवेदी के एक शिष्य को भुकाने में समय बीत गया······फिर परिषद् पर भाषण दिया। गुजराती में था, इसलिए लोगों को मजा आया।"

गुजरात में युनिवर्सिटी बनाने के मेरे विचार का, मेरे बाल-मित्र कुँवरजी गोसाईं नायक ने बड़ा स्वागत किया। इसमें मनुभाई की पूरी-पूरी सम्मति थी, यह हमें विश्वास हो गया। अपने बड़ोदा के भाषण में मैंने गुजरात युनिवर्सिटी की रूप-रेखा दे दी।

" ३० को मैं पूना हो आया। वहाँ अच्छा स्वागत हुआ। अतिसुख-शंकर ने दो पत्र लिखे हैं—एक धमकी से भरा और दूसरा विनय से पूर्ण। दोनों में मुझसे बैठ जाने को कहते हैं।" (३०—११—२५)

ज्यों-ज्यों मैं उस ओर प्रवृत्ति बढ़ाता गया, त्यों-त्यों मेरे प्रति द्वेष भी बढ़ा। पुराने घरों में घबराहट-सी हो गई। कई अखबारों में कड़ी टिप्पणियाँ भी आने लगीं। मैंने लिखा—

"इस समय साहित्य में इतना प्रबल आन्दोलन किया है कि लोगों को ईर्ष्या होती है। यदि प्रभाव अधिक समय तक रहा, तो ये मर जायँगे। अपनी रीति और वाणी को मैंने जरा भी नहीं बिगाड़ा है और इस समय तो मैं मुलायम मक्खन-सा बन गया हूँ······। सीओन गेम्बोटा के लिए एक इतिहासकार लिखते हैं—'उसने जो किया, उसके लिए वह महान् था, परन्तु वह और क्या-क्या कर सकता था—यह देखते हुए, इससे भी महान् था।[3] ऐसा यदि

---

१. स्व० मट्टुभाई कांटावाला।

२. डॉ० कुँवरजी गोसांईं नायक

३. "He was great for what he did, but greater for what he might have done."

मेरे लिए कहा जाय, तो कोई बाधा नहीं।

"मैंने आज कोर्ट में बहुत अच्छा भाषण किया। फिर समाधान हुआ। हिन्दू कानून और शास्त्रों के विवरण में मेरी जो ख्याति थी, वह बढ़ गई मालूम होती है।'

"बलवन्तराय ठाकुर चुनाव में मेरी मदद कर रहे हैं और मित्रों को लिखा है कि 'मुन्शी से अधिक प्रभावशाली मनुष्य गुजरात अभी आगे नहीं ला सकता।'[१]

"कल जिन्ना के यहाँ पार्टी के लिए हम लोग मिले थे। मैं बे-मन से गया था। मुझे यह बात नहीं रुचती, और यह भी नहीं सूझता कि सक्रिय भाग लिया जाय या नहीं। और बिलकुल अटल खड़े रहना भी अच्छा नहीं लगता। इस समय मैं रजोगुण-प्रधान भयानक दशा में हूँ......। अभी खरे मिलकर गये हैं और ग्यारह बजे केलकर से मिलने जा रहा हूँ।"

केलकर व्यक्तिगत द्वेष से परे न हो सके। मैंने लिखा—

"आज केलकर का भाषण सुनकर मेरे मन में बड़ी घृणा उत्पन्न हुई। बस गाली, गाली और गाली। बेचारे नेहरू भारत की एकता के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। वहाँ ये केवल अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं। मुझे इन सब राजनीतिज्ञों के साथ फिर से समागम में आते हुए बड़ी घृणा होती है। इसकी अपेक्षा साहित्य-द्वारा प्रेरणा देकर नया राष्ट्र खड़ा करने में क्या महत्ता नहीं मालूम होती?"

लीला ने उत्तर दिया—

"केलकर का भाषण मैंने बहुत सा 'टाइम्स' में पढ़ा तुमने जैसा लिखा, उन्होंने नेहरू को गालियाँ ही दी हैं। भारत का उद्धार ऐसे लोगों से कैसे हो सकता है?"

परिषद् के विषय में विरोध बढ़ता गया, इसलिए लीला ने सलाह दी—

"व्यर्थ ही सारा भार सिर पर लेकर अपयश लेने के बजाय, यह तटस्थता

१. "Gujrat cannot put forward a stronger man than Munshi."

ठीक नहीं है ? संसद सब-कुछ अच्छी तरह पार लगाएगी, तब भी कुछ लोग इसे अपयश देने का संकल्प किये ही बैठे हैं। इस समय हम अधिक मोह न करें, यही बुद्धिमत्ता है।" (७–१२–२५)

परन्तु ममत्व छोड़ दूँ, तो फिर मैं कैसा ?

छठी तारीख को मैं सूरत हो आया।

"सूरत में ३५ से ४० मतदाताओं से मिला। उन्होंने हामी भर ली है। ५० की आशा है। बड़े-बड़े लोग मदद कर रहे हैं। व्योमेश पाठक अतिसुखशंकर का जमाई है, परन्तु उसकी स्त्री की बहन कहती है कि मुन्शी को एक वोट देना ही होगा। बल्कि व्योमेशजी ने कहा, 'जब मैं उनके यहाँ गया, तब भड़ोंची पगड़ी बाँधे वयोवृद्ध मुन्शी को देखने में निराश हुई उसकी बहनें अंग्रेज़ी पहनावे में छोटे लड़के को देखकर खुश हो गईं।'

"फिर मीटिंग में गया। व्योमेश की पत्नी मिलीं। इन्हें मैके की परवाह अधिक है। मुझसे कहा कि "हमारे यहाँ क्यों नहीं ठहरे ?" मैंने कहा—"मैं ठहरता, तो तुम्हारे और व्योमेशजी के बीच झगड़ा होता।" फिर ज्योत्स्ना शुक्ल मिलीं। दुबली-पतली और बीमार-जैसी हैं। लम्बे बाल बिखरे हुए रखने की आदत, काली, छोटी परन्तु चमकदार स्वच्छ आँखें—यह ज्योत्स्ना शुक्ल हैं। निमन्त्रण पर उनके घर गया। उनका भाई जुआर के भुट्टे खाने गया था। इन्हें संसद् की सदस्या बनने को आमन्त्रित कर आया। रात को लौटा।

"मैंने भाषण अच्छा किया—लोगों को हँसाया। मैंने विश्वामित्री से लाइन शुरू की। उत्तर में गाम्भीर्य और उत्तरदायित्व, दक्षिण में मौजीपन और रसिकता, इन दोनों का मिश्रण परिषद् को करना चाहिए।"

मेरे बाद चन्द्रशंकर बोले—"इस सम्मिश्रण के लिए तो मैंने सूरत में विवाह किया है। भाई मुन्शी को विश्वामित्री के उत्तर में विवाह करना चाहिए। और, ऐसा नियम बनवा देना चाहिए कि उत्तर वाले दक्षिण में और दक्षिण वाले उत्तर में विवाह किया करें।"

"इस समय मैं चुनाव के पीछे पागल हो गया हूँ। शनिवार को बड़ोदा,

१५-१६-१७ भड़ौंच तथा अहमदाबाद, १८ से २४ यहाँ, २५ को पंचगनी।"

साथ ही भाग्यचक्र अकल्पित घूमने लगा।

"ला० से मिल आया। आज दोपहर में घबरा गए थे। हृदय की गति मन्द पड़ती मालूम होने लगी थी। वैद्य बैठा था। वैद्य ने कहा कि दवा से हृदय को रोक रखता हूँ········बाला को रात को यहाँ ले आया हूँ। मैंने कहा कि 'रात यहीं रहो।' परन्तु नहीं रही। इस समय उसका ध्यान रखने वाला कोई नहीं है, इसलिए जरा मुझसे चिपटती है।"

इस समय के दो विचित्र प्रसंगों का उल्लेख आवश्यक है।···का व्यवहार विचित्र होता गया। वह मेरी प्रशंसावाले अतिशयोक्तिपूर्ण लेख लिखकर मुझे कठिनाई में डालने लगा। और दूसरी ओर उसने दुष्टतापूर्ण पत्र लिखने शुरू किये। यह एक समस्या हो गई कि उसे किस प्रकार दूर रखा जाय।

उसके विषय में लीला ने लिखा—

"·······वह तुम्हारे प्रति बड़ी एकाग्रता से लगा है। तुम इस समय बिना कारण अहमदाबाद जाओ, यह ठीक नहीं है और वह भी उसके आमंत्रण पर जाना, उसे अधिक महत्त्व देने के समान है। मुझे भी उसका इतना अधिक उत्साह भला नहीं लगता। वह आदमी भयंकर है। उसे छेड़ना ठीक नहीं। उसके बहुत निकट जाने में भी सार नहीं है। फिर भी, उसके साथ सभ्यता का रूप ऐसा अच्छा रखना चाहिए कि उसे एक भी भूल न मिले। वरन्, उसकी चले तो वह इसका उपयुक्त समय आने पर चाहे जैसा किये बिना न रहे। हमें उसका बुरा नहीं करना है, परन्तु वह हमारा कुछ न बिगाड़े, वहीं तक, अविश्वास प्रकट किये बिना, यह शर्त हो।"

(१८-११-२५)

ठाकुर ने भी लीला का परिचय प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की। लीला ने पूछा—"ठाकुर का स्नेह-भाव तुम्हारे प्रति इस समय अधिक उमड़ रहा है, इसका क्या कारण है?' इस प्रश्न का उत्तर मुझे बाद में सूझा।

लीला ने एक पत्र में लिखा—

"ठाकुर का कार्ड आया है, वह इसके साथ भेज रही हूँ। मुझसे पत्र-व्यवहार करने का उन्होंने निश्चय किया मालूम होता है। ठीक है, कोई बात नहीं। मुझे जरा मजा आता है।"

जनवरी के आरम्भ में मैंने लिखा—

"ठाकुर का मेरे नाम आया पत्र पढ़ा? कैसा सुन्दर है! मेरे पत्र का उन पर असर हुआ है। परन्तु उन्हें मुझ पर विश्वास नहीं है। ऐसा मालूम होता है कि मुझे परिषद् मण्डल अच्छी तरह स्थापित नहीं करने देना चाहते। जो भी हो, वह ठीक है। तुम्हारा जवाब मजे का था।"

फिर मैंने लिखा—

"ठाकुर का अशिष्ट, अपमानजनक पत्र आया है। सारा दिन मैं हँसता रहा। उनकी करामात को मैं समझ गया हूँ। उनका खयाल यह है कि मैं चिढ़ जाऊँ, तो भूल कर बैठूँ। परन्तु वह भूलते हैं। बाहरी आदमियों के साथ मैं आपा नहीं खो बैठता। यह ठीक है कि कुछ अपने निजी आदमियों के साथ खो बैठता हूँ। मैं शान्त-चित्त से परिषद् को पूर्ण करूँगा। फिर क्या करना है, यह देखा जायगा।"

लीला के पत्रों से जुदे-जुदे स्वर प्रकट हो रहे थे—

"आज गिरिविलास की कुम्भ-स्थापना विधिपूर्ण हो गई है।"

(१६-१२-२५)

"मैंने आज विजयराय की समालोचना पढ़ी। इनकी समालोचक-दृष्टि दिनोंदिन सुन्दर होती जा रही है। यदि ये जीवित रहे तो गुजराती विवेचना का साहित्य सुन्दर हो जायगा। परन्तु यह पता है कि इसके पीछे कौनसी मनोवृत्ति काम कर रही है? सत्ता की। इसके बिना इतनी तन्मयता नहीं आ सकती? मनुष्य जब स्वतः बहुत निर्जीवता अनुभव करता हो, परन्तु उसे ऐसा लगता हो कि उसमें बहुत-कुछ है, तभी वह दाँत पीसकर काम करने लगता है। इनकी निर्जीवता, इनके देहावसान के बाद भूल जायगी। इनकी आलोचना के तीर बहुत समय तक सजीव रहेंगे, इस आशा

पर इन्होंने अपना यज्ञ आरम्भ किया है। इनके शब्दों में जितनी शक्ति है, उससे आधी भी इनके देह में होती तो अच्छा होता।"

२५ दिसम्बर को मैं पंचगनी गया और 'गिरिविलास' में हम जाकर रहने लगे। लीला ने सुन्दर घर बनाया था। और दुनिया चाहे-जैसे जलावे, परन्तु उसे ही हमारा स्वर्णद्वीप हमने मान लिया। लीला और लड़के-बच्चे हस्तलिखित मासिक 'फूलछाव' प्रतिमास निकालते थे। इस समय उसका सचित्र 'गिरिविलास' अंक छपवाकर प्रकाशित किया। 'लीला काकी' और लता इसके सम्पादक थे, और मुन्शी-परिवार पर अनेक लेख लिखे गए थे। यह एक नये संयुक्त जीवन का सीमाचिह्न बना।

२६वीं को लीला ने सन्देश लिखा—

अपने आदर्शों के पीछे नियम साधे हमें आज तीन वर्ष पूरे हो गए। इन तीन वर्षों में इतना समा गया है, जितना तीन जीवनों में समाए। दुख दिया और दुख सहा; सुख दिया और उसकी पराकाष्ठा का आस्वादन किया। संसार को जीते और संस्कार को विकसित किया और वसिष्ठ-अरुन्धती में से प्रकट हुए एक आत्मा का हमने दर्शन किया। संसार के झंझावात में हम अटल और अडिग खड़े हैं। हमारे जीवन की नाव डोलती नहीं है, हमारे आदर्श के ध्रुव के आधार पर बिना भूले मार्ग तय किये जा रही है। अविभक्त आत्मा के सिवा सब धर्म हमारे लिए झूठे हैं। हमारी यह सिद्धि कोई साधारण नहीं है। जितने बीत चुके उनसे दस-गुने वर्ष हमारे जीवन में आएँगे, परन्तु हमारी आत्म-सिद्धि के इन तीन वर्षों जितनी कीमत भी उनकी न होगी। नये वर्ष में जो तुम ग्रहण करने वाले हो, उन सबमें तुम्हें सिद्धि प्राप्त हो और तुम्हारे सभी कार्यों में सहचारी बनने का अहोभाग्य मुझे प्राप्त हो! महागुजरात की नींव इस वर्ष हम डाल सकेंगे?

जैसा हमारे आत्मा का अद्वैत रचा गया है, वैसा ही हमारे कार्यों का अद्वैत भी रचा जाय, इतनी गहरी अभिलाषा के साथ

तुम्हारी और जीवन-जीवन में तुम्हारी ही रहूँ।

उसी घर के दूसरे खण्ड में मैंने संदेश लिखा—

तीन वर्ष हो गए हैं अपने व्रत को पालते हुए और साथ-साथ रहकर अनेकदेशीय साहचर्य रखते हुए। हम अविभक्त आत्मा व्यक्त करते आ रहे हैं। अन्तरायों ने हमें भयभीत नहीं किया है। क्षुद्रता हमें स्पर्श नहीं कर सकी है। उल्लासपूर्ण भावी जीवन को हम सहर्ष निमंत्रित कर रहे हैं। जितनी कल्पना की थी, उससे भी तुम अपूर्व देवी, सहचरी, और सखी हो रही हो। अपना सख्य बनाये रखने और मुझे प्रेरित करने को तुमने क्या त्याग नहीं किया? क्या नहीं सीखा? क्या नहीं सहा? १६२२ में मैंने जैसी प्रेरणा देने वाली सखी का कल्पना की थी, उससे भी तुम सुन्दर बन रही हो।

आज मेरी जन्म-तिथि है और अविभक्त आत्मा की भी संयोग-तिथि है! इन शब्दों में समाविष्ट भावना कितने अनुभव, भाव और आदर्श-परम्परा के शिखर पर पहुँची है। वरली, साबरमती, पीलस्वा, ल्यूसर्न, इंटरलाकन, लन्दन, मार्सेल्स, बांद्रा, महाबलेश्वर, पंचगनी—तीन वर्षों के जीवन में कितने सीमा-चिह्न, कई अवतारों के आशा और मनोरथों के सत्त्व हमारी समझ में आए? इस समय तक हमें विजय प्राप्त हो चुकी है। तुम्हारे साथ रहकर, तुम्हारी प्रेरणा द्वारा, विजय-टंकार करने की बहुत-बहुत आशाएँ हैं। विजय या राज्य, सुख या दुख, तुम्हारे साथ सभी समान हैं। जब तक यह भावना है, तब तक मुझे किसी बात की परवाह नहीं है।

तुम उदार हो मैं हठी, उग्र, सर्वग्राही हूँ। अनेक बार तुम्हारी मनोवृत्ति कुचल जाती है, यह मैं देखता हूँ और अज्ञात रूप से यह स्थिति ही उपस्थित करता हूँ, यह भी मुझे मालूम होता है।

मैं सुधरा हूँ और सुधरता जाता हूँ। जैसा हूँ, वैसा तुम्हारा हूँ। निभा लेना। हो सकता है, कभी निर्बल हो जाऊँ, पराजित होऊँ,

तो तुम्हारी ही शक्ति और सामर्थ्य पर झुकूँगा, यह न भूलना। तीन वर्षों में तुम्हारी प्रेरणा के सिवा और किसी की ग्रहण नहीं की है; तुम्हारी शक्ति के सिवा दूसरे का सहारा नहीं लिया है; तुम्हारे साथ के सिवा दूसरे किसी सुख की इच्छा नहीं की है। तुम्हारे बिना भविष्य को हल करने की इच्छा भी नहीं है और परवाह भी नहीं। जैसी हो वैसी ही रहना—प्राण, देवी, सहचरी!

१७

इन्टरलाकन

जनवरी में मैं बम्बई आया और ५ तारीख को बम्बई युनिवर्सिटी के सिनेट में चुना गया। सर चिमनलाल बहुत खुश हुए। भूलाभाई ने खुशी दिखाई—दिखानी पड़ी। दूसरे दिन खुशालशाह ने और मैंने गुजरात युनिवर्सिटी और गुजरात-संघ के विषय में बातचीत की।

पंचगनी से मैं लौट आया और दो-एक दिन बाला को अपने पास रखा। बाला दुखी थी; उसके पिता को कुछ हो जाय, तो उसका सौतेला भाई उसे कुचल डाले, और लीला का जी दुखाया करे। यदि इसे मैं पंचगनी रखूँ, तो इसकी अशिक्षा और इसके स्वतन्त्र स्वभाव से घर में बेसुरापन आ जाय।

लीला को बाला के द्वारा लिखे गए एक पत्र से मेरा हृदय फट गया—

"मेरे हठ के लिए तुमने जो लिखा है, उसका खुलासा जब विस्तार से जानोगी, तब समझोगी कि किसका अपराध है? मुझे मुँह पर गाली दें, तो भी पिताजी से नहीं कहा जा सकता। नौकर-चाकर खाने को न लाएँ और उनसे कहूँ, तो कहें कि 'बाला बहन बेकार बकझक करती हैं।'··· दोपहर में भूख लगे तो खाने को भी न बनाएँ और पिताजी से कहा न जा सके···पिताजी को यहाँ तक दुर्भाव समा गया है कि शंकरलाल पिता जी से कहें—'बाला रोती है' तो वह कहते हैं—'रोती है तो कौन मोती

झड़ जायँगे !'

"चाहे मुझे मार डालो···तुम तो जैसे छुटकारा पा गई हो, परन्तु मुझसे क्या हो सकता है ? मुझे अभी सारी जिन्दगी बितानी है।"

लीला की पुत्री को मैं न बचा सकूँ तो अपनी एकता की सारी भावना से मैं गिर जाऊँ, ऐसा लगा करता था; परन्तु कोई उपाय मिलता नहीं था।

इस प्रश्न का निराकरण परमात्मा ने ही किया। ११ जनवरी के सवेरे बाला मेरे घर मिलने आई। उसे वहीं रखकर मैं कोर्ट में गया और नरू भाई खबर लाये कि लालभाई की हृद्गति रुक गई और वे मर गए हैं। मैंने तुरन्त नरू भाई से सलाह की; बाला के ट्रस्टी जनू भाई को तार दिया; रात को उसके सौतेले भाई से पूछकर कुछ दिनों के लिए बाला को पंचगनी भेज दिया।

किसी नये अनघड़ नाटककार की रचना की तरह, हमारी परीक्षा की कहानी विचित्र रूप से खत्म हो गई।

बाला को पंचगनी भेज देने में मुझे भय की झंकार सुनाई पड़ने लगी। मैंने लिखा—

"बाला पहुँच रही है। मैं जानता हूँ—मैं तुम्हें सचेत करता हूँ—कि हम सबके बीच एक बड़ा भयानक तत्त्व प्रवेश कर रहा है। हमारे बच्चों को यह दुखी कर सकता है; तुम्हारे और जीजी माँ के बीच वैमनस्य उत्पन्न करा सकता है। तुम्हारे और मेरे बीच अविश्वास ला सकता है। इन सब कठिनाइयों को सहने के लिए मैं तैयार हो गया हूँ। कारण कि तुममें मुझे पूरा-पूरा विश्वास है। बाला के विषय में तुम्हारी चिन्ता मुझसे नहीं देखी जा सकती। मैंने आज स्पष्ट कर दिया कि पंचगनी से वापिस नहीं लौटा जा सकता, तुम न होओ तब भी। आगामी वर्ष तुम पढ़ने के लिए विलायत भी जा सकती हो और तब इसे जीजी माँ और बच्चों के साथ रहना पड़ेगा। इसने यह कुबूल कर लिया है।"

इस प्रकार यह कदम तो बढ़ाया, परन्तु इसमें जोखिम का पार नहीं था। लीला उसे छोड़ गई, इसका उसे क्रोध था ही, उस पर और मुझ

पर। बारह महीनों के प्रयत्न से लीला ने मेरे बच्चों के हृदय में प्रवेश किया था। वहाँ बाला ने पंचगनी आकर माँ पर अपना हक जमाना शुरू कर दिया। अन्य बच्चों की प्रीति उस पर कम हो जाने का भय पैदा हो गया। बाला स्वभाव से हठी थी, घर में अकेली रही थी, इसलिए मनमाना करने की उसकी आदत, जैन-धर्मी होने का गर्व, इसलिए ब्राह्मणों के प्रति तिरस्कार भी था। सरला और अन्य बच्चे नरम स्वभाव के, एक-दूसरे के स्नेह में बँधे हुए और पितृभक्त एवं ब्राह्मण कुल का गर्व रखने वाले।

जीजी माँ ने कहा—"भाई, यह तो घर में बाघिन बाँध छोड़ी है। बच्चों को खा जायगी।"

"हम खाने कैसे देंगे?"

लीला ने मेरे बच्चों को अपना ही समझा था। कभी पक्षपात किया, तो उन्हीं का। बाला की परवाह मैं ही करता। परन्तु बाला को जीतने का यश भी जीजी माँ को था। उन्होंने परम वात्सल्य से उसे सारे घर में सरला की छोटी बहन और जगदीश की बड़ी बहन का पद दिया। इसका उन्होंने ध्यान रखा कि यह मेरी लड़की नहीं है, यह खयाल किसी को न हो। धीरे-धीरे बाला में परिवर्तन हुआ। सब बच्चों ने उसे सगी बहन समझा। मैंने पिता के अधिकार और वात्सल्य दोनों की पात्र उसे बना दिया था। जब जीजी माँ बारह वर्षों बाद गुजर गईं, तब उसका आघात बाला को भी हुआ। इस समय पुत्री के स्नेह से यह मेरा आदर करती है। बाला को अपनाना, जीजी माँ की संघटन शक्ति और हमारे अविभक्त आत्मा की एक सिद्धि मैं समझता हूँ।

बाला का प्रश्न विकट हो पड़ा। लालभाई की उत्तरक्रिया समाप्त हो जाने पर, पुराने विचार के उनके सगे-सम्बन्धी पराये घर रहने वाली विधवा मां के साथ उसे नहीं रहने देंगे। उसे अपनी जाति में ही ब्याहने की उनकी इच्छा थी। उनके रिश्तेदार बाला को मांगें या कचहरी का सहारा लें, तो विधवा माँ किस मुँह से बाधा उपस्थित कर सकती है? एक ही मार्ग था। हम विवाह कर लें तो बाला को कोई नहीं ले सकता। परन्तु तुरन्त विवाह

कर लें, तो दुनिया धज्जियां उड़ा डाले। बाला को खो दिया जाय, या दुनिया को ललकारा जाय? मैंने तुरन्त ही कार्यक्रम लीला को लिख दिया—

अब तुम्हारे विषय में। तुम समझोगी कि मैं जुल्मी हूँ। हुक्म-पर-हुक्म निकालता हूँ, मानो नेपोलियन..........तीन महीनों में तुम्हें तबियत सुधारना है, साथ ही अंग्रेजी भी। शिष्टाचार का भय न रखना। मूर्ख न बनना। गणित पढ़ना छोड़ दो। मास्टर को छुट्टी दे दो। इससे तुम पर भार पड़ता है। मैं जीजी माँ से स्पष्ट बातें करने वाला हूँ। अब सारा घर जल जायगा कि हम विवाह करने वाले हैं। सिस्टर स्टेनिस्लो से कह देना कि सामाजिक कारण से तुम्हें पंचगनी से बाहर जाना होगा। अब तुम अंग्रेजी पर ध्यान देना। पंडित को छुट्टी दे देना। अंग्रेज सहचारी रखना कि जो रोज सवेरे तुम्हारे साथ अंग्रेजी पढ़े।

मनु काका से और कुछ नरूभाई से मुझे बातें करनी पड़ीं।

अब कार्यक्रम। मैं फरवरी में पंचगनी आऊँगा। १५ मार्च को परिषद् के लिए तुम्हें यहां आना होगा। कारण कि उसकी तैयारी भी करनी पड़ेगी। दूसरी से परिषद् आरम्भ होती है। ४ को 'इन्टरलाकन' आएगा। ५ को मिस्टर और मिसेज़-मुन्शी परिषद् के अध्यक्ष को 'एट होम' देंगे। १२ को कोर्ट बन्द होगा, इसलिए हम काश्मीर या दार्जिलिंग डेढ़ महीने के लिए जायँगे। एक सप्ताह पंचगनी में जीजी माँ और बच्चों के लिए रखेंगे। मैं इस प्रकार जल्दबाजी मचाए हूँ, इससे तुम घबरा तो जाओगी, परन्तु हमने बहुत सहन किया है और झूठे शिष्टाचार के लिए मैं अब अधिक सहना नहीं चाहता। किसी ने हमें यश नहीं दिया और कोई देगा भी नहीं।

लीला ने १२ को लिखा—

"आज शाम को तुम्हारा और नरूभाई का तार मिला। अन्त में इतने वर्षों का सम्बन्ध टूटा। मेरे जीवन में उनका अणुमात्र भी प्रवेश नहीं था।

वर्षों तक एक कच्चे तार पर मेरी और उनकी जिन्दगी जुड़ी हुई थी। फिर भी केवल इसी बंधन के बल पर मेरा जीवन उन्होंने जकड़ रखा था। तब भी इस घटना से एक प्रकार का दुख तो होता ही है। परमात्मा उनकी आत्मा को शान्ति दे। मुझे रोना नहीं आया। आँखों से एक भी आँसू नहीं निकला। बड़ी बहन को अजीब-सा लगा होगा, परन्तु मैं ढोंग क्यों करूँ? स्वतंत्रता का भान हुआ है, परन्तु न जाने क्यों कल्पना नहीं चलती। मेरा मस्तिष्क स्तब्ध-सा हो गया है। तुमसे मिलकर मुझे बातें करनी हैं। ऐसा लगता है, जैसे मैं नई हो गई हूँ। पहले नहीं थी, ऐसी निर्बद्ध होकर मैं अब तुमसे मिल सकती हूँ।" (१३-१-२६)

१३ को लीला ने लिखा—

"आज सवेरे बाला आ गई। वह बदली हुई-सी लगती है। यह परिवर्तन मुझे अच्छा लगता है, परन्तु अभी कुछ नहीं कहा जा सकता······· इसके लिए हम क्या व्यवस्था करेंगे? इसे हमेशा रखेंगे, तो बच्चों के साथ स्कूल भेजना होगा। इसको पहले की हालत के अनुभव काफी हैं, इसलिए यह कोई कठिनाई तो उपस्थित नहीं होगी। तुम कहो तो 'फ्रेंच होम' में भरती कर दें।·········

"अब तुम्हारा पत्र। तुमने जो कहा उससे मेरा हृदय फड़क उठा। यह बहुत जल्दी है। परन्तु गरमियों की छुट्टियां आ रही हैं, इसलिए छुटकारा नहीं मालूम होता। मैं चक्कर में पड़ गई हूँ। तुम आओगे, तब बातें की जायँगी। जब स्टेनिस्लो को मालूम हुआ कि मैं विधवा हो गई, तब उसने कहा—'मैं बहुत दुखी हूँ, परन्तु तुम फिर से विवाह कर सकती हो।' उसने यह एकदम कह डाला, इसलिए मुझे सूझा नहीं कि क्या कहूँ। उसने पूछा—'इससे तुम्हारे व्यवहार-क्रम में कोई फर्क पड़ेगा? तुम्हारी पेन्शन तो बन्द नहीं हो जायगी?' जब मैंने उससे कहा कि 'मेरे पति की ओर से मुझे कुछ नहीं मिलता और उनकी मिल्कियत से मैं कुछ भी नहीं लूँगी' तब वह बहुत चकित हुई। उसने पूछा—'डियर, तुम्हें लगता है कि तुम स्वतन्त्र हो गई?' उसे ऐसा लगा कि मैं बहुत दुखी हूँ, इसलिए उसने विशेष

ममता-मोह प्रकट किया। 'सिस्टर ऑफ़ मर्सी' के रूप में उसे सहानुभूति प्रकट करने का अवसर प्राप्त हुआ, इससे वह बहुत प्रसन्न हुई-सी मालूम हुई। परमात्मा के पोथे में एक अधिक अच्छा काम वह जमा करा सकी।"

जीजी माँ से विवाह की बात मैंने की।

उन्होंने प्रसन्नता से स्वीकृति दी।.........पहला प्रश्न जाति का है। जहां तक हो सके, लड़कों को जाति में ही रखना है।......दूसरा प्रश्न परिवार को एक बनाये रखने का है।......

जमीयतराम काका कहते थे--"तुम्हारी संसद् को अब एक भी सदस्य नहीं मिलेगा।"

मैंने कहा—"हां, ठीक है।"

काका ने कहा—" 'गुजरात' के लिए कठिनाई होगी।"

मैंने कहा—"चार-छः महीने तो होंगी ही।"

"सभी हमारे विषय में कल्पनाएँ लड़ा रहे हैं।"

लीला ने लिखा—

"हम बहुत जल्दी कर रहे हैं, यह तो नहीं मालूम होगा? ढाई महीनों के अन्दर फिर से विवाह करना, यह हमारे समाज में किसी ने सुना भी न होगा। मेरा मन अस्थिर-सा हो गया है। तुम्हारा मस्तिष्क बाला के प्रश्न से चक्कर में पड़ा है।" (१४-१-२६)

"मेरा मन अभी वास्तविकता अनुभव नहीं करता। इतने थोड़े से समय में सारा जगत् बदल गया, यह बात मानने में नहीं आती। मैं वहमी हो गई हूँ और ज्योतिष पर विश्वास करने लगी हूँ, परन्तु एक बात बिलकुल सही है। तुम्हारी प्रचण्ड इच्छा-शक्ति तुम्हें छुटपन से मदद कर रही है।"

"हम सुखी होने वाले हैं। हम अद्भुत प्रवृत्तिमय जीवन व्यतीत करेंगे। दस वर्ष में 'गुजरात' का रंग बदल सकेंगे। नये युग के ज्योतिर्धर बनेंगे।

"परन्तु जब मैं यह विचार करती हूँ, तब मुझे अपनी अल्पता खलती है। इतना सब-कुछ करना है और मुझे ज्ञान कितना अल्प है! खैर, कोई बात नहीं। जो है, और जो कुछ जानते हैं, उसका अच्छे-से-अच्छा उपयोग करेंगे

और न कर सकेंगे, तब भी एक-दूसरे के साहचर्य में सदा सुख मानेंगे।'

(१६-१-२६)

१७ जनवरी को परिषद् के प्रचार के लिए मैं अहमदाबाद गया। उस समय बम्बई में बाबला-हत्याकांड का किस्सा ताजा था, और अहमदाबाद में अनेक लोगों के हृदय में मेरे प्रति विष भरा हुआ था। परिषद् के विरोधी वहाँ हो आये थे और व्यक्तिगत टीकाएँ भी बहुत होती थीं। मित्रों ने मुझे अहमदाबाद जाने के लिए मना किया, परन्तु मैंने डरने से इन्कार कर दिया।

इस समय मैं जेब में पिस्तौल लेकर चलता था, परन्तु उसके व्यवहार का साहस था या नहीं, यह ईश्वर जाने! अहमदाबाद जाने का वर्णन, आत्म-श्लाघा और आत्म-विश्वास से पूर्ण बागी के हृदय का चित्र खड़ा कर देता है। मैं जितना लीला के प्रेम में पड़ा था, उतना ही अपने निज के प्रेम में था, यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है। मेरी स्वभावजन्य आत्म-केन्द्रियता का ऐसा आविर्भाव कदाचित् ही कभी हुआ हो।

'गुजरातमेल से रवाना हुआ और गाड़ी में ही लिख रहा हूँ। अब विवरणसहित इतिहास लो।

"शुक्रवार को भूलाभाई, चन्द्रशंकर और मैं बम्बई से रवाना हुए। भू० गुजरात कॉलेज सम्मेलन के सभापति बनने को जा रहे थे। ट्रेन में हमने बातें कीं—खासकर किराये की स्त्रियाँ रखने के विषय में।

"सवेरे अहमदाबाद उतरे। प्राणलाल मास्टर, माणिकलाल सेठ स्टेशन पर थे। चन्द्रशंकर और मैं सेठ के यहाँ गये। वहाँ···की पत्नी से मिला। कोई दम नहीं है, पर पति को सुख दे सकती है। अब उसे पहचानना होगा। यह सा० प० में आने वाली है।

"वहाँ से जमूभाई के यहाँ पाठशाला गया। उन्होंने लड़कों से कुछ उद्बोध करने को कहा। मैंने एक छोटा-सा भाषण किया—अर्वाचीन ब्राह्मण की तरह संस्कृति के प्रचार का मन्त्र दिया। मेरे बाद चन्द्रशंकर बोले—वह आजकल मेरा अच्छा साथ दे रहे हैं और साथ में काम करने की हौंस

रखते हैं। जनूभाई स्नेही जीव हैं और मेरे प्रति सद्भाव रखते हैं।

"फिर हम (सर) रमणभाई के यहाँ गये। घर पर संस्कारी-स्त्री का घूम रहा सुघड़ हाथ और अहमदाबाद के लिए Stylist पहली बार देखा।

"रमणभाई और विद्या बहन से बातें कीं। छोटी लड़की गगनभाई की बहू, प्रशंसा-भीनी तथा जिज्ञासु, मात्र एक ही श्रोताजन। गुजराती राष्ट्रीयता, युनिवर्सिटी, डॉक्टर परांजपे का विरोध आदि पर बातें हुईं। झंझावात की भाँति प्रभाव हुआ।

"वहाँ से माणिकलाल सेठ के यहाँ आकर भोजन किया। भोजन के बाद तुम्हारे पर ठाकुर की लिखी समालोचना पढ़ी। कई बातें ठीक हैं; कई दृष्टिबिन्दु सही हैं। कई बातें, पत्रों में छपने वाली-जैसी दुष्टतापूर्ण हैं—यदि उसके लिए रणजीतराम जिन शब्दों का प्रयोग करते थे, उनका प्रयोग करूँ। मेरे विरुद्ध तुम्हें भड़काने के लिए परोक्ष प्रयत्न हो रहे हैं, यह समझ और देख रहा हूँ। फिर डॉ० हरिप्रसाद आये। उन्हें गुजरात-संघ की योजना कह सुनाई। इनके गले यह अधिक नहीं उतरी, कारण कि राजनीति के सिवा इन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगता।

"साढ़े तीन बजे हीरालाल पारिख के यहाँ। हीरालाल भले आदमी हैं—परिश्रमी और बुद्धिमान। इनसे संघटन की बातचीत की। मैं संघटन सुदृढ़ करता हूँ, इससे ठाकुर को डर लगता है, इसलिए वे यहाँ आकर हीरालाल को बहका गए थे। कहते हैं कि संसद् की जमीन परिषद् ले ले, परन्तु परिषद् को साहित्य-प्रकाशक प्रेस नहीं लेना चाहिए। जाने बाप का ही माल हो! रमणीय राम ने भी चिढ़ाने के लिए कुछ लिखा है। परन्तु ये सब बड़े समझदार हैं।

जनूभाई के यहाँ मैं, जनूभाई, र०······, फूलशंकर तथा शंकरलाल थे। मैंने सारा विवरण कह सुनाया। तुम कैसे अलग रहने गईं और सान्ताक्रूज से कैसे भागना पड़ा—यह सब कहा। ऐसा लगा कि सबका सद्भाव तुम्हारी ओर था। बाला नहीं आई, इसलिए मोसाल से स्यापा

नहीं आया। मैंने कहा—'तुम अभी अहमदाबाद नहीं आ सकतीं। बाला की बात की···र०··· तुम्हें कोचरब का बंगला और भरण-पोषण देंगे।

"विद्यापीठ में गिड़वानी, मलकानी, कृपलानी, नरसिंहप्रसाद और किशोरलाल मिले। जनूभाई के यहाँ भोजन किया। तुम्हारी विशुद्ध प्रामाणिकता तथा साहस की चर्चा की। ये बेचारे यहाँ लोगों के व्यंग्य से त्राहि-त्राहि कर रहे थे। दोपहर की मेरी बातचीत के बाद इनकी डगमगाती श्रद्धा फिर दृढ़ हो गई। रमणीक, अम्बालाल और ठाकुर ने यहाँ मनमानी बातें फैलाने का प्रयत्न किया था।

"रात को एक ही व्यक्ति का विचार करके सोया।

"रविवार को सवेरे······के यहाँ और वहाँ से रविशंकर के घर। इनका ग़रीब, परन्तु आदर्शमय जीवन है, यह सही है। कुमार कार्यालय देखा। कैसी सुघड़ता और उत्साहपूर्ण परिश्रम! किराये से काम कराने पर यह सब नहीं मिलता। तुम्हारे आने पर ही कुछ हो जाय सो ठीक है।

"९–३० बजे प्रेमाभाई हाल में 'नवोदित साहित्य' पर मेरा भाषण। केशवलाल सभापति। मैंने सवा घण्टे तक धीमे स्वर में सुन्दर भाषण दिया। धीरे-धीरे सभा काबू में आ गई और अन्त में साहित्य की बगावत का सम्प्रदाय खूब बढ़ाया। इस प्रकार के विनोदी और सटीक भाषण से सबका अच्छा मनोरंजन हुआ।

"चन्द्रशंकर मेरे बाद बोले। परन्तु ग्राम्य हो पड़े। फिर अहमदाबाद के उदयोन्मुख और उदित तारकों से मिले। गिडवानी फिदा हो गए।

"एक बजे प्रेमाभाई हाल में परिषद् के संघटन के लिए हम इकट्ठे हुए। मट्टूभाई बड़ोदा से आये थे। केशवलाल (सभापति) को मैंने सारा खाका समझाया और परिणामस्वरूप मात्र नाम के परिवर्तन के साथ वह पास हो गया।

"२–३० बजे गट्टूभाई के यहाँ चाय-पानी। गुजरात की अस्मिता का मन्त्र फैलाया।

"५ बजे प्रेमाभाई हाल में गुजरात युनिवर्सिटी पर मेरा भाषण और

मगनभाई चतुरभाई सभापति। मैंने एक घण्टा और पाँच मिनट गुजरात-धर्म का प्रवर्तन किया। मेरी धारणा के अनुसार यह मेरा अच्छे-से-अच्छा भाषण रहा। अनेक बार तो बिजली-सी कौंध गई। मगनभाई विरोध में बोलने लगे, पर लोगों ने मज़ाक शुरू कर दिया, इसलिए चुप हो गए। चन्द्रशंकर भी बोले और मेरे पक्ष का समर्थन किया।

"फिर गांधीजी और श्रीकृष्ण के लिए मेरे व्यवहार किये 'हरामखोरी' (Astute) के भड़ोंची अर्थ में, शब्द के विषय में दो-एक जने तड़फड़ा उठे, और प्राणलाल भाई से पूछने को आये। पंद्रह-बीस जनों ने घेर लिया। क्षण-भर के लिए मुझे लगा कि इनकी झगड़ा करने की मन्शा थी। मैंने हँसकर बात उड़ा दी और चला आया।

"रमणीयराम का र०···के नाम पत्र था। उसमें लिखा है कि 'लीला बहन अहमदाबाद में होंगी!' यह हमारे पीछे पड़ा है।

"इस प्रकार अहमदाबाद का काम पूरा हो गया। व्यक्तिगत विजय बहुत हुई और बहुतों का विरोध टल गया। दस-बारह मित्र पहुँचाने आए। अब फिर यहाँ नहीं आना है। इस समय प्राणलाल भाई से कोई पूछ रहा होगा—'तुम्हारे मित्र का विवाह-निमन्त्रण आया?' 'प्रजामित्र' में एक फिकरा है कि 'बावला के मर जाने से प्रिन्स केरोल को संसद के उप-सभापति का पद प्राप्त होने वाला है।' अर्थ सीधा है। अभी बहुत से हम पर कीचड़ उछालेंगे। इस समय हमें बेधना सरल है, इसलिए दूसरे इससे लाभ उठाएँ, इसमें कौन आश्चर्य है! अहमदाबाद के जैन हमें क्षमा नहीं करेंगे।

"अहमदाबाद में शिक्षित और उत्साही मनुष्यों की अच्छी मण्डली है और वे अनेक विषयों में दिलचस्पी लेते हैं। प्राणलाल मास्टर की मित्र-मण्डली बहुत सुन्दर है···

"जीजी माँ से मैंने बातें कीं। वह मेरे सुख में ही सुखी थीं, इसलिए विवाह की बात से खुश हुईं। परन्तु लीला सौतेले बच्चों को दुख दे और मैं न होऊँ तो उनका क्या हो? मैंने विश्वास दिलाया कि लीला में मुझे पूर्ण

विश्वास है और मेरे बच्चों के लिए वह मर मिटेगी और यदि बाला परिवार में मिल गई तो कोई प्रश्न ही न रह जायगा।

"मैंने आज पार्नेल का जीवन-चरित्र पढ़ा। तीन दिन पहले यह हमारा ही जीवन-चरित्र मालूम होता। कैसा प्रेम है उसका! पार्नेल ने हमारे-जैसा ही मार्ग क्यों ग्रहण किया; दस वर्ष तक उसने समाज को क्यों दुत्कारा; पार्नेल की कैसी दुर्दशा हुई; विवाह-विच्छेद का कलंक उससे कैसे चिपटा और अन्त में आयर्लैंड का नरसिंह कैसे मरा! सुन्दर पुस्तक है।

"निकट मित्रों को मेरी बहुत चिन्ता होने लगी।

"नरूभाई और मनुभाई से मैंने सब दृष्टियों से बातें कीं। नरूभाई स्थिर और समझदार व्यक्ति हैं। हमसे खुश हैं। हमारे साथ उनका तादात्म्य है······

"मनु काका की तो नींद हराम हो गई है कि हमारा क्या होगा। उन्हें एक बात की चिन्ता हुआ करती है और वह बहुत परेशानी के बाद मुझसे कही। वे मानते हैं कि तुम आदर्श स्त्री हो, और बहुत बुद्धिमती हो···परन्तु—परन्तु—परन्तु तुम स्वतन्त्र हो, पहले तुम्हारे बहुत-से मित्र थे और तुम्हारी स्वतन्त्रता की भावना विचित्र है। मेरा मोह समाप्त हो जाय तो तुम मुझसे चिपटी नहीं रहोगी और तुम मुझे त्याग दो तो मैं जी न सकूँगा।

"मैंने कहा—'यदि वह मुझे छोड़ दे, तो अब या बाद में जीने की-सी कोई बात नहीं रह जायगी। मृत्यु भी मुझे मुक्ति नहीं देगी। मोह की बात वास्तविक नहीं है। हम इतने निकट हैं कि हमें एक-दूसरे का मोह रह ही नहीं गया है। उसके पुराने मित्रों को मैं पहचानता हूँ। उन सबकी मैत्री का इतिहास भी जानता हूँ। उसकी स्वतन्त्रता का भी मुझे भय नहीं है। सीता-जैसी सतियाँ दो तरह की होती हैं—लीला जैसे स्वेच्छा-समर्पण से या लक्ष्मी जैसे बाल-वयस से प्रेरित आदर्श से उद्भूत पति-भक्ति से। लीला स्वतन्त्र है और फिर भी वह स्वतन्त्रता मुझे समर्पित करती है।

"घण्टे-भर बातचीत के बाद वे चले गए। जाते-जाते कहते गए—'मैं अभी तक मानता था कि लीला बहन तुम्हारी 'तनमन' है? सचमुच वैसी

न हो तो भी हू-बहू वैसी है ।'

"मैंने कहा—'एक राजा था । वह सूक्ष्म प्रियतमा का चित्र अंकित करने बैठा । अंकित करते-करते रेखाएँ नई प्रियतमा-जैसी हो गईं । मैंने लीला को 'तनमन'[1] समझकर ही पहले स्वीकृत किया । फिर 'तनमन' की रेखाएँ धुँधली और काल्पनिक हो गईं । आखिर लीला बहन ने उसकी कल्पनाजन्य रेखाएँ मिटा डालीं । पुरानी बातें अब खोई हुई पुस्तक के भूले हुए परिच्छेद की स्मृति के रूप में रह गई हैं ।' "

परिषद् के प्रधान के चुनाव के लिए लीला २२ जनवरी को बम्बई आई । फिर पंचगनी गई और उसने लिखा—

"मैं बहुत ही सुखी हूँ । तीन दिन तुम्हारे साथ रहकर मुझमें नई शक्ति आई थी ।" (२७-१-२६)

"मेरे हृदय में सर्वत्र शान्ति छा रही है ।" (२८-१-२६)

फरवरी के प्रारम्भ में विवाह की तिथि १५ फरवरी करनी पड़ी । जीजी माँ इस विषय में दृढ़ थीं । हमारा विवाह होने की अफ़वाहें उड़ने लगीं । अहमदाबाद और बम्बई के जैनों में खलबली मच गई । र०··· और दूसरे कई बाला को लौटा लेने के विचार कर रहे थे—यह खबर लगी । बावला की तरह हत्या करा देने की बात भी सुनाई पड़ने लगी । इस कारण मैं पिस्तौल लिये रहता था । परन्तु यह विचार मुझे अकुला देता था कि मुझे कुछ हो जाय, तो लीला का क्या होगा ।

जीजी माँ की दृष्टि में धनार्क-मीनार्क और अधिक चैत्र लग रहा था इसलिए फरवरी के अन्त से १५ अप्रैल तक विवाह नहीं हो सकता था । मेरी बहन की लड़की और भानज की लड़की दोनों बहुत बीमार थीं ।

"यदि महीना निकल जाने दें तो परिवार पर शोक का बादल छा जाय और दुनिया में बुरा दीखे, यह जुदा ही । परन्तु जो कुटुम्बीजन अन्यथा हमें देखकर सुखी हों, वे भी दुख में पड़ जायँ । मुझे यह जल्दी अमर्याद (indecent) लगती है । जीजी माँ के सामने भी अमर्याद शीघ्रता की बात

---

१. **'वैर का बदला' की नायिका ।**

रखी। उनका दृष्टिबिन्दु यह है कि तीन महीनों या एक महीने के बीच कोई अन्तर नहीं है। परन्तु तीन महीने दूर ठेल दें तो इतनी कठिनाइयाँ उपस्थित हो जायँ कि अमर्यादपन की तुला समतुल हो जाय। इसमें कोई अमर्यादपन वे नहीं देखतीं।''

इसमें इस अद्भुत माता का असीम प्रेम और बुद्धिमानी देखकर आज भी मेरा हृदय प्रणिपात करता है। हमारे सम्बन्ध का उन्होंने स्वागत किया, और कड़े समय में भी लोक-लज्जा की परवाह न करके मुझे सच्चा मार्ग दिखाने का साहस किया। विवाह कैसे किया जाय, यह बात चली तो जीजी माँ ने साहस के साथ कहा—'मैं तुम्हारा बाप और माँ दोनों हूँ। मैं अपने नाम से निमन्त्रण-पत्र छपवाऊँगी और समस्त मित्रों को निमन्त्रण दूँगी। हम शरमाने की जरा भी कोई बात नहीं कर रहे हैं।' बाला के विषय में भी वे कटिबद्ध हुईं। बोलीं—'लड़की नादान है, परन्तु उसे छोड़ दें तो लीला और तुम सुखी नहीं हो सकते। मैं पंचगनी रहूँगी और इतने वर्षों पर भी उसे बच्चों में हिला-मिला दूँगी। तुम ज़रा भी चिन्ता न करना।' और, इस समय भी अपने प्रचण्ड स्नेह-यज्ञ में हमें पावन करने को तत्पर हो गईं। जीजी माँ मेरी जननी नहीं थीं, जीवन-विधाता थीं।

बाला के लिए र०···कोर्ट में अरज़ी दाखिल करने वाला है, यह ध्वनि भी सुनाई पड़ी। शीघ्रता में ही सफलता थी।

"तुम्हारे कपड़ों के लिए मंगलभाई से कहा। लीली बहन तुम्हारी सहायता के लिए सहर्ष तैयार हो गईं। तुम भाग्यवान स्त्री हो; एक साथ सास, बच्चे, मित्र और प्रशंसक प्राप्त हो गए······मैंने जब दिसम्बर में कहा था कि परिषद् से पहले हम विवाह कर लेंगे, तब तुमने मज़ाक समझा था। मैं अब भविष्यवेत्ता हूँ, इसका तुम्हें अभी विश्वास नहीं हुआ?

"मंगलभाई लीली बहन और हम खूब हँसे। 'कोई स्त्री अपने कपड़े खरीदने का काम दूसरी स्त्री को नहीं सौंपती।' मैंने कहा—'यह स्त्री नहीं, देवी है; इसलिए सब सम्भव है।' "

अपनी जाति के मित्र से पुरोहित बनने को कहा। उसने इन्कार कर

दिया। "मुझे खेर[1] से निजी रूप में बातचीत करनी पड़ी, कारण कि ब्राह्मण की कठिनाई बहुत बाधक होगी। ऐसे विषय में वे बहुत जानते हैं।" 'पूना से ब्राह्मण लाने पड़ेंगे।"

मेरे मित्र पेंडसे एडवोकेट प्रखर शास्त्रज्ञ थे। उन्होंने विवाह कराना स्वीकृत किया। "सन्मुखभाई पंड्या ने कन्यादान देने से इन्कार कर दिया। परन्तु आचार्य ने बड़ी खुशी से हाँ भर ली।"

"आज सेनेट में मैंने अपना पहला भाषण दिया। इसका अच्छा असर हुआ और बहुत ध्यान से सबने सुना। 'टाइम्स' में तुम्हें पढ़ने को मिलेगा।" (६-२ २६)

हम दोनों 'गुजरात' के लिए जीते थे। विवाह की तैयारियों में 'हनीमून' की व्यवस्था करने लगे।

"गुजरात के इतिहास के अपने व्याख्यान मैं अँग्रेजी में लिखूँ—हम दोनों गुजराती में लिखें और दो नामों से छपवाएँ। चीज़ सुन्दर होगी। 'गुजरात के सोलंकी!' दार्जिलिंग में बैठे हुए सब साधन-सामग्री खोज निकालेंगे और तैयारी करेंगे। 'हनीमून' जरा कठिन जरूर होगा। कारण कि ताम्रपत्र और सिक्कों का निरीक्षण करना पड़ेगा। परन्तु गुजरात के इतिहास की चुनाई भी साथ-साथ करेंगे।"

मेरी यह कल्पना वर्षों पश्चात् 'Imperial Gurjars' में परिपूर्ण हो सकी।

"आज एक बड़ी बात हुई। 'साहित्य प्रेस' के लिए हम १०,०००) प्राप्त करने वाले थे, परन्तु अब देर तक कान्फ्रेन्स हुई और बिसनजी अवरुद्ध स्त्री के घर पर मर गए। उनकी मिल्कियत में से ३५,०००) युनिवर्सिटी के लिए प्राप्त किये हैं। इनसे गुजराती साहित्य और इतिहास के लिए प्रोफेसरशिप स्थापित की जायगी। कितना सुन्दर!

"मेरे युनिवर्सिटी में दाखिल होने से पहले गुजराती के प्रोफेसर की नियुक्ति हो जाय, यह—साहित्य के लिए—कैसी नई चीज़ होगी! भले

१. श्री बाला साहब खेर, बम्बई के पिछले प्रधान मन्त्री

हो १०,०००) न मिलें। हमारे साहित्य की प्रगति तो होगी।

"एम० ए० के पोस्ट ग्रेजुएट कोर्स का सेक्रेटरी मिला था। कहता था कि गुजरात के इतिहास पर व्याख्यान दीजिए। इस निमन्त्रण की स्वीकृति देने की इच्छा होती है—राजनीति को अभी स्थगित ही रखना होगा।

"इस महीने में केवल ५८००) ही कमाये। कोर्ट आजकल धीमे चल रही है।

"हमें मितव्यय से काम लेना होगा···जीजी माँ तुम्हारी मितव्यय की आदत पर खुश हो गई हैं। तुमने गहनों पर खर्च करने से इन्कार कर दिया और खर्चीले कश्मीर के बदले दार्जिलिंग पसन्द किया, यह उन्हें बड़ा अच्छा लगा।"

७ फरवरी को मैं पंचगनी गया। लौटते समय ट्रेन में जो बहन मिलीं, उनकी हमेशा फरियाद थी कि लीला बहन के आने पर मैं दूसरी बहनों को भूल गया हूँ। उस बहन ने पति से कहा – 'मैं कहती न थी?' "तीन घण्टे गप्पें लड़ाकर अपने हृदय उन्होंने खाली कर दिए। दोनों बड़े दुखी हैं और वे बहन तो कुचल-सी गई हैं। फिर तुम्हारी बातें हुईं। उस बहन ने कहा—'तुम निर्दोष हो'! पति ने कहा—'तुम खराब हो।' फिर तुम्हारा इतिहास कह सुनाया।" (६-२-२६)

जीजी माँ ने विवाह की अनुमति देते समय दो शर्तें की थीं। एक यह कि वेदोक्त विधि से विवाह किया जाय और दूसरी यह कि विवाह करके भड़ोंच में हमारे चन्द्रशेखर महादेव के दर्शन किये जायँ। लीला कभी शिव-मन्दिर में नहीं गई थी, परन्तु उसने यह शर्त खुशी से मंजूर कर ली।

"कल मैंने कानूनी दृष्टि से ध्यानपूर्वक जाँच की। कानून की स्थिति अनिश्चित है। इसलिए विवाह के बाद सिविल मेरेज करना होगा। अर्थात् जब तुम चाहो तब विवाह को विच्छिन्न करा सको (!) और वह भी मैं बहुत क्रूर हूँ, इस मुद्दे पर (!!)"

मेरे पुराने मित्र माधवलाल मकनजी ने अपना वॉर्डन रोड वाला 'मार्बल-

फाउन्टेन' नामक बँगला, विवाह के लिए देना मंजूर कर लिया। घर के लिए नया फर्नीचर खरीदा और जमा दिया। नरू भाई और मनु काका से १४ को निमन्त्रण-पत्र डाक में छोड़ देने के लिए कहकर, १३ को मामा-मामी को बुलाने मैं भड़ौंच गया और वहाँ से १४ को बड़ोदा पहुँचा।

वहाँ दो काम थे। परिषद्-मण्डल की सभा में उपस्थित हुआ।

वयोवृद्ध हरगोविन्ददास काँटावाला की अध्यक्षता में और उन्हीं के यहाँ हमारी बैठक हुई। संघटन का मसविदा पास हो गया। मण्डल को रजिस्टर्ड कराने का निश्चय हुआ। ठाकुर ने अनेक बातें सूचित की थीं; वे अस्वीकृत हो गईं और यह प्रयत्न किया गया कि केन्द्रीय सभा का चुनाव २-४-२६ के पहले हो जाय। रमण भाई, हीरालाल और मट्टूभाई की वर्षों की, और मनहरराम की और मेरी महीनों की मेहनत सफल हुई।

"अब परिषद्-मण्डल संस्था नहीं, परन्तु गुजराती साहित्य-विषयक समस्त संस्थाओं का वह प्रतिनिधि बनेगा। गुजराती साहित्यिक प्रवृत्तियों का परिषद्-मण्डल अब केन्द्र-स्थान हो गया है।" मैंने 'गुजरात' में यह घोषणा की।

दूसरा काम अपनी भानजी, बाला बहन तथा उसके पति को विवाह में ले आना था। बाला बहन ने छुटपन से ही बहादुर छोटी बहन की कमी पूरी की थी। वह खुश हो गई। शिवप्रसाद भी खुश हुए। दोनों बम्बई के लिए तैयार हो गए। शिवप्रसाद की माँ बिगड़ पड़ीं—"जीजी माँ से पूछ लिया है ?"

"हाँ, पूछ लिया है," मैंने कहा, "उन्होंने अपने नाम से निमन्त्रण भेजे हैं। और विवाह के समय वह मौजूद रहेंगी।"

"मैं तुम्हारी माँ होती तो कुएँ में डूब मरती।"

मैं क्या जवाब दूँ ? ईश्वर का आभार ही मानना चाहिए, और क्या ?

बाला बहन और शिवप्रसाद को लेकर १५ तारीख को सवेरे मैं बम्बई आ पहुँचा। लीला और सब बच्चे भी पंचगनी से आ गए। माधवलाल ने बंगले को सजाया और मित्रों से कहा कि शेरिफ को पार्टी दे रहा हूँ।

योजना के अनुसार निमन्त्रण-पत्र अगली रात को डाक से रवाना हो गए थे। गं० स्व० तापी बहन माणिकलाल मुन्शी का 'हमारे पुत्र चि० कन्हैयालाल के विवाह के अवसर पर शोभावृद्धि करने का' निमन्त्रण हमारे जगत् पर सवेरे दस बजे बिजली की तरह आ पड़ा। टेलिफोन-पर-टेलिफोन और अभिनन्दन आने लगे। नरूभाई काँपते हुए आए—"मैं घर नहीं जाऊँगा।"

जमीयतराम काका को निमन्त्रण दस बजे की डाक से मिला, इसलिए बहुत नाराज हुए। "मुझे किसी ने कुछ बतलाया क्यों नहीं? यह नरू और मनु की ही कारस्तानी है। मुझसे सब छिपाया। नरू को बुलाओ। किसके साथ कनुभाई विवाह कर रहे हैं। नरू भाई ने यह सुना, तो घर से बाहर निकल आए। "काका को बड़ा आघात हुआ है," नरूभाई ने कहा। आघात हो, इसमें आश्चर्य नहीं था। उन्होंने पिता की तरह मेरे पर ममता रखी थी। मेरी प्रगति में उनका बहुत बड़ा हिस्सा था। वे कट्टर ब्राह्मण थे और अन्तर्जातीय विवाह और विधवा-विवाह के कट्टर विरोधी थे। उनके बाद चौरासी ब्राह्मण-जातियों का नेतृत्व मैं करूँगा, इस धारणा पर विश्वास किये चले आते थे और अपनी इच्छित कन्या से विवाह कराके मुझे सम्बन्धी बनाने की भी उन्हें हौंस थी।

मैंने काका को पत्र लिखा। "मैंने आपको खबर न दी, इसके लिए क्षमा कीजिए। परन्तु आप आशीर्वाद नहीं देंगे, यह मैं जानता था। मैं जैसा आपका हूँ, वैसा ही रहूँगा। आप भी अपने हृदय में मेरा वही स्थान बना रहने देंगे।" काका ने जवाब नहीं दिया। उन्हें जोर का ब्लडप्रेशर हो आया। मुझ पर उनका बड़ा स्नेह था और मेरे इस 'अधःपतन' से उन्हें बड़ी चोट पहुँची।

भड़ौंच से मेरे मामा-मामी भी आये थे। ये मुझे अपने पुत्र की तरह समझते थे। अत्यन्त उदारता से उन्होंने आशीर्वाद दिया। जाति के अनेक नेता लोग यह बात सुनकर दुखी हुए। मामा ने कहा—"तुम हमारी छोटी-सी जाति के गौरव हो। कई लोगों की आँखों में आँसू आ गए।

जाति का नूर चला गया।"

"नूर कैसे चला जायगा? मैं जाति को छोड़ थोड़े ही रहा हूँ। और लीला को भी सब स्वीकृत कर लेंगे।"

"परन्तु जाति का क्या हो?"

"मैं जाति वालों को 'नाराज़' नहीं करूँगा। पर-जाति वाली से विवाह कर रहा हूँ, इसलिए मुझे जाति से बाहर करना ही चाहिए। जीजी माँ और बच्चों को न किया जाय तो अच्छा है।"

मामा के कहने से मैंने अपने बहिष्कार का प्रस्ताव बना डाला और बाद में जाति वालों ने वह सखेद स्वीकृत किया। परन्तु यह अन्तिम ही प्रस्ताव था। इसके बाद पर-जाति वाली के साथ विवाह करने वाले को जाति-बाहर करना हमारी जाति भूल गई।

हाईकोर्ट में खलबली मच गई। "मुन्शी किसके साथ ब्याह कर रहे हैं?" इस प्रश्न का उत्तर न मिलने पर तरह-तरह की तुकें भिड़ाई जाने लगीं।

चार बजे मार्बल फाउन्टेन में विवाह-विधि आरम्भ हो गई। सब प्रसन्न थे। एडवोकेट पेंडसे ने आचार्य का स्थान ग्रहण किया। गर्भाधान संस्कार से लेकर सभी संस्कारों तक लीला आचार्य की पुत्री बनी। आत्मा से एक थे; अग्नि के सान्निध्य में भी एक हो गए।

समारम्भ में शाम को बम्बई के अग्रणी लोग—चीफ जस्टिस और गवर्नमेन्ट के मेम्बरों से लेकर छोटे नवोदित विद्वान् लेखक—बहुत-से सच्चे मन से और बहुत-से बेमन से, अभिनन्दन दे गए।

सात बजे सभी चले गए और फिर घर के और निकट के मित्र बातचीत करने लगे।

नरू भाई, मनु काका, आचार्य, मंगल देसाई, चन्द्रशंकर, मास्टर, सन्मुख भाई हर्ष के आवेश में थे। इस मित्र-मण्डली में मेरे मित्र मकन जी मेहता और उनकी पत्नी गुलाब बहन भी थीं। यह युगल स्नेह परिपूर्ण और सुखी, आज भी चकवा-चकवी की तरह है।

मुक्तकण्ठ से सब हँसने-हँसाने लगे। भाषण हुए, उसमें मकनजी बोलने को खड़े हुए। ये गुलाब बहन को 'माई डियर' कहते हैं। इनके लिए बार की लाइब्रेरी में यह क़िस्सा था कि एक नये रसोइए ने सेठ की बात-चीत सुनकर सेठानी का नाम ही 'माई डियर' मान लिया, और गुलाब बहन से पूछा—''माई डियर बाई, कल क्या शाक लाऊँ ?''

मकन जी खिल पड़े। अपना और 'माई डियर' के सम्बन्ध का वर्णन किया। अन्त में इन्होंने अपने और 'माई डियर' जैसे स्नेही पति-पत्नी बनने का हमें आशीर्वाद दिया।

छबीलदास अंकलेसरिया, 'बम्बई समाचार' के सम्पादक, मुझे मामा मानते हैं। वह भी वहाँ थे। किसी का भी ध्यान न गया और उन्होंने एक-एक शब्द नोट कर लिया था।

बहुत कल्पना किया हुआ, बहुत चिन्तन किया हुआ, 'इन्टरलाकन' आ गया। हमारी तपस्या पूर्ण हुई। फली। हम आनन्द-मग्न घर लौटे। उस समय की भावनाओं को मैंने 'शिशु और सखी' में कुछ-कुछ प्रदर्शित किया है।

दूसरे दिन धूम-धड़ाके से 'बम्बई समाचार' का अंक प्रकाशित हुआ। पूरे दो पृष्ठों में हमारे विवाह का समाचार उसमें आया।

वर-वधू, विधि, अतिथि सब का वर्णन और निजी बैठक में दिये गए सब भाषण, मकनजी का 'माई डियर' प्रधान व्याख्यान भी शब्द-शब्द। छबीलदास ने नाश कर डाला। बम्बई में 'बम्बई समाचार' मिलना मुश्किल हो गया। उसकी प्रतियाँ रुपये-रुपये में बिकीं। और सुना कि अहमदाबाद में उसकी एक-एक प्रति पच्चीस रुपये में बिकी। मकनजी जैन कान्फ्रेन्स के मंत्री थे, उन पर तबाही आ गई, और मुझे याद है कि शायद उन्हें पद से इस्तीफ़ा देना पड़ा। इस विवाह से हमने जगत् को ललकारा और छबीलदास ने इस ललकार का प्रतिशब्द समस्त गुजरात में प्रसारित किया।

अभिनन्दन आने लगे। द्वेष का सागर भी लहराने लगा। पाँच दिन पहले जिस परममित्र और उसकी पत्नी ने अपने दम्पती जीवन के दर्दों का

मुझे वैद्य बनाया था, उसने लाइब्रेरी में कहना शुरू किया कि लीला की गर्भावस्था के अन्तिम दिन चल रहे थे, इसलिए मुन्शी ने विवाह किया। दो-एक मित्र उससे झगड़ पड़े; और मित्र की तरह मैंने उसमें स्नान किया।

चार दिनों बाद, सिर पर हाथ रखे काका लाइब्रेरी में बैठे थे। उन पर हुए आघात का असर उनके शरीर पर स्पष्ट दिखलाई पड़ता था। मैंने जाकर नम्रता से पूछा—"काका, क्या हाल है ?" "ठीक है," उन्होंने कहा। उनके स्वर में खिन्नता थी। उनकी आशामूर्ति का चूर-चूर हो गया था, यह मैंने देख लिया।

"भाई, यह क्या किया ?" उन्होंने वेदनापूर्वक कहा, "ऐसा था तो उसे पञ्चगनी रखना था; विवाह करने की क्या आवश्यकता थी ?" किसी दूसरे ने कहा होता तो उसे मैं मार बैठता, परन्तु यह प्रश्न वृद्ध और रूढ़ि-ग्रस्त ब्राह्मण के दुखी किन्तु स्नेहपूर्ण हृदय से उद्भूत हुआ था।

मैंने खेद के साथ कहा—"काका, मैं आपको कैसे समझाऊँ ? जो स्त्री सम्बन्ध करने योग्य हो, वह विवाह के लायक न हो, यह मेरी समझ में नहीं आता। मुझे क्षमा न करोगे ?"

जमशेद कांगा उछलते हुए आये—"जमेटराम, (जमीयतराम), तुम इस मुन्शी को बारह वर्ष की लड़की ब्याहना चाहते थे, उसने उल्टा ब्याह कर लिया।"

काका खिन्नता की मूक मूर्ति बन गए। वर्षों के लिए उन्होंने मेरा घर त्याग दिया और बोलना बन्द हो गया। परन्तु आखिर लीला ने उन्हें जीत लिया और वात्सल्य से काका ने उसे अपना लिया। किन्तु यह आगे की बात है।

रात को मंगल ने ताजमहल में भोज दिया। गुरुमहाराज भूलाभाई भी थे। मैंने इनकी वर्षों सेवा की। गुरुभाव से इनका सम्मान किया था। परन्तु ग्रहदशा के कारण ये मेरे साथ न्याय न कर सके। अपने भाग्य की इस कथा को कहाँ तक रोऊँ ? भोजन के सम्पूर्ण काल में गुरुमहाराज तीखी-कड़वी बातें कहते रहे। मंगल ने स्नेहपूर्ण अभिनन्दन किया और गुरुमहाराज से

दो शब्द बोलने के लिए कहा। इन्होंने आशीर्वाद दिया या शाप, यह किसी की समझ में न आया। मैंने एक ही बात कही—

"आशाविहीन डूबता हुआ मनुष्य किनारे आकर ज्यों साँस छोड़ता है, त्यों ही मैं निश्वास छोड़ता हूँ। हम बच गए, यह ईश्वर की कृपा है!" कहते-कहते मेरा कण्ठ रुँध गया।

दूसरे दिन सालिसिटर धरमसी ने भोज किया। उस समय भी गुरुमहाराज ने निःसंकोच तिरस्कार प्रकट किया। वर्षों बाद लीला ने इनका रेखा-चित्र लिखकर हिसाब ठीक कर डाला।

वृद्ध मालवी सालिसिटर ने लाइब्रेरी में कहा—"दोनों मिजाजी हैं और पन्द्रह दिन में विवाह-विच्छेद कर देंगे।" कोर्ट के बड़े मित्रों में सबसे अधिक प्रसन्न नवलभाई पकवासा और छोटूभाई वकील थे।

ठाकुर तो खार खाये ही हुए थे। परिषद्-मण्डल का संघटन हो चुका था। वह जानते थे कि अब धन-समिति हाथ से निकल जायगी। लीला का और उनका पत्र-परिचय भी अधिक नहीं बढ़ा था।

कवि नानालाल का ज्वालामुखी धुँधुआ रहा था, वह फूट पड़ा। चन्द्रशंकर के मुख पर ऐसी गालियाँ दीं कि कान के कीड़े मर जायँ। और अनेक वर्षों तक व्याख्यानों में हमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में कोसने में उन्हें आनन्द मिला।

इन दोनों को हमारे विवाह में आर्यत्व का अधःपतन दिखाई पड़ा। लीला ने 'बुद्धिमानों के अखाड़े में' इनका भी हिसाब चुका दिया।

२०-२-२६ के दिन संसद् ने चन्द्रशंकर के यहाँ अभिनन्दनोत्सव मनाया। चन्द्रशंकर ने कहा—"भाई मुन्शी, यानी कुछ नया, कुछ ध्यान खींचने वाला, कुछ संक्षोभ करने वाला, समाज को आश्चर्यचकित न करें, जगत् को न चौंकाएँ तो मुन्शी मुन्शी नहीं। लीला बहन, यानी समर्याद होते हुए भी प्रगतिशील स्वतंत्रता; मुन्शी, यानी कौतुक, तो लीला बहन, यानी—और फिर स्त्री होने के कारण—महाकौतुक।"

उत्तर में मैंने कहा—"आप जानते हैं कि हम दोनों—ज्यों हम सब हैं

स्यों—दीर्घकाल के सहयोगी हैं। गुजरात प्रभावशाली बने, गुजराती साहित्य समृद्ध हो, नये गुजरात के संस्कार का दर्शन हो—इस दिशा की ओर हमने अनेक प्रयास एक साथ किये हैं। साहित्य के शौक और सेवा ने हमारी मैत्री का पोषण किया है। 'संसद्' के लिए एकनिष्ठ कार्य-तत्परता ने उसे झुलाया। नवयुग के आदर्शों की भक्ति ने उसे बड़ा किया, और भावी गुजरात के साहित्य, संस्कार तथा जीवन के भव्य स्वप्नों को देखते हुए, गुजरात में उन स्वप्नों के रंग भरने का सेवाधर्म निबाहते हुए, उस मैत्री ने संलग्न जीवन के सहधर्माचार का स्वरूप ग्रहण कर लिया है। भावी जीवन के मैदान में खड़े हम—दो सहचारी भक्त प्रभु-दर्शन के प्यासे खड़े हों, इस प्रकार—आशा-भरे, नवीन गुजरात के दर्शन करने को तरसते रहते हैं।"

मनहरराम और दुर्गाशंकर शास्त्री ने भी अभिनन्दन किया। मणिभाई नाणावटी ने सहृदयतापूर्वक लीला को सम्बोधित किया—

"जिस स्वर्गीया साध्वी का स्थान तुमने ग्रहण किया है, उसके समान ही पति-भक्ति और उदारता प्रकट करोगी और इसके सिवा भाई मुन्शी जैसी प्रेरणा और साहचर्य चाहते हैं, यह तुम इन्हें दोगी, यह आशा रखें, तो गलत नहीं है।"

नरसिंहराव, सुशीला बहन और ललितजी ने भी आनन्द माना-मनाया।

जीजी मां को वचन दिया था, इसलिए उसका अनुसरण करके हम महादेवजी को प्रणाम करने भड़ौंच गये। मेरा हृदय भी प्रफुल्लित था। मुन्शी के टेकरे का पानी मेरी नस-नस में समाया था और वहाँ लीला को ले जाकर जगह-जगह हर चीज़ दिखलाने में मुझे अपूर्व आनन्द आया।

अपने सगे-स्नेहीजनों के यहाँ मैं लीला को मिलाने ले गया। भड़ौंच में दुखित जीवन बिता रहे 'सगे' लोग चश्मा और ऊँची एड़ी से सुशोभित 'कनुभाई की बहू' को देखने को इकट्ठे हो गए। कई वृद्धों के हम पैर छू आये। जाति के विद्वान् भूदेवों का भी सम्मान और उपहार से सत्कार किया। बाद में सभी ने लीला की बुद्धिमत्ता की प्रशंसा की और कनुभाई को खींच ले जाने के लिए सब-कुछ क्षमा कर दिया।

अपने घरू मन्दिर में चन्द्रशेखर के दर्शन करने गये। शिव-मन्दिर में किये जाने वाले आचार-व्यवहार को लीला नहीं जानती थी, तो भी जिसे मैं पूज्य मानता हूँ, उसे पूज्य स्वीकृत कर लेने की उदारता दिखलाई। इन्हीं महादेव की रुद्री करके मैंने बचपन बिताया था। इस समय जीवन की बड़ी-से-बड़ी परीक्षा से पार होते हुए, सुख के समय, मेरा हृदय दीनता से उनके समक्ष द्रवित हो गया।

मेरी परीक्षा की सुखमय पूर्णाहुति हुई, इसे मैंने ईश्वर की कृपा माना।

इस प्रकार हमारी प्रणय-कहानी का प्रकरण पूर्ण हो गया। हम दो जुदे गांवों के, जुदी जाति के, अकस्मात् साथ मिले, आकर्षित हुए। आत्मा के ऐक्य के हमने दर्शन किये। हम मित्र बन गए और साथ-साथ साहित्य-सृजन किया। उपन्यास में जिसकी कल्पना न मिले, इस प्रकार की यूरोप की यात्रा हमने की और जगत् के लिए बाग़ी बन गए। हमने सामाजिक बन्धन तोड़े, प्रतिष्ठा की दीवार को अपने हाथों तोड़ डाला और अपना सर्वस्व स्वाहा करने को तैयार हो गए। आखिर थककर छोटा-सा सुवर्ण-द्वीप अपने लिए बसाने को चले और नवसिखिए उपन्यासकार की कहानी के अन्त की तरह हम विवाहित हो गए और खा-पीकर मौज करने लगे।

इस प्रणय-कहानी का अन्त यदि करुण होता, तो हमारे विश्वासों पर कवि लोग कविताएँ लिखते और हमारे स्मरणों के ध्रुव को देखकर भावी प्रणयी अपनी नौका बढ़ाते।

परन्तु यह प्रणय-सिद्धि कैसे हुई?

पहला कारण है लीला की उदारता। ज्यों मुझे लगा कि इस स्त्री के बिना मेरे जीवन की भूख शान्त न होगी, त्यों उसने संकल्प किया कि इस पुरुष के जीवन में स्थान ग्रहण करना ही सर्वस्व है।

लीला ने अपनी प्रतिष्ठा को चूर कर दिया। घर छोड़ा, पैसा छोड़ा, लड़की छोड़ी, पराये घर को अपना बनाया। वह पंचगनी केवल वस्त्र पहने चली आई थी। उसने विचार तक नहीं किया कि कहीं उसके आचार-विचार मुझे पसन्द नहीं आए, और कहीं मैं मर ही जाऊँ, तो उसका क्या

होगा। इसकी कल्पना भी उसे नहीं हुई। उसने अपना सर्वस्व मुझे सौंप दिया। किसी एक भी विचार या इच्छा से उसने मुझसे भिन्नता न रखी। न कभी विवेक छोड़ा और न कभी संयम त्यागने की वृत्ति दिखलाई।

दूसरा कारण था, जीजी माँ की उदारता। यह परम उदार और बुद्धिमान् स्त्री मेरे लिए जीती थीं। मेरे स्वभाव वैविध्य का पोषण करते हुए, वृद्ध माँ जितना कर सकती है, उतना उन्होंने कमर कसकर किया था। उन्होंने लीला को देखकर परखा। लक्ष्मी के स्वर्गवासी होने पर उन्होंने मेरी गृहस्थी की पुनर्व्यवस्था शुरू कर दी। उन्होंने दूसरी स्त्री से विवाह कराने की बात तक न की। लीला को पुत्री बनाकर हमारा 'स्वर्णद्वीप' रचने में सहायता करके, उसकी अधिष्ठात्री बनीं। बच्चों को सँभालकर बाला को पुत्री बनाया। हमारे विवाह-अवसर को अद्भुत वात्सल्य से उज्ज्वल किया और संसार के ताप से हमें बचाया। आदर्श का ऐसा दुर्ग हमारे आस-पास उन्होंने रचा कि विकट समय में संयम त्यागे बिना हमारी एकता की रक्षा हो और रक्षा करनी ही पड़े।

जीजी माँ ही मेरे जीवन की अधिष्ठात्री थीं।

१८

साहित्य-परिषद्

हमारे कुछ महीनों के प्रणय-जीवन के साथ परिषद् का महायुद्ध जुड़ा था। साहित्य-संसद ने परिषद् को बम्बई में निमन्त्रित किया और युद्ध के रण-सिंगे बजने लगे, यह बात मैं पहले कह गया हूँ।[1]

'गुजरात की अस्मिता' का साक्षात्कार करना और कराना हमारे अविभक्त आत्मा का अंग बन गया था; और परिषद् का संघटन करना, उसमें जीवन डालना, साहित्यकारों को एकत्र करना और प्रेरणा देना, मुझे धर्म दिखलाई पड़ा। इसलिए इस शिक्षितों के समरांगण में 'गुजरात की अस्मिता' की जय-घोषणा करता हुआ मैं कूद पड़ा। परिषद् के पुराने और परिश्रान्त महारथी केशवलाल ध्रुव, हरगोविन्ददास कांटावाला, कृष्णलाल झवेरी, रमणभाई, मट्ठभाई कांटावाला, हीरालाल पारिख, हरिप्रसाद देसाई मुझे प्रोत्साहन देते रहे। हमारे भीष्म पितामह नरसिंहराव से मस्त फकीर तक की संसद-सेना कमर कसकर तैयार हो गई। 'गुजरात' और 'साहित्य' ने महाघोष करना आरम्भ कर दिया।

ठाकुर ने सन् १९०९ से अर्थ-समिति अपने हाथ में ले रखी थी और सोलह वर्षों तक परिषद् के महारथियों को परिषद् व्यवस्थित नहीं करने दी।

१. परिच्छेद ११

नादियाद की शिक्षित-सेना की एक टुकड़ी अम्बालाल जानी और गोवर्धनराम के पुत्र रमणीयराम के नेतृत्व में मेरा विध्वंस करने को तैयार हुई। इनके व्यक्तिगत विद्वेष के कारण मैं पहले दे गया हूँ।

'गुजराती' और 'समालोचक' की रणभेरी बज उठी। बाद में अनेक 'पणवानकगोमुख' (नगाड़े) गड़गड़ाने लगे। इस युद्ध की शब्दावली मैंने आडम्बर से व्यवहृत नहीं की है। इस समय यह परिषद् का झगड़ा सह्य मालूम होता है, परन्तु उस समय मैं प्राण खपाने को तैयार हो गया था। कितना परिश्रम किया, कितना पैसा खर्च किया, कितना कष्ट सहा—केवल परिषद् को गुजरात की अस्मिता का मन्दिर बनाने के लिए।

गुजरात एक हुआ। गुजरात में दो-दो युनिवर्सिटियाँ बनीं, भारतीय विद्या-भवन तथा गुजरात विद्यासभा-जैसी प्रखर सभाएँ स्थापित हुईं; इसलिए साहित्य-परिषद् का वर्चस्व कम हो गया है। परन्तु हमारे जीवन-विकास में इसका स्थान अनोखा है। सन् १९०४ से १९४५ तक वह समस्त गुजरात की एक संपूर्ण संस्था थी।

१८५४ में मातृभाषा के विकास की उपयोगिता पर सर चार्ल्स वुड ने जोर दिया था। विल्सन कॉलेज के संस्थापक रेवरैंड डॉ० विल्सन ने भी मातृ-भाषा की हिमायत की थी। परन्तु सद्भाग्य से संस्कृत को प्राधान्य प्राप्त हुआ और भारत के अर्वाचीन पुनर्घटन की नींव पड़ी।

न्यायमूर्ति रानाडे के प्रयत्न से पचास वर्षों में मातृभाषा को एम० ए० में स्थान मिला। १९०४ में बंगाल में पैदा हुए नये राष्ट्रचेतन के परिणाम-स्वरूप रणजीत राम बाबाभाई के हृदय में गुजरात के गौरव का भान प्रादुर्भूत हुआ। उन्होंने अहमदाबाद में गुजरात-साहित्य-सभा स्थापित की और गुर्जर विद्वानों की जयन्ती का उपक्रम आरम्भ किया। १९०५ में उनके प्रयत्न से गुजराती साहित्य-परिषद् की पहली बैठक हुई। समस्त देश में यह पहली बैठक थी। पीछे १९०६ में मराठी साहित्य-परिषद् की स्थापना हुई। १९०८ में पहली बंगीय साहित्य-परिषद् की बैठक हुई। १९१० में प्रथम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन हुआ।

पहली परिषद् के सभापति गोवर्धनराम; और नरसिंहराव, केशवलाल, रमणभाई, कृष्णलाल काका और जीवनजी मोदी इसके प्रथम महारथी।

१९०७ में दूसरी परिषद् बम्बई में हुई। केशवलाल उसके सभापति थे।

१९०९ में ठाकुर ने राजकोट में परिषद् को निमन्त्रित किया। अम्बालाल साकरलाल उसके सभापति थे। उसमें ठाकुर ने अर्थ-समिति स्थापित की, प्रचार-कार्य का प्रारम्भ किया, विद्वत्तापूर्ण लेखों की माला एकत्र की। परन्तु वहाँ कवि नानालाल रूठ गए और 'साक्षराः विपरीतः राक्षसाः भवन्ति' की कहावत शुरू हो गई।

१९१२ में परिषद् की बैठक बड़ोदा में हुई। रणछोड़ भाई उदयराम उसके सभापति थे। उस समय गायकवाड़ सरकार ने एक लाख रुपये गुजराती साहित्य की उन्नति के लिए दिये। १९१५ में परिषद् की बैठक सूरत में हुई; नरसिंहराव उसके सभापति और मनहरराम संयोजक। मैं भी उस समय परिषद् में गया था। मैंने परिषद् को भड़ौंच में लाने का व्यर्थ प्रयत्न किया था, यह मुझे याद है। ठाकुर भड़ौंच के अग्रगण्य साहित्यकार थे; उन्होंने इन्कार कर दिया। उस समय भी संघटन-समिति बनी थी, उसका मैं सदस्य था। परन्तु ठाकुर के आगे हमारी कैसे चलती?

ठाकुर अर्थ-समिति को लेकर पूना गये और समस्त गुजरात के हृदय में बसी हुई परिषद् केवल एक मेले-जैसी बन गई। १९२० में अहमदाबाद में परिषद् की छठी बैठक हुई। हरगोविन्ददास कांटावाला उसके सभापति थे। वहाँ सभापति और रमणभाई ने संघटन के प्रश्न पर चर्चा चलाई और कांटावाला ने परिषद् के फण्ड में दस हजार देने की घोषणा की। परन्तु ठाकुर सफल हुए और परिषद् का संघटन नहीं हुआ।

सन् १९२४ में भावनगर में परिषद् की सातवीं बैठक हुई। उस समय मेरे गले में परिषद् की रस्सी कैसे पड़ गई, यह मैंने पहले सविस्तार लिख दिया है।[1]

---

१. परिच्छेद ११

१६२५ के अक्तूबर से मैंने परिषद् के संघटन का खाका बनाना अपने हाथ में ले लिया। खाका बनाने का मेरा पहला प्रयत्न था, इसलिए मैं उसमें तन्मय हो गया।

१-१०-२५ के दिन संसद् की बैठक में विधिवत् प्रस्ताव हुआ कि परिषद् की बैठक बम्बई में की जाय। विरोधी पक्ष वालों ने होहल्ला मचाया कि परिषद् की बैठक तो आम सभा की अनुमति से ही की जा सकती है। संसद् की स्पर्धा में 'गुजरात-मण्डल' की स्थापना हुई। दोनों सेनाओं के व्यूह रचे जाने लगे। ८ अक्तूबर को हमने आम सभा बुलाई। काका कृष्णलाल कार्यवाहक सभापति चुने गए। मैं प्रबन्ध-समिति का अध्यक्ष बनाया गया। दस मन्त्री चुने गए, उनमें पहले मनहरराम थे। मन्त्रियों में लीलावती सेठ भी अवश्य थीं।

चन्द्रशंकर नादियाद वालों के अग्रगण्य थे। परन्तु वह मेरे पक्ष में रहे, मन्त्री चुने गए और पूर्ण रूप से सहयोग देते रहे। परिषद् पर उनका प्रेम था और मैं जो महान् प्रयत्न कर रहा था, उसमें सन्निहित शुभाशय की कद्र करने वाले वह उदार हृदयी थे।

हमारे पक्ष के महारथी साहित्यकार थे और गांधीजी का सन्मान करते हुए भी उनके घेरे में नहीं आना चाहते थे। संसद् का ध्येय गुजराती साहित्य का विकास और विस्तार था, और गांधीजी की महत्ता पर मैं मुक्त कण्ठ से टिप्पणियाँ लिखा करता था। परन्तु उनके सिद्धान्त मुझे मान्य नहीं हुए, यह सभी जानते थे। इसलिए विरोधी पक्ष वालों ने योजना बनाई कि गांधीजी को परिषद् का सभापति बनाकर उसे हमारे निर्धारित मार्ग से अलग कर छोड़ा जाय।

यदि गांधीजी परिषद् को अपना लें तो हमारा काम बन जाय। परन्तु यदि वह दिलचस्पी न लें और केवल अपने काम-भर को उसका उपयोग करें तो असहयोग और खादी का डंका बजाने तक ही उसकी उपयोगिता रह जाय, संघटन और 'गुजरात की अस्मिता' हवा में उड़ जायँ, और ग्राम-वासियों के साहित्य की प्रशंसा में हम साहित्य के जिस आदर्श का पालन

करते थे, उस पर चोटें पड़ती ही जायँ। अपने होमरूल के दिन मैं भूला नहीं था। परन्तु गांधी जी के नाम के सामने कैसे आया जा सकता है ?

मैंने एक धृष्टता की। गांधीजी को पत्र लिखकर समय माँग लिया।

गांधीजी के पास पहुँचा। बातचीत की "धृष्टता क्षमा कीजिएगा। परन्तु आप जैसों से ही कुछ प्रश्न स्पष्टतापूर्वक पूछे जा सकते हैं। आप सभापति बनेंगे तो शोभा की दृष्टि से परिषद् का कार्य सुन्दर हो जायगा; परन्तु विद्वानों का तेज अस्त होगा और उनके हृदय पर चोट लगेगी। परिणाम यह होगा कि न संघटन हो सकेगा, न शब्द-रचना के नियम बन सकेंगे, और 'जयरामजी की' करके हम अपने-अपने घर का रास्ता लेंगे।" फिर मैंने सारे बखेड़े का विवरण दिया और 'गुजरात की अस्मिता' की अपनी भावना समझाई।

गांधीजी ने कहा—"तुम्हारी बात ठीक है। अहमदाबाद में भी कोई पूछने को आये थे, उनसे मैंने इन्कार कर दिया था। चरखे से क्षण-भर के लिए अलग होता हूँ तो मुझे अपने प्राण निकलते से मालूम होते हैं। मुझे साहित्य की परवा नहीं है।

"केवल अन्य कामों में उपयोग किये जाने योग्य ही मुझे आवश्यकता है। (साहित्यकारों की तरह मैं उसके पीछे अपना समय नहीं बिता सकता और परिषद् के छोटे-छोटे प्रश्नों में मुझे दिलचस्पी नहीं है।) यह भी मुझे खबर है कि मैं जहाँ जाता हूँ, वहाँ दूसरों के लिए अनुकूलता नहीं रहती।"

मैंने कहा—"अहमदाबाद में आप और रवीन्द्र बाबू इकट्ठे हुए थे, इसलिए परिषद् के साहित्यकार फीके पड़ गए थे।"

गांधीजी ने कहा—"हाँ, तुमने मेरे प्रति बहुत विनय प्रदर्शित की। मुझ पर विश्वास न होता, तुम इस प्रकार न आते। तुम मुझे पत्र लिखना, मैं उत्तर दूँगा।"

मैंने कहा—"मैंने जो कुछ कहा, उसका बुरा न मानिएगा।"

गांधीजी ने कहा—"ज़रा भी नहीं। जिस प्रकार स्पष्टता और शुद्ध मन से तुमने यहाँ वकालत की, उस प्रकार तुम कोर्ट में करते हो तो तुम्हारे

समान उच्च प्रकार के वकील मुझे बहुत नहीं मिले ।"

फिर मैं उठ खड़ा हुआ और चलते-चलते मैंने कहा—"छः वर्षों बाद मैं आपसे मिला हूँ । जब अन्तिम बार मैं आपसे मिला था, तब आपने हमें होमरूल में से निकाल बाहर किया था ।"

गांधीजी का यह मुझे पहला अनुभव था। यदि मनुष्य स्वधर्मशील हो तो उसका आदर-मान करने को वह सदा तैयार रहते थे। मैंने गांधीजी को पत्र लिखा और तुरन्त उनका उत्तर आया—"परिषद् का सभापतित्व मुझे नहीं ग्रहण करना है ।" हमारा मार्ग अब सरल हो गया। हमने सर रमण भाई को सभापति बनाने का निश्चय किया ।

मेरी प्रेरणा देवी ने पीठ थपथपाई—

"गांधीजी से तुम मिल आए, यह सुन्दर हुआ। तुम्हें हमेशा हिम्मत से चोट करने की आदत है और इससे अधिकतर तुम्हारा मनचाहा होता है। किसी दूसरे की हिम्मत इस प्रकार तड़ाक-फड़ाक करने को नहीं होती। अब उनका जवाब आ गया होगा। यही मनुष्य ऐसे व्यवहार की कद्र कर सकता है। अब जिसे इस प्रश्न पर लड़ना हो, लड़ा करे ।" (१२-१२-२४)

२२ नवम्बर को मैंने परिषद् का प्रचार-कार्य प्रारम्भ किया। सर लल्लूभाई के सभापतित्व में होने वाली आम सभा में मैंने परिषद् के ध्येय उपस्थित किये—संघटन, स्थान, रचना और साहित्य-प्रकाशन। "प्रचलित साहित्य के आदर्श ग्रहण करना, विद्वानों और साहित्यिकों की प्रवृत्तियाँ व्यवस्थित करना, साहित्य-विषयक संस्थाओं को एक करना, पुराने और नये साहित्य का सम्मिश्रण करना, साहित्य, कला और जीवन की पुनर्घटन करना—यह कार्यक्रम यदि परिषद् और परिषद् मंडल स्वीकृत करे तो उसे जीवित रखने की कामना है। गुजरात को साहित्य, कला और संस्कार के मन्दिर की आवश्यकता है। गुजराती अस्मिता व्यक्त करने का सजीव साधन आवश्यक है। परिषद् को यह मन्दिर और साधन बनाना चाहिए ।"

उसी दिन मैं लिखता हूँ—

'आज परिवर्तित हुए 'स्वामी' ललित आये और कुछ भजन गा गए। फिर भोजन करके सो गया। छपा हुआ भाषण पढ़ गया और सभा में गया। लोक ठीक कहते थे। मैं ही मुख्य बोलने वाला था। भाषण पत्र के साथ भेज रहा हूँ। लल्लू काका ने कहा—ओहो! तुम तो सारा भाषण मुँह से बोल गए। उन्हें खबर नहीं थी कि लिखा हुआ दो बार पढ़कर मुँह से बोल जाऊँ तो लगभग अक्षर-अक्षर बिना देखे बोल सकता हूँ।'

वे दिन अब गए (१६५१)।

इसके बाद नरसिंहराव, शंकरलाल और मैं सांताक्रूज़ गये। नरसिंहराव से नया संघ बनाने की बातचीत की। उनका विचार ऐसा मालूम हुआ कि परिषद् को सब-कुछ दे देना ठीक नहीं है।

मैं अपने उत्साह में आकर सांताक्रूज़ में ली हुई जमीन और संसद का प्रेस परिषद् को दे देना चाहता था, परन्तु लीला और मेरे मित्रों को परिषद् के संघटन में विश्वास नहीं था। मुझे समझदार मित्र न मिले होते तो मैं कभी से भिखारी बन गया होता।

इस समय विरोधी पक्ष में विजयराय मिल गए और 'कौमुदी' में मुझ पर आक्षेप करने लगे। निर्बल शरीर, विनम्र-वृत्ति, और कुछ कर जाने की उनकी आकांक्षा, इन तीनों ने उन्हें कभी मेरा साथ देने को और कभी सामना करने को झुकाया था।

यह स्वर प्रकट होने लगा कि मैं परिषद् को विनष्ट कर देना चाहता हूँ।

प्रचार के लिए चन्द्रशंकर और मैं बड़ोदा, सूरत और अहमदाबाद हो आए। इस विषय की टिप्पणियाँ पहले दिये गए पत्रों में आ चुकी हैं। चन्द्रशंकर प्रचार-कार्य के लिए भावनगर भी हो आए।

रमणीयराम ने विरोधी पक्ष का नेतृत्व ग्रहण किया। कार्यवाही शुरू हुई। रमणीयराम की स्थिति बुरी हो गई। प्रत्येक प्रस्ताव का विरोध किया और प्रत्येक बार हारे।

उपसभापति के लिए उन्होंने विभाकर तथा नगीन भाई के नाम सूचित

किए। ५ के विरुद्ध २६ मतों से यह प्रस्ताव अस्वीकृत हो गया। मैंने न्या० मू० सर लल्लूभाई और भूलाभाई के नाम उपस्थित किये। केशवप्रसाद ने लल्लूभाई के लिए जोर दिया। मैंने उनसे बहुत विनय की, उन्हें बहुत समझाया। वह न माने, अतएव मैंने कहा—"बताइए, कितने उपसभापति चाहिएँ?" फिर मजाक उठ खड़ा हुआ और १७ उपसभापति बने—गुलाबचन्द्र, मकनजी, जीजीमा, सुशीला बहन और सकीनाबाई तक। बड़ी अकुलाहट पैदा हो गई; परन्तु गुजरात मण्डल को मैं आगे बढ़ने नहीं देना चाहता था। सभापति का चुनाव १८ को रखने के लिए मैंने सुझाव दिया। २ के विरुद्ध ४१ मतों से सुझाव पास हो गया। दो विरोधी मत रमणीयराम और नगीनभाई के थे।

ठाकुर आये ही नहीं। उनकी युक्तियाँ असफल हो गईं।

परिषद् को सफल करने के लिए मैंने कुछ भी उठा न रखा था। कवि नानालाल १६०६ में जब ठाकुर से रूठ गए थे, तभी से परिषद् से भी रूठे हुए थे। उन्हें मनाने का प्रयत्न किया गया। चन्द्रशंकर के साथ मैं उनसे मिलने गया और सब बातें भूलकर परिषद् में योग देने की विनती की। दो वर्षों से यह मुझ पर गुस्सा हो गए थे, अतएव कुछ कटु शब्द कहने के बाद हमेशा की तरह गर्व, हठ और अभिमान—"मैं कैसे आऊँ? परिषद् बुलाएगी तो आऊँगा; परन्तु परिषद् को मेरा न्याय करना चाहिए।"

मैंने कहा—"गुजरी बातों को जाने दीजिए। आपकी और ठाकुर की न पटी, यह पुरानी बात हो गई। अब तो ठाकुर भी परिषद् से नाराज़ हैं।"

ठाकुर का नाम आते ही कवि की कमान छूट गई—"तुमने सब बातें भली भाँति जाने बिना मेरी और ठाकुर की चर्चा कैसे छेड़ी? तुम अपना उत्तरदायित्व नहीं समझते।" फिर उन्होंने ठाकुर पुराण शुरू कर दी और हम खाली हाथ लौट आए।

बटुभाई उमरवाड़िया की तेजस्वी शैली इस समय मुझ पर पुष्प-वर्षा करने लगी। 'गुजरात के महान् जन' नामक लेख लिखकर मुझे ऐसा शिखर पर चढ़ाया कि जिससे कुछ वैर-भाव बढ़ गया। लोगों ने समझ लिया कि ये

लेख मैंने लिखवाए थे; परन्तु सच बात यह थी कि मैं अनिच्छापूर्वक उन्हें 'गुजरात' में छापता था। पुराने सम्बन्ध से उसे मैं छोटा भाई समझता आया था। यह मेरे साहित्य-सम्प्रदाय का एक प्रखर लेखक था। इसका मित्र-मण्डल भी निकट था; अतएव मैं उसे छोड़ नहीं सकता था।

विजयराय भी 'कौमुदी' के विषय में बड़े संकट में थे। उन्हें भी सहायता की जरूरत थी। मुझे विजयराय के लिए स्नेह और आदर दोनों थे।

बटु भाई आया। उसके साथ तीन घण्टे बातें हुईं। उसने सरकारी नौकरी कर ली है, और कानून पढ़ना चाहता है। उसने कुछ रुपया उधार माँगा। मैंने इन्कार किया। आखिर इस प्रकार बातें तय हुईं। इसे 'गुजरात' की साहित्य-विषयक प्रवृत्ति सँभालनी चाहिए; साहित्य के इतिहास की तैयारी पर ध्यान देना चाहिए। विजयराय समालोचना लिखें और धीरे-धीरे 'कौमुदी' को भी सहयोग दें। विजयराय को इतिहास के लिए 'गोवर्द्धनयुग' शुरू करना चाहिए।

वि० कहते हैं—"मुन्शी के पास जाकर मैं 'हिप्नोटाइज' हो जाता हूँ।" कल यह और विजयराय भोजन के लिए आएँगे।

"ब० कुछ भयंकर प्राणी है। परन्तु इस समय आदमियों के बिना हमारा काम नहीं चल सकता, इसलिए इनका लाभ छोड़ना नहीं चाहिए। फिर तुम्हारी चर्चा करते हुए मैंने कहा—'लीला बहन को वह 'Reserved' वाली बात पसन्द न आई। ब०—'तो मुझे क्यों न लिखा?' मैंने कहा—'यह भी कहीं लिखा जा सकता?' तुमने अनुमति के लिए लेख भेजा है, अतएव इन्कार किया जा सकता है?' "

"आज 'गुजराती' में हम पर अपरोक्ष रूप से आक्षेप किया गया है, वह पढ़ने योग्य है।"

"बटुभाई और विजयराय आये, मिले; परन्तु बटुभाई से व्यवस्थित काम नहीं हो सकता और विजयराय को मेरे साथ काम करना गुलामी मालूम होता है, इसलिए इस बातचीत का कोई परिणाम नहीं हुआ।"

२३ को सभापति के चुनाव के लिए स्वागतकारिणी समिति की बैठक

हुई। प्रत्येक सभा या परिषद् का आकर्षक अवसर यही दिन होता है, कारण कि चुनाव न हो तो सर्वसाधारण, उदीयमान साहित्यकार और अपने को साहित्यकार बताने वाले अखबारनवीस—इन तीनों को कौन पूछे ?

वातावरण में बहुत गरमागरमी थी, विरोधी पक्ष गांधीजी के लिए दृढ़ था। हमारा पक्ष विचार कर रहा था कि गांधीजी के लिए प्रस्ताव आये तो क्या किया जाय ? मनहरराम अकेले सब-कुछ जानते थे, इसलिए सूरती मूँछों पर बल चढ़ाते हुए बैठे थे।

रमणभाई का नाम सूचित किया गया। रमणीयराम ने गांधीजी का नाम उपस्थित किया। मैंने बहुत धीरे जेब में से गांधीजी का पत्र निकाल-कर पढ़ सुनाया। गरम वातावरण बरफ की तरह ठण्डा हो गया और रमणभाई सर्वसम्मति से चुने गए।

परिषद् का संघटन हो गया और उसे रजिस्टर्ड कराने की तजवीज भी हो गई। परिषद् के सभापति रमणभाई चुने गए। ठाकुर को विश्वास हो गया कि आखिर मैंने उनका सोचा न होने दिया। अब उन्होंने मुझे मेरी अल्पता का भान कराना शुरू किया।

परिषद्-कांड से पैदा हुए अन्तर को दूर करने और दूसरे प्रकार व्यक्तिगत सम्बन्ध बनाए रखने को मैंने अपनी एक पुस्तक की भूमिका लिखने के लिए उनसे प्रार्थना की। उसका मुझे निम्नलिखित उत्तर मिला—

"भूमिका के लिए मुझे क्षमा कर दो। एक-दूसरे के लिए हमारा जो भाव है, वह इससे न तो बढ़ेगा, न घटेगा। तुम अनेक विचारों और दृष्टि बिन्दुओं को केवल पतंग की तरह उड़ा देखते हो, यह भी मैं समझता हूँ। और ऐसा अवसर तुम्हें मिले कि कुछ पुरानी बातें, जानी-मानी हुई बातें, यदि कुछ नये ढंग में उपस्थित करने से दुनिया झुक सकती है तो उसे कभी हाथ से नहीं जाने देते। और उसमें भी 'What is true is not new. What is new is not true' हो जाय, तो उसकी तुम्हें परवा नहीं है। ऐसी सूक्ष्मता से देखने के लिए दुनिया को फुरसत नहीं है। तत्क्षण नहीं, तुम्हारी यह बात सच्ची भी होती है। ऐसे कई प्रकार तुम्हारा 'realism' सफल

हो और 'abstract idealism' और 'ठनठनपाल', कोई अयुक्तिक भी नहीं है। तात्कालिक विजय का तुम्हें मोह है। यह स्थायी नहीं। स्थायी क्या है ? ऐसा वितंडावाद-भरा प्रश्न खड़ा करने की तुम्हारी आदत है। तुम्हें अपने, सही या गलत, हुल्लड़ के प्रति अरुचि नहीं है; मुझे दुनिया में सफल होना है, इसलिए उसमें बाधक होने वाली delicacy सच्ची beauty का लक्षण नहीं हो सकती। विजयवत् सौंदर्य ही सौंदर्य है, और विजय-विरोधी तमाम तत्त्व सौंदर्य के मत से विरोधी''''ऐसे तुम्हारे आचरण मालूम होते हैं। Artistic conception में half truth का passionate दर्शन कुछ बल देता है और कुछ प्राथमिक सरलता ला देता है; इसलिए half truth is half error तुम्हें पहले से ही कम दिखलाई पड़ता था। और यह न देखने की आदत तुमने बनाई है, तुम्हारे संयोगों के कारण बनी है, meditation की आदत तुम्हें पड़ी ही नहीं। तत्काल concentration से सूझे, जो दाव पड़े, उसी से खुश होना तुम्हारी प्रकृति हो गई हो—यह भी हो सकता है।

"हाँ, भाई लाभ के पत्र में जो लिखा है, उसमें अधिक स्पष्टता के लिए इतना परिवर्द्धन बस है। तुम्हारा निबन्ध-संग्रह जब प्रकाशित होगा, और तब मुझे लिखने की इच्छा होगी तो मैं स्वतन्त्र रूप में लिखूँगा और छपवाऊँगा। जब कुछ constructive कहने योग्य सूझता है, तभी मैं लिखता हूँ। केवल repetition या खण्डन में मैं अपनी शक्ति (?) को प्रदर्शित करने की परवाह नहीं करता। सौंपा हुआ काम मैं करता ही नहीं, उसका एक कारण यह है। 'गुजरात' के लिए तो इच्छा ही नहीं होती। तुम्हारे पूज्य और चन्द्रशंकर आदि बहुत-सों (नरसिंहराव) के स्मरण-मुकुर से मुझे उन पर कोई भाव ही नहीं रह गया है, यह तुम जानते हो। उसे लौटाने के लिए मुझे उसमें कोई सुधार अभी तो दिखाई नहीं पड़ता। Illustrated light literature के लिए मेरे समान थोड़े से लोगों की रुचि का आदर करना ठीक नहीं है। उसका लक्ष्य pit रंजन करना ही हो सकता है, यह मैं समझता हूँ। तथापि जीवन-कलह में डटे

रहने की प्रवृत्ति भी ऐसी होनी चाहिए, जिससे किसी प्रकार भी साहित्य-कला पर दाग कम आए। तुम जैसे व्यक्ति के सहयोग और नेतृत्व से इस महत्त्वपूर्ण विषय की रक्षा होगी, मेरे जैसे व्यक्ति की यह आशा अभी तक तुमने पूरी करके नहीं दिखाई। 'बीसवीं सदी' के कुछ दुष्ट और अधम दृष्टि-कोण 'गुजरात' में चले आ रहे हैं—चले ही आ रहे हैं। उपर्युक्त प्रकार में कुछ अन्तर है। अन्दर का तत्त्व तो ज्यों-का-त्यों है, या भ्रष्ट होता जा रहा है। हाजी ने अपने व्यक्तिगत झगड़े अपने मासिक में कभी नहीं रखे थे। यह बिलकुल सही है। उन्होंने एक से अधिक योग्य लेखकों को प्रकाश में ला रखा, यह भी सही है।

"Reserve के अमुक-अमुक लक्ष्यों की रक्षा होनी ही चाहिए। आये लेखों का चुनाव और अमुक लक्ष्य को लेकर अमुक प्रकार के लेखकों और विषयों को उत्साह देते ही रहना चाहिए। यही सम्पादक का सम्पादकत्व है।

"You have not time enough to be this. Labh has not the ability enough. विजयराय left because he could not get on with you and Labh. You must discover some one else competent enough. इस समय की परिस्थिति के लिए अन्य उपाय है ही नहीं। Labh may have acquired the technique of running a Press, I hope. If so, confine him to that and some of your other work, personal and public. 'गुजरात' by itself must have a whole time man, independent of लाभ शंकर। All this is written under the assumption that some of the worst and most offensive features of 'गुजरात' are there only as long as you cannot replace them by something better.

' "सेठ का उपदेश बाजार तक' यह मैं जानता हूँ, तथापि लिख जाता हूँ—तुम पर जो भाव है उसके कारण तुममें श्रद्धा है, इसलिए; साहित्य और कला के प्रचारक की भाँति तुम्हारी प्रतिष्ठा और अधिक अच्छी हो जाय, इस चाह से। और हमारे प्रयत्नों में तुम मदद करो, इस प्रकार पलट-

कर मुझसे कहना ही मत ।

साथ वाला पत्र लीला बहन को दे देना ।

बलवन्तराय ठाकुर का सलाम ।

(२४–१२–२५)

इस प्रकार वर्णन किये गए मेरे दोष मुझमें नहीं थे—यह मैं नहीं मानता । इस समय और इस प्रकार की आलोचना से मैं सुधर जाऊँगा, यह ठाकुर कभी नहीं मान सकते । फिर लिखने की क्या आवश्यकता ? इस पत्र में मुझे आखिरी नोटिस मिल गया—मैं ठाकुर के मन से उतर गया हूँ ।

२ अप्रैल निकट आने लगी । परिषद् विस्मृत हो गई । चारों ओर से मुन्शी को फटकारने के लिए अनेक पक्ष इकट्ठे हो गए ।

हमारे विवाह के बाद २०—बम्बई आया और 'बावला हत्याकांड' की-सी झंकारें आने लगीं । इसमें सच क्या है और झूठ क्या, यह ईश्वर जाने; परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें जान की जोखिम नहीं थी ।

गुजराती से अनजान मुसलमानों को 'गुजरात' में प्रकाशित हो रही मेरी 'स्वप्नद्रष्टा' का एक छोटा-सा वाक्य हाथ लगा । उसमें ईसा और मुहम्मद की मैंने आदरपूर्वक तुलना की थी । अंग्रेजी पत्रों में ये चर्चाएँ आईं कि इससे इस्लाम का अपमान हुआ है, और मुस्लिम जनता खौल उठी है ।

परिषद् और हमारा विवाह—दोनों चीजें इकट्ठी हो गईं । 'मारो··· मारो'····सुनाई पड़ने लगा ।

'धरा धूजने लगी औ' उथलपुथल चहुँ ओर'

ऐसा हो पड़ा ।

परिषद् भंग हो जायगी, और हम सभापति को जो पार्टी देने वाले थे, उसका बहिष्कार होगा, यह सन्देश भी आते रहे ।

आक्षेपों की जरा भी सीमा न रही । राक्षसी महत्त्वाकांक्षा से मैं गुजरात को गुलाम बनाना चाहता हूँ । छोटी आँखें और 'वामन' शरीर से मेरी दुष्टता स्पष्ट है । मैं 'पूँजीवादी' हूँ । 'नेपोलियन' की तरह महत्त्वाकांक्षी हूँ, 'अत्याचारी डायर' की पंक्ति का हूँ; 'अनीति' का अखाड़ेबाज हूँ । 'साहित्य-स्वातंत्र्य का

विध्वंसक' हूँ। 'गुलामों का मालिक' हूँ। अब और क्या बाकी रहा? साहित्य के 'सेंट हेलेना' में मुझे भेज देना चाहिए। 'जर्जरित अल्पता' मुझे वरण करेगी। 'भावी जनता का शाप' और 'भावी साहित्य का पुण्य प्रकोप' मैंने बटोरा है। यह स्पष्ट था कि सारे नाटक में मैं 'दुष्ट-बुद्धि' था।

जो मेरी सहायता करें वे 'किराये के टट्टू' या 'गुलाम'। मुझसे जो सहमत हो, वह 'प्रभावित' या 'स्वातंत्र्यहीन'। मैं किसीसे सहमत होऊँ, तो 'झूठा'। मैं 'समाधान' करना चाहूँ, तो मैं हारा हुआ।' प्रत्येक पद की आकांक्षा रखने वाला, और वह न मिले तो धमकी देने वाला साहित्यकार, स्वातंत्र्य-रक्षक, निष्पक्षपात! जो लीला पहले विदुषी थी उसने मुझसे ब्याह कर लिया, तब फिर क्या कहा जाय? कृष्णलाल काका को तो मैं धोखा ही देता रहता हूँ।

चन्द्रशंकर और मुझ पर आक्षेप था कि हम परिषद् के धन से प्रचार-कार्य करते हैं। बाद में जब पता लगा कि यह धन मैं खर्च करता हूँ, तब चन्द्रशंकर से कहा गया था कि "तुम पराये धन से सफर करते हो।" चन्द्र-शंकर ने जवाब दिया—"यह बात मेरे और पैसा खर्च करने वाले के बीच की है।"

ठाकुर के सिवा समस्त अग्रगण्य विद्वानों द्वारा सूचित सुधार संघटन में मैंने स्वीकृत कर लिये थे, तो भी संघटन साहित्यकारों की शृङ्खला थी। मैं गांधी-द्वेषी; गांधीजी ने सभापति बनना अस्वीकृत कर दिया तो उनकी पादुका रखकर मुझे काम चलाना चाहिए था।

"इस ज़माने में जो गांधी-भक्त न हो, वह अधम और देशद्रोही।" ऐसा वातावरण देश में फैला हुआ था। अपना दृष्टिकोण मैंने गुजरात के समक्ष उपस्थित किया था—

"उनके (गांधीजी के) दृष्टिकोण और मेरे बीच—आदरपूर्वक कहूँ तो—बहुत अन्तर है। उनके बहुत से जीवन मन्त्र, न जाने अपने किस दुर्भाग्य से मैं अपने हृदय में नहीं उतार सका। और तन, मन और धन कुछ भी 'नारायण' को अर्पण करने की मुझे स्वभावजन्य अरुचि है। फिर भी

गुजरात ही का क्यों, समग्र भारत के ज्योतिर्धर के रूप में, प्रेरक बलों के सवितानारायण के रूप में, गुजराती गद्य के सच्चे स्रष्टा के रूप में, उनका स्थान मैंने अपने लेखों में स्पष्ट कर दिया है। सबकी तरह वे एक युग के नहीं हैं। उनकी कीर्ति सनातन है।"

बहुत से लोगों को यह बात अक्षम्य मालूम हुई। मैं उस समय गांधी-भक्ति का आडम्बर भी कर सका होता तो मेरा जीवन भिन्न रूप में ही लिखा जाता। अपने दुर्भाग्य से मैं भी अपने 'स्वधर्म' को समझने का अहम् विस्मृत न कर सका था।

सच तो यह था कि मैं परिषद् का 'कुली जनरल' था, परन्तु यह सच है कि यह तूफ़ान मुझे असफल करने के लिए था। और मैं यह निश्चय कर बैठा था कि मेरा प्रयत्न प्राण जाने पर भी सफल होना ही चाहिए।

परिषद् का आरम्भ होने को एक घण्टा रहा था कि दो मुस्लिम लेखकों ने आकर कहा—'स्वप्नद्रष्टा' में आपने पैग़म्बर मुहम्मद के विषय में जो उल्लेख किया है, उससे मुस्लिम जाति नाराज़ हो गई है। २०० मुसलमान पायधुनी पर इकट्ठे हुए हैं। आप इस वाक्य को निकाल देने का लिखित वचन दें, वरना वे लोग यहाँ चढ़ आएँगे और परिषद् का क्या हाल होगा, हम नहीं कह सकते। हम मित्र-भाव से यहाँ आये हैं।"

मैं सचेत हो गया। 'गुजरात' में क्रमशः छप रहे उपन्यास के महीनों पहले व्यवहृत एक शब्द पर पायधुनी के मुसलमानों का जी दुखे, वे सब अभी तक इतने दिन बैठ रहें और परिषद् शुरू होने पर ही उसे भंग करने का मौका खोजें—इसमें मुझे अनेक मित्रों का हाथ दिखलाई पड़ा।

मुझे सबसे पहले पुलिस कमिश्नर को फोन करने की इच्छा हुई और यह विचार आया कि जो भी हो वह सहा जाय, पर यों झुकने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु हॉल में बड़ी शानदार भीड़ इकट्ठी होने लगी थी। उसमें गड़बड़ मचे तो परिषद् के लिए किया गया मेरा सारा काम नष्ट-भ्रष्ट हो जाय। अधमता का कड़वा घूँट पीकर मैंने वाक्य बदलने की स्वीकृति लिख दी। परन्तु आज भी मेरे हृदय में वह काँटा चुभता रहता है।

हिन्दुओं को अधमता का स्वाद चखाते ही जाने की पद्धति पर एकत्र भारत के मुसलमानों के अनेक सामुदायिक प्रयत्न रचे गए थे, यह कौन नहीं जानता ? और आज जब कभी भारत को ज़रा भी किसी काम में असफलता होती है, तब पाकिस्तान में क्या विजयोत्सव नहीं मनाया जाता ?

परिषद् गुजरात की शोभा बढ़ाने वाले अग्रगण्य और विद्वान इकट्ठे हुए थे। सुन्दर संगीत से उसकी शुरुआत हुई। संगीत नरसिंहराव और मनहरराम ने तैयार कराया था, फिर उसमें क्या कमी रह सकती है ? इसके लिए 'खबरदार' ने अपना 'ज्याँ-ज्याँ बसे एक गुजराती, त्याँ सदाकाल गुजरात' रचा था। मनहरराम ने अपना सुप्रसिद्ध 'गुर्जरी गीर्वाण का जय कीर्तन' रचा था। अगले दिन उन्होंने मुझे यह बताया। उसमें दो पंक्तियाँ यह थीं—

'नानालाल तणा मृदु कर थी
ललित बनी शी लटकाली।
गोवर्धन, गांधी ने कनैये
कीधी समृद्धिशाली।
जय गाओ, जय गाओ !

मैंने कहा कि मेरा नाम निकाल दो। मनहरराम चिढ़ गए। बोले—"क्या तुम्हें गाली देने वाले को ही अपनी राय देने का अधिकार है ?" इसी समय नरसिंहराव बहुत गरम होते हुए आये—"जीवित साहित्यिकों के नाम क्यों इसमें दिये ? निकाल दो अभी !" मनहरराम अधिक उग्र हो पड़े। मैंने ज्यों-त्यों करके झगड़ा खत्म किया। दो पंक्तियाँ निकलवा दीं। परिणाम यह हुआ कि जीवित साहित्यिक मिट गए, मृत अमरत्व पा गए। और साथ ही गोवर्धनराम को भी सदा जीवित समझकर अलग कर दिया।

कृष्णलाल काका ने अभिनन्दन में मुझे क्या शिरोपाव दिया—'सर्व-भक्षी मुंशी और आँधी के वेग-सी उनकी स्वरित गति।' मित्रों और विरोधियों ने अपनी वृत्ति के अनुसार उसका अर्थ लगाया। रमणभाई के आदि वचन की भी प्रशंसा हुई, परन्तु वह बीमार थे और उनका यह कार्य अधिक-

तर कृष्णलाल काका और पट्टनी साहब ने किया ।

विषय-समिति में गड़गड़ाहट हुई । ठाकुर और मेरे बीच भी प्रत्यक्ष झड़प हो गई । उन्होंने औचित्य का पालन किया और परिषद्-मण्डल का प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास हो गया ।

कवि नानालाल ४ तारीख को बम्बई आये । यह परिषद् से रूठे हुए थे, इसलिए अनेक भक्तों के हृदय रो पड़े । इन सबकी इच्छा का आदर करके हमने मनहरराम को उन्हें निमन्त्रित करने के लिए भेजा । कवि गरम हो पड़े और कहा—"मुझे निमन्त्रित करने के लिए परिषद् प्रस्ताव करे, तब मैं विचार करूँगा । परिषद् को मेरा न्याय करना ही चाहिए ।" सन्तोष-जनक रूप में पूर्ण हो रहे समारम्भ को पुराने झगड़े के लिए न्याय-सभा के रूप में परिवर्तित करने की किसी की इच्छा नहीं थी । अतएव अन्त तक परिषद् में नानालाल नहीं पधार सके ।

अन्तिम दिन विघ्नसन्तोष फूट पड़ा । संघटन के अनुसार परिषद् को कार्यकारिणी-समिति के सदस्य चुनना था । यह प्रस्ताव मैंने उपस्थित किया, इसलिए चार-पाँच जने खड़े हो गए, जिनमें रमणीयराम मुख्य थे । कुछ क्षण के लिए होहल्ला मच गया और लोगों में गड़बड़ी मच गई । वयोवृद्ध अम्बालाल भी उछल पड़े । मतपत्र तैयार थे, परन्तु उनकी किसे परवाह थी ? चुने जाने वाले नामों की वर्षा होने लगी । सारा वातावरण उच्छृङ्खलता से खलबला उठा । आखिर सर प्रभाशंकर ने रास्ता निकाला और सात सदस्यों को चुनने का कार्य सभापति को सौंपा गया ।

जो भाई परिषद् को ४०,०००) देने वाले थे, वह यह तूफ़ान देखकर चले गए ।

शाम को हमारा स्नेह-सम्मेलन सुशोभित हो उठा । परिषद् के सफल होने से सब प्रसन्न थें ।

प्रदर्शन, परिषद् और निर्णयों की प्रशंसा हुई । साहित्य के महारथियों और प्रतिष्ठितों ने संसद की कद्र की । ठाकुर ने सर लल्लूभाई शामलदास द्वारा कहलवाया कि अर्थ-कमेटी का धन और उसकी पुस्तकें वे परिषद् को

सौंप देंगे।

परिषद् ने मुझे उपसभापति चुन डाला। विजयराय ने लिखा कि दस वर्ष तक परिषद् मुंशी के हाथ में रहेगी। आज छब्बीस वर्ष तक मैंने उसकी सेवा की है। इन वर्षों में गुजरात की अस्मिता, महागुजरात की भावना, गुजरात की युनिवर्सिटियाँ और भारतीय विद्याभवन की मूल प्रेरक होने का गर्व परिषद् को प्राप्त हो सकता है।

मैंने यह मुफ्त का सिरदर्द क्यों मोल लिया? इतने वर्षों बाद यही जवाब सूझता है—गुजरात की अस्मिता विकसित करने का निमित्त हमें बनना था, उसमें परिषद् की पुनर्व्यवस्था आवश्यक थी।

इतना अधिक विरोध किसलिए हुआ? ठाकुर संघटन नहीं करने देना चाहते थे। अम्बालाल का द्वेष नहीं समाता था। रमणीयराम का उथला स्वभाव रंग पर चढ़ा था। ये कारण केवल ऊपरी थे।

एक कारण मेरा काम करने का ढंग था। एक ध्येय के निश्चित होने पर, उसे पकड़ने को, सीधा, आवेश के साथ, अधीरता से, किसी की परवाह किये बिना, आँधी के वेग से दौड़ पड़ता हूँ। इससे लोगों को मेरा सहायक बनने की इच्छा हो जाती है। दूसरा कारण, काका ही के शब्दों में, मेरा 'सर्वभक्षीपन' था—सभी मैं करूँ, सभी मैं व्यवस्थित करूँ, सब-कुछ मेरे ढंग से हो, सब जगह 'मैं' दिखलाई पड़ना चाहिए। सभी सफल होना चाहिए, इस प्रकार की आकांक्षा। कृष्ण भगवान् ने 'अहंकार विमूढ़ात्मा कर्ताहमितिमन्यते' कहा, तब उनकी दृष्टि मुझ पर ही होगी।

परन्तु सच्चा कारण इससे भी गहन था।

जब से पश्चिम का सम्पर्क हुआ, तब से समस्त भारत में दो प्रचण्ड बलों का संघर्ष चलता आया है। एक सातत्य का बल, दूसरा पुनर्घटन का।

गुजराती साहित्य में सातत्य के बल से एक साम्राज्य स्थापित हुआ था। प्रखर विद्वत्ता, प्राचीन प्रणाली, पाश्चात्य संस्कारों से घृणा और पुराने आचारों पर नये अर्थ आरोपित करने की शक्ति—सातत्य के बल के इन लक्षणों पर यह साम्राज्य स्थापित हुआ था। मनसुखराम, मणिभाई और

गोवर्धनराम, तनसुखराम, कमलाशंकर, केशवलाल, हरगोविन्ददास काका और आनन्दशंकर, इच्छाराम और 'गुजराती' ये सब साम्राज्य के स्तम्भ थे। सभापति अम्बालाल नड़ियादी समाज-स्वरूप थे और 'गुजराती' उनका थाना था।

इस साम्राज्य का सामना करने वाले 'बागी' समझे जाते। 'सुधरे हुए' पतित माने जाते, पाश्चात्य संस्कारों में रँगे हुए को 'गिरा हुआ' समझा जाता। नर्मद जीवन-भर बागी रहे। नरसिंहराव अकेले योद्धा की तरह जीवन-भर लगे रहे। रमणभाई ने अपने धन्धे के कारण प्रतिष्ठा पाई, परन्तु इस साम्राज्य ने उन्हें स्वीकृत नहीं किया।

बिना जाने मैं मूल्य विनाशक हो पड़ा। पहले नड़ियादी समाज ने मुझे स्वीकृत किया। मैं विद्वान् नहीं, मेरा संस्कृत का ज्ञान अत्यन्त परिमित। 'सरस्वतीचन्द्र' को गत युग की गाथा कहने की धृष्टता मैंने की थी। विचारशीलता और बुद्धिमत्ता के बदले उर्मिलता, रंगप्रधान दृष्टि, अपरिचित शैली, अनुत्तरदायित्वपूर्ण ढंग और अधीर कल्पना-मात्र मेरी समृद्धि थी। 'सरस्वतीचन्द्र' और अमर गीता के बदले जिस समाज ने मुझे अपनाया, उसका मज़ाक उड़ाने में मुझे मजा आया, फिर भी उदारता से उसने मुझे सहन किया। मैंने उपन्यास और कहानियाँ लिखीं—'कामचलाऊ धर्मपत्नी' जैसी बेशर्म। मंजरी और तनमन ने हृदय चुरा लिया। मुंजाल और काक ने गुजरात-भर में गर्व प्रसारित किया। 'गुजरात' तथा संसद द्वारा मैंने एक समाज स्थापित किया। हरगोविन्ददास, केशवलाल, नरसिंहराव, रमणभाई, सर प्रभाशंकर, सर मनुभाई, सर लल्लूभाई सामलदास, मट्ठभाई तथा हीरालाल ने परिषद् स्थापित करने में संसद की सहायता की। साम्राज्य के अवशेष रह गए, ठाकुर, अम्बालाल और रमणीयराम का साम्राज्य समाप्त हो गया।

परिषद् गुजराती अस्मिता का मन्दिर बनी। जीवन का उल्लास, प्रणालीवाद का भंग और रसास्वाद का अधिकार बग़ावत की घोषणा-मात्र न रहे, बल्कि गुजराती साहित्य के स्वीकृत मूल्य हो गए। इस दृष्टि से बम्बई की यह परिषद् एक सीमा-स्तम्भ बन गई।

१६

नया मंत्र-दर्शन

कई मित्रों के साथ मैं पत्रों में साहित्य की चर्चा किया करता था। और ऐसे कई साहित्य-चर्चा करने वाले पत्र अविस्मरणीय हैं। मैंने कान्त कवि से 'गुजरात' के लिए कविता लिखने को कहा, उसके जवाब में उनका निम्न-लिखित पत्र आया—

प्रियदर्शन भाई,

आपके ता० ९ के ममत्वपूर्ण पत्र का उत्तर देने में विलम्ब हो गया, इसके लिए क्षमा कीजिएगा। सद्भाव स्वाभाविक स्रोत (निर्झर) है। चन्द्र, सूर्य तथा गुलाब की ओर हमें सद्भाव होता है। 'कलापी' के पत्र ठाकुर के आग्रह से मैंने उन्हें भेजे थे। मैंने तो फिर से उन्हें देखा तक नहीं। आजकल 'पूर्वालाप' छप रही है, उसकी ही चिन्ता रहती है। पत्रों का काम हाथ में लूँगा, तब 'गुजरात' को अमुक नमूना पहले ही दे सकूँगा। संसद के उपमंत्री का आज एक पत्र आया है। 'रोमन स्वराज्य' का नाटक आपको दिया है, वह पूर्ण है। 'जेल जाने से स्त्रियाँ भाग जाती हैं।' यह अन्तिम दृश्य है। वहीं 'समाप्त' लिखना है। कई पन्ने कम होते मालूम होते हैं, यह अनुमान ठीक नहीं है। भाई विजय-

राय को आप यह कह दीजिएगा। आशा है, आप प्रसन्न हैं।

—मणिशंकर का प्रणाम।

'कान्त' जब तक जिये, तब तक मुझे अत्यन्त स्नेहपात्र बनने का अधिकार दिया—यह मैं लिख गया हूँ।

दुर्गाशंकर शास्त्री सदा से सौम्य, स्नेह-परिपूर्ण और विद्या-विलासी रहे हैं। इन्होंने गुजरात के तीर्थ-स्थानों पर एक लेखमाला 'गुजरात' के प्रथम वर्ष से ही शुरू कर दी थी। इसके पश्चात् जब मैं गुजरात के इतिहास की सामग्री इकट्ठी कर रहा था, तब वह उसमें भी मार्ग-निर्देश करते थे। १६४३-४४ में 'इम्पीरियल गुर्ज' नामक गुजराती इतिहास मैंने लिखा। उस समय भी बहुत मार्ग-दर्शन किया। संसद के यह पहले से ही स्तम्भ थे। इस समय भारतीय विद्याभवन के भी स्तम्भ रहे हैं। यह आदर्श ब्राह्मण-जीवन में विद्या-उपार्जन की उनकी चाह के सिवा और कुछ नहीं। तीस वर्षों के उपरान्त भी हमारी मैत्री जरा भी क्षय नहीं हो पाई।

परन्तु वह गुजराती में लिखें, उसकी कीर्ति ही क्या? बिसनजी माधवजी के व्याख्याता की भाँति युनिवर्सिटी ने उन्हें निमंत्रित किया, तब ऐसा रूप हो गया, मानो व्यक्तिगत कृपा मैंने माँग ली हो। वह गुजरात के सिद्धहस्त इतिहासकार हैं, यह गुजरात के बाहर किसी को खबर नहीं है।

१६२३ में जब यह भड़ोंच गये थे, तब वहाँ के पुराने इतिहास के विषय में एक पत्र लिखा था। इस विद्वान् की पुरातत्व तृषा इस पत्र की सूचनाओं में मिलती है।

पुराना बाजार, भड़ोंच

ता० १६-२-२३

प्रिय भाई,

बीस दिन से जलवायु-परिवर्तन के लिए भड़ोंच आया हूँ। जब-जब भड़ोंच आता हूँ, तब-तब आपका स्मरण बारम्बार होता है। आपके घर के समीप ही रहता हूँ।

भड़ोंच, कदाचित्, गुजरात में पुराने-से-पुराना नगर होगा। जिन

टेकरियों-टीलों पर मकान न हों, उनको प्राचीन खोज-विभाग के ढंग से खोदकर देखा जाय तो अब भी नई ऐतिहासिक जानकारी प्राप्त हो सकती है, यह उन्हें ऊपर से देखने पर मालूम होता है। पर यह सम्भव नहीं मालूम होता कि यह महान्-कार्य सरकारी खोज-विभाग हाथ में ले······

नर्मदा के किनारे-किनारे शिव-मन्दिरों को देखते हुए भड़ौंच के मध्यकालीन धार्मिक इतिहास के विषय में निम्नलिखित अनुमान हुआ—गंगनाथ से आरम्भ करके नदी के मुख की ओर जाते हुए जितने शिव-मन्दिर आते हैं, उनका किसी का भी स्थापत्य प्राचीन काल का नहीं है। सब मन्दिर दो-सौ वर्ष के अन्दर बने हैं। इस पर से लगता है कि जो सब हिन्दू मन्दिर मुसलमानों के आक्रमण के समय टूट गए थे, वे ब्रिटिश शान्ति-काल में फिर से बनाये गए हैं। अन्दर के शिव के बाण प्राचीन हैं।

किसी शिव-मन्दिर में प्राचीन लेख अभी तक मेरे देखने में नहीं आया। यद्यपि पाशुपत शैवधर्म के मूल आचार्य लकुलेश का लाट में अवतरण पुराणों और लेखों से स्पष्ट है, तथापि लकुलेश की मूर्ति मेरे देखने में नहीं आई। परन्तु सारे तट पर, बहुत नीचे की ओर, शैव मन्दिरों की ही सारी कतार है, इससे प्रकट होता है कि एक समय शैवधर्म का बहुत प्रचार था।

शैव मन्दिरों की इस समय की दीवारों में, ताकों में तथा मन्दिरों के आंगनों में प्राचीन समय की त्रुटित या अत्रुटित चतुर्भुज, शंख-चक्र-गदा-पद्म-मणिधर विष्णु की अपूजित मूर्तियां दिखलाई पड़ती हैं। कुछ इसी ओर जैन-तीर्थंकरों या भगवान् बुद्ध की मूर्ति भी दिखलाई पड़ती हैं। इन अपूजित विष्णु-मूर्तियों की आकृति-कला तथा स्थिति देखते हुए स्पष्ट प्रकट होता है कि भड़ोंच में शैव धर्म का प्रचार होने से पहले इस नगर में वैष्णव धर्म का बहुत अधिक प्रचार था। यह वैष्णव धर्म साम्प्रदायिक नहीं,

वरन् पौराणिक था, मूर्तियाँ देखने से यह स्पष्ट प्रकट हो जाता हो जाता है। और इससे भी प्राचीन काल में बौद्ध और जैनधर्म का प्रचार हो गया।

शैवमूर्तियाँ देखते हुए, और लकुलेश की मूर्ति नहीं है इस पर से, २ से ११ वीं सदी में, जब सोमनाथ में पाशुपत मत का प्रबल आधिपत्य था तब नहीं परन्तु कुछ पीछे, भड़ोंच में शैव धर्म आया मालूम होता है।[1] इससे पहले वैष्णव धर्म का प्राबल्य रहा होगा। शुक्लतीर्थ के ओंकारेश्वर-मन्दिर की आदिनारायण की मूर्ति भी उपर्युक्त अनुमान को सहारा देती है। बौद्ध और जैन धर्म का जोर वल्लभी राज्यकाल में होना चाहिए।

अभी सब मन्दिर बारीकी से नहीं देखे। इस समय के मन्दिरों के आंगनों में ठीक ढंग से खुदाई करके खोजबीन की जाय तो कुछ नई प्राचीन वस्तुएँ मिल सकती हैं। परन्तु वर्तमान परिस्थिति पर से इतना स्पष्ट दिखलाई पड़ता है कि पहले वैष्णव मन्दिर थे। कालक्रम से उनके प्रति भक्ति न रहने या अन्य कारणों से वे मन्दिर छिन्न-भिन्न हो गए और उनकी मूर्तियाँ वहीं दब गईं। बाद में शैवधर्म के प्राबल्य के समय उस जगह या उसके निकट नया शिव-मन्दिर बनने पर, नींव खोदते हुए जो विष्णु-मूर्तियाँ मिलीं, वे आँगन में आधी गड़ी हुई रखकर दीवार में चुन दी गईं, या ताक में शोभा के लिए रख दी गईं। ऐसी अपूजित मूर्तियों की संख्या खासी है। इन मूर्तियों के फोटो लेकर अध्ययन किया जाय तो सारे नगर के और किसी अंश में लाट की धार्मिक कला के इतिहास का एक सुन्दर अध्याय लिखा जा सके।

ताम्रपत्रों, साहित्य, विदेशी पुरातत्त्वविदों की टिप्पणियों आदि प्रसिद्ध साधनों में यह इतिहास नहीं है।

---

१. मत्स्यपुराण के अनुसार तो समस्त रेखा-तट शैव मन्दिरों से भरा हुआ था।—क० मु०

आचार्य से पत्र-व्यवहार होता ही रहता था, पर अंग्रेजी में। जब यूरोप के भ्रमण की 'बिनजवाबदार कहानी' (अनुत्तरदायित्वपूर्ण कहानी) 'गुजरात' में प्रकाशित होने लगी, तब उन्होंने लिखा —

'गुजरात' में तुमने अन्त में जो लिखना शुरू किया है, उससे मैं बहुत खुश हुआ। रूसो के समय से आत्म-कथन का आरम्भ हुआ है। अपने आचरण की स्वीकृति मनुष्य को बहुत अच्छी लगती है। इसीलिए तो ईसाई धर्म के पोप जैसे मनोविज्ञान के ज्ञाताओं ने इसे धर्म का अंग बना लिया है। इससे हृदय की आवश्यकता पूर्ण होती है और 'चर्च' और उसके अनुयायियों के बीच एक रहस्यमय गाँठ बँध जाती है। मूर्ति-भंजक प्रोटेस्टेंटों ने भावनाओं से दूर रहने के लिए यह मार्ग नहीं ग्रहण किया, किन्तु इससे कम भयंकर मार्ग खोज निकाला और वह है दुनिया को आत्म-कथा सुनाना। इससे मनुष्यों में बुद्धि, शक्ति और धन समान भाग में विभाजित नहीं हुए—यह चुभन दूर हो गई। नीच-से-नीच मनुष्य आत्म-कथाएँ पढ़ते हुए 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का स्वाद चख सकता है; उसे लगता है महापुरुष भी एक ही मिट्टी के बने हैं। इस प्रकार की प्रकट आत्म-कथा का अन्तिम नमूना मारगोट एस्क्वथ ने दिया है। उसे ऐसा लगता रहा कि महान् प्रधान मंत्री [1] केवल मारगोट के पति के रूप में क्यों नहीं परिचित हुए? उसके एक आदरणीय की भाँति उनकी महत्ता क्यों लुट गई है? उसकी आत्मकथा पढ़ने पर ऐसा भास होने लगता है।

तुम्हारी अनुत्तरदायित्वपूर्ण आत्मकथाएँ गुजराती साहित्य में एक नया रूप खड़ा करती हैं। परन्तु इतना छोटा सा प्रसंग तुमने लिया है कि उसमें रसमय वस्तु अधिक नहीं मिल सकती, यद्यपि व्यक्तिगत दृष्टि से पढ़ते हुए मैं मुग्ध हो गया हूँ। साहित्य की दृष्टि से साधारण-से-साधारण वस्तु को भी तुम सरस बना सकते हो।

1. मि० एस्क्वथ।

सरस साहित्य का यह प्राण है। देखना है, अगली बार क्या-क्या आता है।

परन्तु तुम्हारा उपन्यास 'राजाधिराज' तो महाकाव्य है। देशी राज्य में तुम नहीं रहे, परन्तु तुमने सिद्धराज में जैसा प्राण फूँका है, उसके आगे इस समय के राजा-महाराजा केवल विनोद-चित्र—कार्टून—से मालूम होते हैं। परन्तु तुमने लीला देवी के साथ अन्याय किया है, यद्यपि उसके प्रति तुम्हारा पक्षपात अवश्य प्रकट होता है। आगे चलकर यह मुंज को मोह में डालने वाली[1] (मैं नाम भूल गया हूँ) जैसी निकले तो आश्चर्य न होगा। महत्त्वाकांक्षा और आगे बढ़ने की चाह के सिवा, नरमी तो कहीं जरा भी नहीं दिखलाई पड़ती। धीरे-धीरे गुजराती साहित्य मातृमूलक संस्कृति की ओर बढ़ता जाता है। स्त्री ही सर्वोपरि होकर विहार करती है। पुरुष को उसने अपने रथ में जोत दिया है, मानो एक नये प्रकार का गुलामी 'याहू'। हम धीरे-धीरे जंगली दशा में आते जा रहे हैं। परन्तु इन विचारों को तुम प्रत्याघाती कहोगे।

इसका जवाब मैंने दिया—

भ्रमण के संस्मरणों के प्रति आपका आशीर्वाद मिला, यह देखकर बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ। मैं महान् रूसो के या गरीब बेचारी मारगोट एस्क्विथ के चरण-चिह्नों पर चलना चाहता हूँ, इस प्रकार मेरी व्यर्थ की प्रशंसा न कीजिए। मैं पश्चाताप करने वाले पापी की मनोदशा का अनुभव नहीं करता। मैं पापी नहीं हूँ और पश्चाताप भी नहीं करता। इसलिए मुझे पुराने या नये ढंग से स्वीकृत करने की आवश्यकता नहीं है। हमारे जैसे गरीबों के लिए—जो नीतिज्ञता के द्वारा बुद्धिमान्, मौन और परिपक्व नहीं हुए हैं, उनके लिए कथन जीवन का मौलिक नियम है। अनुभव करना अर्थात् कह डालना ही हमारा धर्म है। और हमारे कथन की

1. मृणालवती—"पृथ्वीवल्लभ।"

प्रतिध्वनि प्रशान्त हुए हृदयों पर पड़ेगी और उनमें जीवन का प्रेम जागृत करेगी।

बेचारी मारगोट के प्रति आपने अन्याय किया है। उसकी पति-भक्ति और उसके पति के विचार, ऊर्मि और भावनाओं सहित साधित तादात्म्य, उसके प्रत्येक पृष्ठ से टपकता है। और आज की दुनिया में जब बुद्धिमान् स्त्री-पुरुष भव्य एकाकीपन में एक-दूसरे का सहचार करते हुए हृदयहीन स्वातन्त्र्य में जीना चाहते हैं, तब ऐसी स्त्री अद्भुत कही जा सकती है।

ऐसी बुद्धि, स्वतन्त्र जोश, ऐसा मिज़ाज और दृढ़ आत्म-केन्द्रीयता होते हुए भी यह 'मेरे हेनरी' के साथ एकाकार होने को जीना चाहती है। यह मा० प्रधान मन्त्री को रथ में जोतना नहीं चाहती। ऐसी अभिमानिनी स्त्री पति के जीवन में मिल जाना चाहती है।

'सिद्धराज' आपको अच्छा लगा, यह मुझे भी अच्छा लगा। इसे चित्रित करते हुए मैं कुछ क्षोभ अनुभव कर रहा था। दन्तकथा के ढेर में से इसे अलग निकालना और मध्यकालीन गुजरात के विक्रमादित्य की भव्यता से उसे सजाना बड़ा कठिन कार्य है। लीलादेवी मृणाल नहीं; उसे ऐसा मान लेना आपकी भूल है। यह हिम के समान शीतल और महत्त्वाकांक्षिणी है, स्पष्टदर्शिनी और अटल है। मृणाल महत्त्वाकांक्षिणी और शक्तिशालिनी है; परन्तु कठोर तपश्चर्या के स्वांग में उसकी उर्मिलता खलबलाती रहती है। काठियावाड़ी राजपरिवारों में ऐसी लीलादेवी अवश्य मिलेंगी। मेरी कल्पना की सन्तानें मुझे सभी प्रिय हैं। परन्तु सिद्धराज की रानी के प्रति मेरा पक्षपात नहीं है। यदि मुझे अपनी किन्हीं नायिकाओं के प्रति विशेष प्रीति है, तो वे हैं—'तनमन' और 'मंजरी'।

आपके ऐसी प्रौढ़ वयस के मानव ने ऐसी दृष्टि कैसे बनाई यह

मेरी समझ में नहीं आता। मैं मातृमूलक संस्कृति की ओर जा रहा हूँ, यह आपका भ्रम है। जहाँ आर्य रुधिर या आर्य-संस्कार हों, वहाँ पितृमूलक संस्कृति ही रहेगी। यदि मैंने मृणाल को लीलादेवी बनाया, तो काक को पृथ्वीवल्लभ भी बनाया है। परन्तु मैं यह नहीं मानता कि वृक्ष से लिपटी हुई बेल के नाजुक होने से ही वृक्ष का बल मालूम हो सकता है। शक्तिशाली स्त्री से सहचार रहने से पुरुष गुलामी 'याहू' बन जाय, यह भी मैं नहीं मानता।

मैं आगामी श्रावण में 'पुरंदर पराजय' जैसा दूसरा धड़ाका कर रहा हूँ। इसे पढ़कर लोग कहेंगे कि मेरा पतन पूर्णरूपेण हो गया। मेरे लिए कुछ प्रार्थना करना; आशा है, इस पत्र से आपको मजा आएगा और मेरे दोष-दर्शन का आपका जोर बढ़ेगा।" (४-८-२३)

ता० २-८-२३ को प्राणलाल देसाई ने लिखा—

"कल 'साहित्य' के पन्ने उलट रहा था; उसमें ना० व० ठाकुर का पत्र पढ़ा। उसमें यह बात उन्होंने फिर लिखी है—बहुत से लेखक का पेशा करने वाले अभी-कभी संघटित हुए हैं; और यह बताना चाहता है कि तुम्हा साहित्य-सिद्धियाँ निर्जीव हैं। गालियाँ भी देते हैं। झूठ भी अनेक बार, कहा जाय, तो कोई मान ले सकता है...इसलिए इस आक्षेप का प्रकट विरोध मैं करना चाहता हूँ....तुम्हें उचित प्रतीत हो तो मैं लिखूँ.. दो ही बातों का मुझे डर है। विस्तार से चर्चा चलाने की मुझे फुरसत नहीं; और इस कारण तुम्हारे या डूमा के प्रति मैं न्याय न कर सकूँगा।"

मैंने उत्तर लिखा—

"लेख और व्याख्यान देने का समय निकालोगे, तो मैं आभारी हूँगा। 'साहित्य' का लेख पढ़ने के बाद छपवाने के लिए नहीं, परन्तु जानकारी के लिए मैंने कुछ टिप्पणियाँ तैयार की थीं, जिसमें मैंने बताया था कि डूमा का ऋण कितना और कैसा है। इस पत्र के साथ उसकी प्रतिलिपि भेज रहा हूँ। जिस साहित्य-स्वामी से मैं मुग्ध था, उसकी कृतियों और

अपनी कृतियों का मूल्यांकन करता हूँ, इसलिए मेरी दृष्टि सच्ची भी नहीं हो सकती और अविकारी भी नहीं हो सकती। उपयोगी न हो, पर रस तो अवश्य मिलेगा।''

उस समय के कुछ पत्र बचाये हैं, वे मेरे साहित्यिक प्रभाव का आभास देते हैं। कुछ 'पेशेवर साहित्यकारों' ने एक गप छोड़ना शुरू की कि मेरी कहानियाँ डूमा की कहानियों का अनुवाद हैं। उन्होंने डूमा की कहानियाँ पढ़ीं भी कि नहीं, इसमें मुझे सन्देह था। कारण कि 'राजाधिराज' की 'क्वीन्स नेकलेस' से तुलना की गई। अहमदाबाद में इस पर बहुत चर्चा हुई। शंकरलाल ने अहमदाबाद से लिखा कि मैं इतिहास क्यों नहीं लिखता, इसके लिए बहुत लोगों को चिन्ता हो गई है।'' अहमदाबाद में आम सभा में एक व्याख्याता ने कहा कि 'तुमसे चिपटी हुई 'माशूका' (प्रेमिका) के कारण तुम गुजरात के इतिहास का काम नहीं करते। 'माशूक' यानी वकालत।' एक मित्र ने कहा कि मुझे कहानी-उपन्यास लिखना छोड़कर इतिहास और व्याकरण का काम उठा लेना चाहिए।

कवि नानालाल मुझ पर क्यों कुपित हो गए, यह मैं पहले लिख गया हूँ। जिन 'लीला बहन' ने उनका अपमान किया था, उनका मैं मित्र था, इस अक्षम्य अपराध के कारण वह गुस्सा थे। 'गुजरात' में छप रहे मेरे 'अविभक्त आत्मा' में उन्होंने स्पष्टतया 'जयाजयन्त' की नकारात्मक दृष्टि का खण्डन देखा। इसी समय मनहरराम ने उनसे प्रार्थना की कि उनकी 'नूरजहाँ' साहित्य प्रकाशक कम्पनी को प्रकाशित करने के लिए दे दी जाय। जवाब मिला—

हरी भाई की बाड़ी,
अहमदाबाद।

''भाई श्री, ता० १६–६–२२ ई०

पत्र मिला। प्रसन्नता हुई। आज मि० मुन्शी का भाषण (गुजरात-एक सांस्कारिक व्यक्ति) मिला। पहुँच दीजिएगा।

किसी ने गप हाँकी है। 'नूरजहाँ' छपाने के लिए मैं बाजार में नहीं

घूमता। मेरा प्रकाशक निश्चित है। कुछ वर्षों से 'नूरजहाँ' के लिए प्रेस और प्रतियाँ भी निश्चित हो गई हैं। केवल मैं अभी तैयार नहीं हूँ—छपवाने के लिए। काव्य का कुछ अंश भेजूँगा।

मुन्शीजी ने यह क्या भविष्य गढ़ना शुरू किया है? इतिहास को चौपट किया और अब पुराण-कथा को भी बिगाड़ने बैठे हैं? अपने २०वीं सदी के अनुभव या कल्पनाओं को अंकित करने के लिए १३वीं सदी या सं० ५००० ईसवी का आश्रय क्यों खोजते हैं? और बिगाड़ते हैं? पारसी या मुसलमान धर्मशास्त्र को इस प्रकार छेड़ें तब? सावित्री और अरुन्धती को—बीसवीं सदी की स्त्रियों का चित्रण करने के लिए—क्यों अपवित्र करते हैं? हमारे वसिष्ठ ऋषि को ज्यों उन्होंने लिया है, त्यों उनके भृगु ऋषि को कोई ले तब? इस प्रकार गालियाँ खाना और खिलाना है। हद हो गई!

ना० द० कवि का श्रीहरि"

कथाकार या तो इतिहास की सामग्री रचे या पात्रों को निष्प्राण करे या सजीव मनुष्यों को इतिहास के कठघरे में विघ दे। मनुष्यों की सनातन मानवता पर ही जीवित पात्र सर्जित किये जा सकते हैं। विगत काल के पात्रों के वर्णन से उपन्यास नहीं लिखा जा सकता। परन्तु जीवित व्यक्तित्व-निरूपण के यह रहस्य नानालाल की दृष्टि-सीमा से बाहर थे।

'गुजरात' के श्रावण-अंक में 'तर्पण' लिखा। इसकी अद्भुत कथा मेरे अनुभवों में से उद्भूत हुई, यही क्यों न कहा जाय?

अष्टिमी पर संसद् का दूसरा वार्षिक उत्सव हुआ (१९२४)। उसमें मैंने आरम्भिक भाषण किया—"जीवन का उल्लास: अर्वाचीन साहित्य का प्रधान स्वर।" जैसा पिछले वर्ष 'गुजरात की अस्मिता' का असर हुआ था, वैसा ही इस व्याख्यान का हुआ।

'गुजरात' के चैत्र १९८१ (अप्रैल १९२५) के नये वर्ष के अंक से मैंने अपना तीसरा सामाजिक उपन्यास 'स्वप्नद्रष्टा'—श्री अरविन्द घोष की प्रेरणा से जीवन-महल रचने वाले सुदर्शन की कथा—को शुरू किया।

गुजरात का ऐतिहासिक उपन्यास लिखते हुए मैं ऊब-सा गया था। भूमिका में मैंने लिखा—

"इस उपन्यास में किसी राजनीतिक विचार का खण्डन या मण्डन करने का मेरा इरादा नहीं है। वर्तमान राजनीतिक प्रवृत्ति के साथ मेरा जरा भी व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं रह गया है और उसकी लहराती तरंगों को उपन्यास में जड़ने का भी मेरा विचार नहीं है। स्थापित शासन-चक्र और उसे बदलने की इच्छा वाली प्रवृत्ति की बजाय इन दोनों के साथ रहने वाली मनोवृत्ति और भावना कला की दृष्टि से अधिक मनोमोहक है।"

इस प्रकार मैं कला को राजनीति से अलग भूमिका पर रख रहा हूँ। यह सर्जनात्मक साहित्य सम्राज्ञी है, यह राजनीति की दासी बन जाय, तो आत्मा की अधोगति ही हो जाय।

'स्वप्नद्रष्टा' में बंग-भंग के समय के बड़ोदा कॉलेज के और सूरत कांग्रेस के अपने संस्मरणों को गुम्फित किया है। सुदर्शन का बाल्यकाल और मनोविकास मेरे अपने ही हैं। अनायास यह पुस्तक १६०१-१६०७ तक पनप रहे संस्कारशील मानस का इतिहास बन गया।

"मेरे पूर्वज निर्बल, मेरा देश दरिद्र, मेरा इतिहास डरपोक, मेरा संसार संकुचित, मेरी जाति छोटी-सी, मेरे पिता नौकर, मेरे सम्बन्धी कुत्ते, मैं रतनबाई [1] हूँ। मैं लड़ नहीं सकता, मैं सगर नहीं बन सकता, मैं विश्वामित्र नहीं बन सकता, मैं कुँआरा नहीं रह सकता, मैं सुमन से शादी नहीं कर सकता! मैं-मैं-मैं कुछ भी नहीं कर सकता, सब ने मेरे लिए सब कुछ तैयार कर रखा और मैं सबके पैर चाटकर जीवन पूरा करूँ। मैं नहीं करूँगा! मेरा कोई नहीं है, मेरे पूर्वज नहीं है, बाप नहीं है, माँ नहीं है, स्त्री नहीं है, मैं ब्राह्मण नहीं हूँ, मैं 'भारतीय नहीं हूँ। नहीं। नहीं—नहीं मैं मैं ही हूँ। मैं किसी का बनाया स्वीकृत नहीं करूँगा। मैं सब-कुछ तोड़ डालूँगा। मुझे चारों ओर से कुचलना शुरू कर

१. नचाने वाले मदारी की बन्दरिया।

दिया गया है; पर मैं नहीं कुचला जाऊँगा। मैं सर्जन तो नहीं कर सकूँगा, पर तोड़-फोड़ अवश्य कर सकूँगा। मैं किसी का बँधा नहीं हूँ। मैं मर भले ही जाऊँ; पर तोड़-फोड़ कर मैदान बना लूँगा।"

इन शब्दों में, इस युग में गर्भस्थ विल्पवाद को मैंने शब्द-आकार दिया, और विप्लववादी युवक के ध्येय का वर्णन किया—

'एक निरीश्वर, आत्मा-विहीन, राजा और गुरु से हीन सत्ता को असमानताहीन सृष्टि······जहाँ आधिपत्य था केवल अपने आदर्श का, नियम था केवल अपने संस्कार का, बंधन था केवल अपने स्नेह का···जहाँ मनुष्य था अपने जीवन का स्वाधीन और स्वतंत्र निर्माता और अधिष्ठाता।"

यह भी एक समय के मेरे आदर्शों का चित्र है। फिर दीन भारतवर्ष की ऐतिहासिक महत्ता और दीनता का मेरा दृश्यावलोकन 'भारतीनी आत्मकथा' में वर्णित किया है—

"उनके (अंग्रेज़ों के) खयाल से मैं महादेवी नहीं थी, न अन्तःपुर का सौंदर्य ही थी। मैं थी केवल एक काम करने वाली लौंडी। मेरी समृद्धि उनके सदन को सुसज्जित करने को गई। मेरे पुत्र उनकी सेवा करने में लगे। और मैं आर्य-जननी, जिसके उद्धार के लिए द्वैपायन जैसे ज्ञानी और कौटिल्य जैसे राजनीतिज्ञ मर मिटे थे, वह दासों-की-दास बन रही।"

मेरी कल्पना भारतमाता के प्राण को पहचानने का प्रयत्न करने लगी—

"जहाँ प्रतिपल जीवन का रस मालूम हो—जहाँ प्राप्ति, कर्तव्य और उपभोग में ही पल-पल की तपस्या समाप्त होती प्रतीत हो, जहाँ प्रफुल्ल शक्ति का निष्काम आविर्भाव मालूम हो, वहाँ मिलेंगे मेरे प्राण।"

इसके बाद प्रोफेसर अरविन्द का असर, बम बनाने की तैयारी और सूरत

कांग्रेस के तूफान के वर्णन में उस समय के अनुभव आ जाते हैं। परन्तु इन सब में केवल भावोद्रेक—प्रो० कापड़िया के शब्दों में—'दूध का उफान'—मुझे दिखाई पड़ने लगा था। मैंने ऐतिहासिक एवं वास्तविक दृष्टि बनाना शुरू किया। परन्तु यह गान्धी-युग का आरम्भ था। वह करे सो ही ठीक। चुटकियों में स्वराज्य ले लेने की बातें होती थीं। प्रो० कापड़िया के शब्दों में मैंने भारत के भविष्य की रूपरेखा बनाई—

> "एक—अगणित पंथों को भूलकर राष्ट्रधर्म स्वीकृत कर लेने में कितने वर्ष लगेंगे ? दो—जुदा-जुदा भाषाएँ भूलकर एक भाषा कितने वर्षों में आयेगी ? तीन—देशी राज्यों को नष्ट करके राजकीय एकता कितने वर्षों में आयेगी ? जो यह तीन वस्तुएँ आयें, तब सम्पूर्ण राष्ट्रीयता विकसित हो।"

प्रो० कापड़िया की दृष्टि मेरी दृष्टि थी—ऐतिहासिक। प्रो० कापड़िया कहते हैं—'ऐतिहासिक दृष्टि बनाओ···Pax Romana की तरह Pax Brittanica, यानी व्यवस्थित स्वार्थ। और वे ऐतिहासिक सूचना करते हैं—

> "अनेक राष्ट्रसंघ बनते जा रहे हैं। इनमें से एक भी बन गया, तो ब्रिटिश साम्राज्य के साथ भटक जायगा।—और ऐसे समय भारत की सीमा, यदि समरांगण बन जाय, तो भारत को सज्जित किये बिना इंग्लैंड का निस्तार नहीं है। विज्ञान के साधन, विनाशक शस्त्र सब यहाँ लाकर, इन करोड़ों भारतीयों को कोल्हू में पेरने के लिए, दस वर्षों के लिए लगा दें, तो इस युद्ध के अन्त में भारत प्रतापशाली राष्ट्रीयता या राष्ट्रसंघ की भावना का प्रतिनिधि बन जाय। परन्तु वह दिन कब कि 'मियाँ के पैरों में जूतियाँ ?' "

प्रो० कापड़िया की सन् १६२५ वाली ऐतिहासिक दृष्टि सच साबित हुई। दूसरा विश्व-युद्ध आया। लाखों भारतीय सैनिक वेश में सज्जित हुए, और भारतीय स्वातंत्र्य उपस्थित हुआ। कापड़िया की कल्पित राष्ट्रीयता प्रकट

न हुई, इसका दोष ऐतिहासिक दृष्टि का नहीं है।

लीला भी 'गुजरात' के प्रत्येक अंक में कहानी लिखा करती थी। उसने भी स्त्री-स्वातंत्र्य का उद्भव और मर्यादा प्रदर्शित करने वाला लेख लिखा।

> कुछ लोग कहते हैं कि आधुनिक जगत् का लक्षण मुद्रण-कला है......परन्तु इस युग का प्रधान लक्षण, स्त्रियों के स्वतंत्र व्यक्तित्व के स्वीकार को ही माना जा सकता है।

उसने इसी लेख में लिखा—

> 'कल की रचना' रचने में अकेला पुरुष ही स्रष्टा का स्थान नहीं ग्रहण कर सकता, बल्कि दोनों के व्यक्तित्व के एकीकरण से निर्मित एक नया ही बल इस सृष्टि का सर्जन करेगा।
>
> इससे पुरुष का पुरष रूप नहीं मिटेगा और स्त्री का स्त्रीत्व लुप्त नहीं होगा...इससे आएगा केवल एक निर्मल और सुखकर साम्राज्य, संकोचरहित विश्वास और समानता की भावना।[1]

लीला की कहानियों में, भयंकर वास्तविकता में श्रेष्ठ, मैं "वनमाला की डायरी" समझता हूँ। इस कहानी ने नया पथ बनाने का प्रयत्न किया। परन्तु उस पथ पर अधिक गाड़ियाँ नहीं चलीं।

सन् १९२५ की १६ अगस्त के दिन कृष्णजयन्ती के निमित्त संसद का तीसरा वार्षिक उत्सव हुआ। गुजराती 'रचना' एक समान करने के विषय में संसद का निवेदन उपस्थित हुआ। और मैंने अपना आरम्भिक भाषण— "अर्वाचीन साहित्य का प्रधान स्वर: जीवन का उल्लास—" दिया, एवं अपने साहित्यिक मन्तव्यों का प्रतिपादन भी।

'परजन्म का स्नेह भुलाकर, इस जन्म के प्रति आकर्षण' की विशिष्टता, वर्तमान काल के सारे साहित्य में तुरन्त दिखलाई पड़ती है। इन सब साहित्य महारथियों (मध्यकालीन) की दृष्टि, इस प्रकार मृत्यु पर— जीवन के अभाव पर—क्षणिक माने जाने वाले आनन्दों के विध्वंस पर

---

१. स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व की स्वीकृति।

चिपटी थी···इसके परिणामस्वरूप मानवता का उद्देश्य या तो अप्राप्य साधुता, निर्माल्य निर्दोषता, या बुद्धिमत्तापूर्ण कायरता हो रहा; और प्रभाव, सत्ता और स्वास्थ्य की धुन जीवन जीते हुए ही आती है—यह बात उन्हें असम्भव लगी।

इन सबको मैंने मौत का पैग़म्बर कहा—

"आधुनिक साहित्य मृत्यु देखकर नहीं घबराता, बल्कि उसे जीवन का एक उल्लास बना देता है।"

मौत के पैगम्बरों द्वारा रचित साहित्य का दूसरा लक्षण है 'नारी प्रत्यक्ष राक्षसी' सूत्र में आने वाला।

"परन्तु जीवन के रसिया अर्वाचीनों (साहित्यकारों) ने स्त्री में भावनात्मक अपूर्वता देखने के लिए वृन्दावन जाने से इन्कार कर दिया। उन्होंने घर में ही गोकुल देखने का प्रयत्न किया। स्त्रियों में अपूर्वता देखते हुए उन्होंने उन्हें देवियों का स्थान दिया और क्षुद्र माने जाने वाले आकर्षण और भावना के रंग से रंगा और सरसता के सर्वोत्कृष्ट शिखर पर बिठाया।"

"स्त्री अब आधुनिक (साहित्य में) 'जंजाल' या 'त्रिया' नहीं है; एवं वह 'सनम' या 'सुन्दरी', 'रमणी' या 'कामिनी' भी नहीं है। वह 'रसधर्म वरण करने वाली' है। देवी है। प्रेमाग्निहोत्र पथ में सहधर्मचारिणी है। 'रसमय करने वाली मधुमक्षिका' है। 'प्राणेश्वरी, व्रतिनी जीवनसाथिनी' है। 'जीवन सखी', 'जीवनभागिनी', 'सखी', 'प्रिय सखी' और 'अर्धात्मा' है।"

गांधीजी और उनके अनुयायियों के साहित्य के बीच मुझे जो अन्तर दिखाई पड़ा, उसका वर्णन भी मैंने मुक्तकण्ठ से किया। किशोरलाल का सूत्र —'युवावस्था के उफान में पोषित अनेक सुखों और भोगों की आशाओं को निष्ठुरता से भंग कर देने में ही हमारा पुरुषार्थ है, उन्हें पोषित करने में नहीं'—मुझे क्रूर और घातक मालूम हुआ। गांधीजी में भी स्वस्थता और प्रभाव, इन दो लक्षणों ने मुझे आकर्षित किया।

"गांधीजी जीते हैं और कहते हैं केवल स्वस्थ और प्रभावशाली मानवता का आदर्श। इस आदर्श में हिमालय की अचलता है। सागर की स्वस्थता—गहनता—है, और प्रायः पुष्प की सुकुमारता भी मालूम होती है। इनकी कृतियों में परजन्म की परवाह नहीं है, इनमें मृत्यु का भय नहीं है। इनमें वृत्तियों को दागने की उत्कण्ठा नहीं है। इनमें संसार में से भावनात्मक अपूर्वता ले लेने का उद्देश्य नहीं है।"

"इस प्रकार आधुनिक गुजराती साहित्य का प्रधान स्वर—जीवन का उल्लास—आत्मसिद्धि और ऐक्य के परों पर बैठकर भावना के आकाश में अपूर्वता खोजता हुआ घूमता-फिरता है; और शक्ति, सुख, सुन्दरता और प्रेम के बीज दशों दिशाओं में बिखेरता जाता है। इस उल्लास को केवल मौत की सीमा है। मौत के उस पार की उसे परवाह नहीं है। कारण कि इस पर स्वर्ग रचने में उसे श्रद्धा है और जीवन जीने में उसे पाप नहीं मालूम होता। उसे नियमन केवल भावना का ही है। वह उल्लास को क्षुद्र होने से रोकता है और उल्लास से अरुचि नहीं होने देता। भावना ही उल्लास को सूक्ष्म रखती है और न मरने या लौटने वाले आत्मा को उसमें सर्जित करके अपूर्वता में निहित अक्षय आनन्द का आस्वादन करती है।"

इस प्रकार मेरा जीवन-मन्त्र धीरे-धीरे स्पष्ट रूप धारण करता जाता है।

'गुजरात' नये-नये लेखों और चित्रों से आकर्षक बन रहा था। आज भी उन अंकों को पढ़कर आनन्द लिया जा सकता है। बटुभाई ने 'सुन्दर राम त्रिपाठी' के उपनाम से 'हमारे कुछ महान् पुरुष' नामक तीखी और तमतमाती लेखमाला लिखी। प्रथम लेख में उन्होंने प्रचलित गांधी-भक्ति पर चोट करने वाले ढंग से, गांधीजी के चारित्र्य का विश्लेषण किया। नानालाल और आनन्दशंकर के विषय में भी उन्होंने कड़ी बातें लिखीं। मुझे भी फटकार दिखाई, परन्तु मेरे लक्षणों का कुछ मूल्यांकन किया—"मुन्शी संयोगों की सीमाओं को कहाँ तक पार कर सकते हैं, यह देखना है। और इससे गुजरात को अच्छा ही फल प्राप्त होगा, यह नहीं कहा जा सकता।" यह लेखमाला मुझे अनिच्छापूर्वक स्वीकृत करनी पड़ी; परन्तु

इसके कारण शत्रु बहुत बढ़ गए। कई लोगों ने यह मान लिया, कि यह लेखमाला मैंने लिखवाई है। परन्तु बटुभाई को कौन रोक सकता था? तथापि गुजराती गद्य में यह लेखमाला निरीक्षण-शक्ति और चौकस आक्षेपात्मक शैली का सुन्दर नमूना है। इसका कुछ भाग 'जूनियस' का स्मरण कराता है।

इस समय 'गुजरात' में, वर्षों से दबाकर रखी हुई नर्मद की सुरुचि-शोषक आत्म-कथा 'मारी हकीकत' (मेरी सच्ची बातें) मैंने प्रकाशित की। लीला के 'रेखाचित्रो' (रेखाचित्र) पुस्तक रूप में प्रकाशित हुए और इस पुस्तक ने गुजराती शैलीकारों में स्थान पाया। इस समय मेरे 'गुजरात के ज्योतिर्धर' ने बहुत ध्यान खींचा। उसमें केवल कल्पना-प्रधान चित्रात्मक वर्णनों से गुजरात के महापुरुषों का चल-चित्र दिया गया था। इस विशिष्ट, शब्द-वैभवशील मेरी शैली का स्वरूप धीमे-धीमे विकसित हो रहा था। श्री कृष्ण का शब्दचित्र यह है—

'और देवकी परमानन्द वासुदेव मेरी दृष्टि पर चढ़ते हैं—देवों से भी अधिक देदीप्यमान, और मल्लों से भी अधिक मजबूत। उनकी आँखों में दुष्टता की गहराई को ढकने वाला बुद्धि का तेज चमकता है, विलास की तरंगें नाचती हैं। गुजरात की तूफानी, विलासी और राजनीतिज्ञ प्रजा का प्राण—समस्त भारत को नचाता, मगध और आसाम को कँपाता, हस्तिनापुर के सिंहासन के साथ खेलता, पार्थ-द्रौपदी का सहचार प्राप्त करता और रुक्मिणी की आकांक्षा पूर्ण करता, पीताम्बर द्वारका की वैभव-भरी गलियों में विचरण करता मैं देखता हूँ। इसको देखना, यानी आकर्षित होना; आकर्षित होना, यानी प्रणिपात करना; प्रणिपात करना, यानी जीवनमुक्ति प्राप्त करना।"

हम सब गुजराती भाषा और साहित्य के कीर्तनकार हो गए थे, और हमें मनहरराम का कीर्तन प्राप्त हो गया। हमने उसे संसद् का संघगान बनाया। उसका हिन्दी-रूपान्तर इस प्रकार है—

गुर्जरी गीर्वाण का जय-कीर्तन

जय हो! जय हो!
जहाँ बसे
आर्य संस्कार का परिमल फैलाते हुए
परशु निज स्कंध पर धारण किये,
प्रलय कालाग्निसम अरिदल—दलनकारी
रुद्र-अवतार महावीर विप्रेन्द्र वे
राम भार्गव बड़े—
शत्रु को मारते, मित्र को तारते,
प्रेम औ' शौर्य का सूत्र स्वीकृत कराते,
कर्महीन जगत् को परमकर्तव्य निष्काम का पाठ पढ़ाते हुए
विष्णु के अंश योगीन्द्र गरुड़ध्वज
कृष्ण यादवपति—
रुधिरमय जगत् को मोक्ष का प्रेममय मार्ग दिखाते हुए
लोक-हित निरत औ' सत्यवचनी सदा,
औ' सत्य में अचल आग्रह रखते हुए
शत्रु या मित्र में, शूद्र या विप्र में
सभी में मानते हुए अद्भुत समानता,
सुव्रत, अजातशत्रु, सदा सौम्य वे
महात्मा गांधी उपनाम से, विश्व में परम विख्याति पाते हुए
ब्रह्म अवतार ब्रह्मर्षिवर,
मोहन महान् नर—
ऐसे यह
सुभट्ट सत्तम सहित
कुक्कुटध्वज साजित
सैन्य जिसकी अजित,
बर्बकरि जिष्णु भट्टार्क प्रौढ़ प्रतापी महा

पट्टनाधीश जयसिंह सिद्ध राजेन्द्र के
पुनीत गुजरात का।

सन् १६२५ और २६ में मैंने "गुजराती साहित्य—गुजरात की संस्कृति के शब्द-शरीर का दिग्दर्शन" की तैयारी करनी शुरू की। उस समय मुझे भान नहीं था, जो १६३० में आया, कि गुजराती के विद्वानों से सहकारी कृति लिखवाना खरगोश के सींग खोजने के समान बात थी।

इस पुस्तक को १५ खण्डों में तैयार करने का निश्चय किया और उसकी सामग्री इकट्ठी करने के लिए मैंने समय और धन, दोनों खर्च किये। नरसिंह-युग के लिए मणिलाल बकोरभाई को वैतनिक रूप में रख लिया और उनसे अप्रकट कृतियाँ इकट्ठी कराईं। उस पर से मैंने स्वतः 'नरसिंह-युग के कवि' तैयार किया। प्रथम खण्ड 'साहित्य और इतिहास' मैंने लिखना शुरू किया।

मैंने 'मध्यकालीन साहित्य-प्रवाह' नामक ५वें खण्ड की योजना की। और इस विषय के विशेषज्ञों को अलग-अलग भाग सौंपे, उनके घर जाकर उनसे विनती की, जोर डाला।

'भक्ति और गुजराती साहित्य' वाला भाग अम्बालाल ने लिखना स्वीकार किया। कोई दस बार उनकी सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ीं। वर्ष-भर का समय खो दिया और विवाह करके मसूरी की मौज लेते समय, इस खण्ड की तैयारी का काम मुझे ही करना पड़ा।

श्रावण १६८२—अगस्त १६२६—में इस पुस्तक को प्रकाशित करने का मैंने, परिषद् के समय, वचन दिया था। आखिर ज्यों-त्यों करके यह खण्ड प्रकाशित हुआ; और, दूसरों की खुशामद से गुजराती साहित्य प्रकाशित करने का प्रयोग मैंने छोड़ दिया।

'भक्ति और गुजराती-साहित्य' के लिए मैंने अध्ययन भी अच्छा किया; परन्तु शान्ति और समय के अभाव से, जैसा सोचा था वैसा अधिकृत लेखन न हो सका। इसमें नरसिंह मेहता के समय के प्रश्न पर मैंने पहली बार खोज-पड़ताल की। इसके बाद तो उस पर बहुत खोज हुई और अब

भी मैं मानता हूँ कि भविष्य में जब भी अध्ययनशील लोग इस पर खोज करेंगे, तब इसका काल पन्द्रहवीं शताब्दी के बीच नहीं रखेंगे।

५ सितम्बर सन् १९२६ के दिन संसद का चौथा वार्षिकोत्सव मनाया गया। मनहरराम ने अपनी हास-परिहासमयी शैली द्वारा वार्षिक विवरण में बहुत-कुछ कह डाला—"संसद को यश प्राप्त हुआ, और विरोधियों की ओर से इसे सर्टिफिकेट भी मिल गया कि संसद वाले सफल हो गए हैं।" मुझ पर मनमाने ढंग से काम लेने के आक्षेपों का इन्होंने बहुत ही चौकस उत्तर दिया—"संसद को लोगों की दृष्टि से गिराने के उद्देश्य से यह कहा जाता है कि संसद के अर्थ हैं मुन्शी; परन्तु जो सदस्य अपने प्रमुख के साथ निरन्तर कार्य करते हैं और उनके साथ सहयोग करते हुए जो स्वतन्त्रता और समानता तथा जो एकतानता का अनुभव प्राप्त करते हैं, वह वे ही कर सकते हैं, जिन्होंने ऐसा सहयोग रखा हो।"

संसद सभा नहीं थी, एक परिवार था। सदस्यों के बीच केवल साहित्य का सहचार नहीं था, बल्कि वे एक-दूसरे के थे और किसी स्वार्थ से प्रेरित नहीं थे। गुजरात को गढ़ने की ज्वलन्त प्रेरणा से सुदृढ़ बनी हुई हमारी यह एक सेना थी अपने मन से मैं सभी सदस्यों को स्वजन समझता था और उनके मन से मैं उनका था।

मनहरराम ने कहा—

"संसद के उद्देश्यों को पूर्ण करने के उनके अस्खलित प्रयत्नों में, विजय की माला ग्रहण करने में, या कोड़ों की मार खाने में, हम निरन्तर उनके साथ हैं।"

विजयराय ने 'कौमुदी सेवकगण' स्थापित करने का विचार प्रदर्शित किया था। इस विषय में उनके विचारों का अभिनन्दन करते हुए मनहरराम ने संसद के 'साहित्य सेवकगण' स्थापित करने के 'पुराना विचार' का उल्लेख किया और इसे लेकर विजयराय के साथ मुझे विवाद में पड़ना पड़ा।

विजयराय ने लेख लिखकर यह प्रकट किया कि यदि 'साहित्य सेवक-

गण' स्थापित करने का मूल विचार संसद का निकले, तो मैं सबके समक्ष अपना हाथ जला डालूँ। मैंने असल नक्शा और योजना,—जिसमें विजय-राय की झोंपड़ी का भी उल्लेख था—सहित सारी हकीकत प्रकाशित की और अशोभित दुष्टता से मैंने उसमें यह लिखा—'जब विजयराय अपना हाथ जलाने का आयोजन करें, तब मुझे बुलायेंगे, तो मैं अवश्य उप-स्थित होऊँगा।'

इस समय ज्योतीन्द्र दवे मेरे व्यक्तिगत सहायक के रूप में आये और दयाशंकर भट्ट 'गुजरात' के सम्पादक-मण्डल में शामिल हुए।

मैंने 'रसास्वाद का अधिकार' पर आरम्भिक शब्द कहे। 'प्रणालिका-वाद' तथा 'जीवन का उल्लास' मिलाकर तीनों में मेरे उस समय के साहित्य के आदर्शों का निरूपण आ जाता है। मैंने आलोचक और विवेचक की मर्यादाएँ बतलाईं। शिष्ट (Classical) और आनन्ददायी (Romantic) साहित्य-शैलियों का भेद बताया और वास्तविकता का विश्लेषण किया। नीतिपोषक साहित्य की विडम्बना भी की—

"जहाँ-जहाँ सरसता होती है, जहाँ-जहाँ सरसता से प्राप्त होने वाला आनन्द भोगा जाता है, वहाँ भावनात्मक अपूर्णता की पूजा, निर्मलता और उच्चाशय प्रेरित करते हैं। वहाँ क्षुद्रता का आकर्षण घट जाता है। वहाँ देश-काल के दूषण अदृष्ट हो जाते हैं और वहाँ ही मानवता का ईश्वरीय अंश, सत्यप्रियता और न्यायपूर्ण आचार मिलता है। कला और साहित्य की सरसता—सुन्दरता—का अध्ययन ही दैवी पद प्राप्त करने का बड़े-से-बड़ा साधन है।"

"कलाकार की रसवृत्ति से तादात्म्य करने पर ही उसकी सुन्दरता वास्त-विक रूप में मालूम होती है। यह तादात्म्य करना अभ्यास, परिश्रम और औदार्य का काम है।"

"साहित्य में सन्निहित आनन्दवाहिनी सुन्दरता सरसता का अन्वेषण और परीक्षण ही विवेचन है।"

"आनन्ददायी विवेचन का एक प्रकार तत्त्वदर्शी है और दूसरा रसदर्शी।

परन्तु अपूर्व प्रकार तो संस्कारात्मक विवेचन (Impressionalism) है। ऐसा विवेचन करते समय विवेचक, शास्त्रकार या तुलना करने वाला उत्क्रान्तिवादी या रसदर्शी नहीं बनता। वह कलाकार की भाँति ही कृति का रसिया हो बैठता है। उसके भाव को, ऊर्मि को, क्षण-भर के लिए अपना बनाकर उनसे तादात्म्य कर लेता है। उन्हें ध्येय समझकर समाधि की अवस्था भोगता है। इस प्रकार रसान्वेषण और रसदर्शन एक हो जाते हैं।"

मैंने अपनी साहित्य की अभिलाषा व्यक्त की।

"सर्वांगपूर्ण सुन्दरता निरंकुश होकर साम्राज्ञी के सिंहासन पर विराजती है। कला, साहित्य और जीवन को भावनात्मक अपूर्वता की प्रेरणा से उच्चाभिलाषी और विशुद्ध बनाए, सुन्दरता से निर्झरित आनन्द सुलभ होकर, इसी देह से, परमानन्द प्राप्त कराए—ऐसे स्वप्न देखने वाले कलाकारों के सन्देश से रसदर्शी विवेचक रसास्वाद को तुष्ट करेंगे, तभी शब्द-ब्रह्म का साक्षात्कार होगा। तब तक प्रत्येक रसिक को अपना रसास्वाद का अधिकार सुरक्षित रखते हुए मन्त्रद्रष्टा ऋषि शुनःशेप की तरह कहना पड़ेगा—

'यदुत्तमं मुमुग्धि नो विपाशं मध्यमं वृत।
अवाधमानि जीवसे।'

'हे वरुण, हमारा पाश ढीला करो, और मध्यम और अधम पाश तोड़ डालो कि जिससे हम जी सकें।'

अटपटा जीवन-युद्ध पूर्ण होते ही नये और विशाल दर्शन मुझे आकर्षित करने लगे। मेरी कल्पना भी वेद-काल-जैसी असीम सृष्टि में विहार करने को उत्सुक हो गई। मैंने 'तर्पण' लिखा।

आततायियों का सर्वव्यापी संहार करना ही योगबल से प्रचण्ड बने हुए व्यक्तित्व का स्वधर्म है। और इस परिस्थिति में हिंसा परम कर्तव्य बन जाती है। यही 'और्व' है।

'विनाशाय च दुष्कृताम्' यह प्रणय से पर और उच्चतम स्वधर्म है। यह सगरसुवर्णा की करुण कथा, अविभक्त आत्मा के दर्शन करने वाले के लिए नई लग सकती है, परन्तु सगरसुवर्णा में वसिष्ठ-अरुन्धती के आदर्श

के लिए प्राण-अर्पित करने का आर्यत्व नहीं है।

आर्यत्व क्या है?

आर्यत्व ही संस्कार-सत्र और मनुष्यों का उद्धार-मन्त्र है। इसके लिए प्राण देना ही मोक्ष का मार्ग है।

अपने हृदय-मन्थनों में से यह एक नया रत्न मुझे मिला।

'आर्यत्व कहाँ मिलेगा?'

शाण्डिल्य—वहाँ मिलेगा जहाँ सिंहासन में सत्य और सेनाओं में संयम मिले—जहाँ पुरुष में तप और स्त्री में सतीत्व मिले—जहाँ मुख-मुख मन्त्रोच्चार और यज्ञ-यज्ञ में पूज्यभाव मिले—जहाँ जनपद-जनपद में सुख और आश्रम-आश्रम में शान्ति मिले—जहाँ लोक-संग्रह सत्य और ऋत से परिसिंचित संस्कार पाये और ब्रह्मज्ञ नये तप से नये दर्शन करें।

आर्यावर्त कब दिखलाई पड़ता है? तब दिखलाई पड़ता है, जब पूर्वजों ने महर्षियों की पद-सेवा की हो, पिता ने पूर्वजों के संस्कार पूरे किये हों, और माता ने पिता की चादर बचाई हो।

राजा, जिसे आर्यावर्त दिखलाई पड़ता है उसे तेरे राज्य में मृत्यु के समान मोक्ष नहीं है। परन्तु याद रखना, मेरे मरण से आर्यावर्त अदृष्ट नहीं हो सकता...

ऋषियों का प्राण—वीरों का स्वर्ग—और आर्यों की आशा, ऐसा हमारा आर्यावर्त अतुल और अमर सदा ही फलेगा, फूलेगा। समझा राजन्!...वीतहव्य, तू स्वप्न है, आर्यावर्त सत्य और शाश्वत है।

इस प्रकार मेरे प्रणय-संवेग में मुझे सुन्दरता का दर्शन हुआ था। अविभक्त आत्मा सिद्ध करने के अनुभव से 'सुन्दरता' (Beauty) का स्वरूप और तृप्तिरहित आनन्द देने की इसकी विशिष्टता का मुझे जीवन में साक्षात्कार हुआ था।

पुरानी परिपाटी को तोड़कर मैंने हँसी में उड़ा दिया। धर्मान्धता, आडम्बर, तथा शिष्टाचार की व्यर्थ धारणाओं को मैंने तिरस्कृत किया।
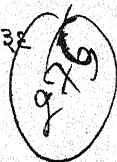
परन्तु जीवन में और साहित्य में मैं मूर्तिभंजक न बन सका।

गुजरात की अस्मिता का ध्वज मैंने अपने हाथों में लिया था; परन्तु जीवन का एक महान् युद्ध पूर्ण होने पर मैं एक नये ध्यान में खड़ा रह गया। गुजरात की अस्मिता क्या हुई? सुदृढ़ कैसे होगी? इसकी दिशा कौनसी है? इसका ध्येय क्या है?

जब मैंने भारत के भूतकाल का दर्शन किया, तो हृदय में जैसे मैं किसी देवता से प्रश्न करने लगा—भारत हजारों वर्ष कैसे टिका? इसकी संस्कृति के रहस्य क्या हैं? इसके सातत्य का क्या कारण है? भारतीय संस्कृति का मूल्य क्या है? और सब मूल्यों का अन्तिम मूल्य क्या है? सुन्दरता और मानवता एक ही हैं या भिन्न? और भिन्न हैं, तो उनका क्या सम्बन्ध है? इन प्रश्नों का उत्तर मैं पुस्तकें पढ़कर नहीं खोजता था। तत्त्वज्ञानी होने की शक्ति मुझमें नहीं थी। मैं खूब पढ़ता, परन्तु उसका उपयोग उतना ही था, जितना पुजारी द्वारा फूल का उपयोग।

मैं भूत और वर्तमान जीवन की मूक मूर्ति के सामने खड़ा रहकर अपने प्रश्नों के सृजनात्मक उत्तर माँगा करता था। मूर्ति मेरे निजी अनुभवों में से ही उत्तर को ध्वनित करती, और उसे मैं शब्दों में बुन लेता।

भारत माता की आकांक्षा—दुर्धर्ष मानवता। उसकी स्वतन्त्रता का मार्ग—शक्ति। जीवन की सार्थकता—उल्लास। इस उल्लास का मूल—सुन्दरता का अनुभव। यह अनुभव तभी होता है, जब बुद्धि, दृष्टि और परिपाटी का पाश छिन्न होता है। यह पाश छिन्न कैसे हो सकता है? 'बलमस्तु तेजः' वेदकाल से उत्तर मिला। 'प्रचण्ड व्यक्तित्व' के बिना यह नहीं हो सकता। प्रचण्ड व्यक्तित्व का मार्ग है—'आर्यत्व।'

'स्वप्नद्रष्टा' 'रसास्वाद का अधिकार' और 'तर्पण' इस प्रकार के स्वानुभव में से सर्जित हुए।

इस प्रकार प्राचीन परिपाटी—प्रणाली—का विध्वंसक मैं प्राचीन आर्यत्व की खोज में सनातन सत्य देखने का प्रयत्न करने लगा।